श्री विजयकुमार नटवरलाल छोटालाल सीरीज़ नं० २

※ वन्दे श्रीवीरमानन्दम् ※

जैनतत्त्वादर्श

भाग २

रचयिता

तपोगणगगनदिनमणि—न्यायांभोनिधि—जैनाचार्य
१००८ श्रीमद् विजयानन्दसूरीश्वर प्रसिद्धनाम
श्री आत्मारामजी महाराज

पञ्चमसंस्करण

प्रकाशक

श्री आत्मानन्द जैन सभा
४१ धनजी स्ट्रीट, बम्बई नं० ३

मूल्य ३—०—०

तपोगणगगनदिनमणि–न्यायांभोनिधि–जैनाचार्य १००८
श्रीमद् विजयानन्दसूरीश्वर प्रसिद्धनाम
श्री आत्मारामजी महाराज

किञ्चिद् वक्तव्य

"जैनतत्त्वादर्श' नामा हिंदी ग्रन्थना आ उत्तरार्ध याने भाग बीजाने लांबी प्रस्तावनानी अगत्य न ज होई शके; कारण के पूर्वार्ध याने भाग पहेलामां 'प्रासंगिक वक्तव्य'मां विनीत हंसयुगलनी कलमथी ए विस्तृतरूपे आलेखायेल छे. विशेषमां श्रीयुत् बनारसीदास जैने 'महाराज साहिब की भाषा'ना मथाळा हेठल केटलीक चोखवट पण करेली छे. मुंबईमां स्थापन थयेल श्री आत्मानंद जैन सभाए आ ग्रन्थ श्रीविजय-कुमार नटवरलाल छोटालाल सीरीझमां छापवानो निर्णय कर्यो ए संबंधी वात, तेम ज सभा द्वारा थयेली कार्यवाहीनो आछो ख्याल, पण 'प्रकाशक का निवेदन' मथाळा हेठळ आपी दीधेल छे.

न्यायांभोनिधि जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंदसूरि(आत्मा-रामजी)महाराजना नामथी जैन-जैनेतर जनता अजाण नथी. आपणा युगनी नजिकमां थयेल ए महापुरुष भारे प्रतिभाशाळी, दीर्घदर्शी अने क्रान्तिकारी हता. तेओश्रीना गुणोथी आकर्षाईने ज, तेमना गुरु, तेम ज वडिल गुरुभाईओ होवा छतां, ए महात्माओनी भलामणथी भारतवर्षना सकळ संघे पवित्र एवा श्री सिद्धक्षेत्र महातीर्थनी शीतळ छायामां तेमने आचार्य पदवी अर्पण करेली. हाल जेने राष्ट्रभाषानुं गौरव प्राप्त थयेल छे एवी आमजनसमूहने भोग्य हिंदी भाषामां ग्रंथो लखवानी तेओश्रीए ज पहेल करेली. वळी अमेरिकाना चिकागो शहेरमां

सर्व धर्म परिषदना समये तेओश्रीए ज लांबी नजर दोडावी जैनधर्म जेवा शाश्वत दर्शननो ख्याल आपवा, पोताना प्रतिनिधि तरीके श्रीयुत् वीरचंद राघवजी गांधी बेरीस्टरने मोकलेला. आवा एक प्रखर ज्योतिर्धरना हाथे भावी प्रजाने मार्गदर्शकनी गरज सारे तेवा ग्रंथनी रचना थाय ए कोई जेवो तेवो प्रसंग न गणाय. भाग पहेलाना छ परिच्छेद, अने भाग बीजाना सातथी बार सुधीना परिच्छेद मळी कुल बार प्रकरणमां एटली बधी विविध प्रकारनी वानी पीरसी छे के एनो साद्यंत अभ्यास करनार व्यक्ति सुतरां जैनधर्मनुं हार्द अवधारी शके तेम छे. आचार्यश्रीना 'तत्त्वनिर्णयप्रासाद' अने 'अज्ञानतिमिरभास्कर' जेवा ग्रन्थो पण ओछा महत्त्वना नथी. आम छतां जिज्ञासु वर्गने माटे 'जैनतत्त्वादर्श'ना बन्ने भागो खरेखर जैन दर्शन-रूपी महामूली मञ्जूषाने लगावेला ताळाने उघाडवानी कूंची समान छे. मुंबईनी सभा द्वारा प्रगट थतुं आ पांचमुं संस्करण छे. वडोदरा मुकामे आचार्यश्रीनी जन्म शताब्दि उजवायेली ए वेळा पञ्जाबनी आत्मानंद जैन महासभाए आ ग्रन्थनुं अतिशय सस्तुं संस्करण तैयार करावी लगभग अगीयार सो पानाना बे भाग मात्र आठ आना जेवी नजीवी किंमते प्रचारनो हेतु ध्यानमां राखी छूटथी वेचेला. आ आवृत्ति तैयार करवामां ए सस्ता संस्करणनो ज उपयोग करवामां आव्यो छे. आजना युगनी खास अगत्य ज्ञानप्रचारनी छे केमके जैन-जैनेतर जन-समूहमां भगवन्त श्रीमहावीरदेवना तत्त्वो समजवानी खास

अज्ञानतिमिरतरणी १००८ श्रीमद्‌विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज

जन्मस्थळ—वडोदरा
कार्तिक शुद २ सं. १९२७

सूरिपद—लाहोर
मागशर शुद ५ सं. १९८७

भागवती दीक्षास्थळ—राधनपुर
वैशाख शुद १३ सं. १९४३

स्वर्गगमन—मुंबई
भाद्रपद वद १० सं. २०१०

जिज्ञासा जन्मी छे. विद्वानोने खातरी थई छे के विश्वमां शांति पाथरवामां जैन धर्मना सिद्धान्तो ज मोटो फाळो आपी शके तेम छे. ए वातथी प्रेराई, स्वर्गस्थ गुरुदेव श्रीमद् विजयवल्लभ-सूरिजीनी सूचना थतां ज श्री आत्मानंद जैन सभाए पोतानी पासे फंडनी संगीनता नहोती छतां पांचमी आवृत्ति बे भागमां तैयार करवानुं कार्य हाथ धर्युं छे. काम जल्दी पूरुं करावी आचार्यश्रीनी हाजरीमां ज ए बहार पडे एवी हार्दिक इच्छाथी जयपुर अने भावनगरना प्रेसोमां ए सोंपायेल. भाविने ए वात मंजूर न होवाथी आचार्यश्री प्रकाशन जोवा आजे हैयात नथी, छतां तेओश्रीना अंतरमां आ ग्रन्थना प्रचार माटे केवी तमन्ना प्रवर्तती हती ए पोताना स्वर्गगमन पूर्वेना रविवारे एनुं अंग्रेजी करावी, आत्मानंद शताब्दि फंड द्वारा प्रगट करवानो जे ठराव ट्रस्ट बोर्डमां कराव्यो हतो, ए उपरथी जणाई आवे छे.

अंतमां जणाववानुं एटलुं ज के युगना एंधाण पारखी जैन समाज साहित्य प्रचार अंगे खास लक्ष्य आपे, आ ग्रन्थने प्रत्येक घर एक अणमूला अलङ्काररूपे होंशथी संघरे अने वारसा-रूपे भावि प्रजाने एनुं दान करे; अर्थात् वांचे अने वंचावे. एथी आत्मकल्याण सधाशे अने धर्मप्रभावना थशे. सुज्ञेषु किं बहुना ?

वैशाख कृष्ण तृतीया
वीर संवत् २४८१
प्रेमकुटिर–खंभात

मोहनलाल दीपचंद चोकसी
ओ. मंत्री
श्रीवल्लभसूरि स्मारकनिधि

विषयानुक्रमणिका

सप्तम परिच्छेद

विषय	पृष्ठ

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

विषय	पृष्ठ

दशम परिच्छेद

विषय | पृष्ठ

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

विषय	पृष्ठ

स्व. विजयकुमार नटवरलाल झोटालाल

भेद हैं-एक व्यवहार श्रद्धा, दूसरी निश्चय श्रद्धा। इन दोनों में प्रथम व्यवहार श्रद्धा का स्वरूप लिखते हैं।

व्यवहार श्रद्धा में देव तो श्री अरिहंत है, जिस का स्वरूप प्रथम परिच्छेद में लिख आये हैं, सो

चार निक्षेप तथा मूर्त्तिपूजन

सर्व तहां से जान लेना। तथा तिस अरिहंत के चार निक्षेप अर्थात् स्वरूप हैं, सो यहां पर कहते हैं—१. नामनिक्षेप, २. स्थापनानिक्षेप, ३. द्रव्यनिक्षेप, ४. भावनिक्षेप हैं। इन चारों का स्वरूप विस्तार पूर्वक देखना होवे, तदा विशेषावश्यक देख लेना। तिन में प्रथम नाम अर्हंत, सो "*नमो अरिहंताणं" ऐसा कहना। इस पद का जाप करके अनेक जीव संसार समुद्र को तर गये हैं। तथा दूसरा स्थापनानिक्षेप, सो अरिहंत की प्रतिमा अर्थात् समस्त दोषयुक्त चिन्हों से रहित, सहजसुभग, समचतुरस्रसंस्थान, पद्मासन, तथा कायोत्सर्गमुद्रारूप जिनबिंब जानना। तिस को देख कर, तिस की सेवा पूजन करके अनंत जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

प्रश्नः—अरिहंत की प्रतिमा को पूजना, उसको नमस्कार करना, और स्थापना निक्षेप मान कर उसको मुक्ति दाता समझना, यह केवल मूर्खता के चिन्ह हैं। जडरूप प्रतिमा क्या दे सकती है?

---

* यह नमस्कार मन्त्र का प्रथम पद है, और श्री कल्पसूत्र तथा भगवती सूत्र के आरम्भ में आया है।

उत्तरः—हे भव्य ! तू किसी शास्त्र को परमेश्वर का रचा हुआ मानता है, या कि नहीं ? जेकर शास्त्र को परमेश्वर का वचन मानता है, तथा उस को सच्चा और संसार समुद्र से पार उतारने वाला मानता है; तो फिर जिनप्रतिमा के मानने में क्यों लज्जा करता है ? क्योंकि जैसा शास्त्र जडरूप है, अर्थात् उस में स्याही अरु कागज़ को वर्ज कर और कुछ भी नहीं है, तैसी जिनप्रतिमा भी है। जेकर कहोगे कि कागजों पर तो स्याही के अक्षर संस्थान संयुक्त लिखे जाते हैं; अतः उनके वाचने से परमेश्वर का कहना मालूम हो जाता है, तो इसी तरे परमेश्वर की मूर्त्ति को देखने से भी परमेश्वर का स्वरूप मालूम होता है।

प्रश्नः—प्रतिमा के देखने से अर्हंत के स्वरूप का तो स्मरण हो आता है, परन्तु प्रतिमा की भक्ति करने से क्या लाभ है ?

उत्तरः—शास्त्र के श्रवण करने से परमेश्वर के वचन तो मालूम हो गये, तो भी भक्त जन जैसे शास्त्र को उच्च स्थान में रखते हैं, तथा कोई शिर पर ले कर फिरते हैं, कितनेक गले में लटकाये रखते हैं, और कितनेक मंजी पर, कितनेक चौकी आदि पर सुन्दर सुन्दर रुमालों में लपेट कर रखते है, और नमस्कारादि करते हैं, ऐसे ही जिनप्रतिमा की भक्ति, पूजा भी जान लेनी।

प्रश्नः—जैसे पत्थर की गाय से दूध की गरज़ पूरी नहीं होती है, ऐसे ही प्रतिमा से भी कोई गरज़ पूरी नहीं होती, तो फिर प्रतिमा को क्यों मानना चाहिये ?

उत्तरः—जैसे कोई पुरुष मुख से गौ, गौ, कहता है। तो क्या उसके इस प्रकार कहने से उसका बरतन दूध से भर जाता है ? अर्थात् नहीं भरता है। ऐसे ही परमेश्वर के नाम लेने और जाप करने से भी कुछ नहीं मिलता, तब तो परमेश्वर का नाम भी न लेना चाहिये।

प्रश्नः—परमेश्वर का नाम लेने से तो हमारा अंतःकरण शुद्ध होता है।

उत्तरः—ऐसे ही श्री जिनप्रतिमा के देखने से भी परमेश्वर के स्वरूप का बोध होता है, तातें अंतःकरण की शुद्धि यहां भी तुल्य ही है।

प्रश्नः—जब कि परमेश्वर के नाम लेने से पुण्य होता है, तो फिर प्रतिमा काहे को पूजनी ?

उत्तरः—नाम से ऐसे शुद्ध परिणाम नहीं होते जैसे कि स्थापना के देखने से होते हैं। क्योंकि जैसे किसी सुन्दर यौवनवती स्त्री का नाम लेने से राग तो जागता है, परन्तु जब उस सुन्दर यौवनवती स्त्री की मूर्त्ति प्रगट सर्वाकार वाली सन्मुख देखें, तब अधिकतर विषयराग उत्पन्न होता है। इसी वास्ते श्री दशवैकालिक सूत्र में लिखा है—"*चित्तभित्तिं

---

* चित्रगतां स्त्रियं न निरीक्षेत् न पश्येत् नारीं वा सचेतनामिव स्वलंकृतां

न निज्झाए नारीं वा सुअलंकियं " अर्थात् स्त्री के चित्राम वाली भीत के देखने से भी विकार उत्पन्न होता है। यह बात तो प्रगट प्रसिद्ध है, कि रागी की मूर्ति देखने से राग उत्पन्न होता है, तथा कोक शास्त्रोक्त स्त्री पुरुष के विषय सेवन के चौरासी चिन्हों को देखने से तत्काल विकार उत्पन्न होता है। ऐसे ही श्री वीतराग की निर्विकार स्थापना रूप शांत मुद्रा को देखने से मन में निर्विकारता और शांत भाव उत्पन्न होता है। परन्तु ऐसा नाम लेने से नहीं होता है।

प्रश्नः—जैसे किसी स्त्री के भर्त्ता का नाम देवदत्त है, सो जब देवदत्त मर गया, तब उसकी स्त्रीने अपने भरतार देवदत्त की मूर्त्ति बना कर रख ली, परन्तु उस मूर्त्ति से उस स्त्री का सुहाग तथा संतानोत्पत्ति और कामेच्छा की पूर्त्ति नहीं होती है। इसी तरे भगवान् की मूर्त्ति से भी कुछ लाभ नहीं है।

उत्तरः—देवदत्त की स्त्री देवदत्त के मरे पीछे आसन विछाय कर देवदत्त के नाम की माला फेरे, तब उस स्त्री का सुहाग नहीं रहता, तथा भरतार का नाम लेने से संतानोत्पत्ति भी नहीं होती, तथा कामेच्छा भी पूरी नहीं होती। इसी तरे यदि कहेंगे तब तो भगवान् के नाम लेने से

उपलक्षणमेतदनलंकृतां च न निरीक्षेत्। कथञ्चिद्दर्शनयोगेऽपि भास्करमिव आदित्यमिव दृष्ट्वा दृष्टिं समाहरेत्, द्रागेव निवर्तयेदिति सूत्रार्थः।

[दशवै० टी०, अ० ८, उ० २, गा० ५४]

भी कुछ सिद्धि नहीं होगी। तब तो इस दृष्टान्त से भगवान् का नाम भी न लेना चाहिये।

प्रश्नः—प्रतिमा को कारीगर बनाता है, तब तो उस कारीगर को भी पूजना चाहिये?

उत्तरः—वेदादि शास्त्रों को भी लिखारी लिखते हैं, तब तो उन को भी पूजना चाहिये? तथा साधु के माता पिता को भी साधु से अधिक पूजना चाहिये।

प्रश्नः—स्थापना को कोई भी बुद्धिमान् इस काल में नहीं मानता है।

उत्तरः—बुद्धिमान् तो सर्व मानते हैं, परन्तु मूर्ख नहीं मानते।

प्रश्नः—कौन से बुद्धिमान् स्थापना मानते हैं? तिनों का नाम लेना चाहिये।

उत्तरः—प्रथम तो सांसारिक विद्या वाले सर्व बुद्धिमान्, भूगोल, खगोल, द्वीप अर्थात् युरोप खंड, विलायत प्रमुख का सर्व चित्र स्थापना रूप मानते हैं, और बनाते हैं। तथा जो ककार आदि अक्षर हैं, वे सर्व पुरुष—ईश्वर के शब्द की स्थापना करते हैं। तथा जैनियों के मत में जो एक सौ आठ मणके माला में रखते हैं, अधिक न्यून नहीं रखते। इस का हेतु यह है, कि जैन बारह गुण तो अरिहंत पद के मानते हैं, अरु आठ गुण सिद्ध पद के, छत्तीस गुण आचार्य पद के, पच्चीस गुण उपाध्याय पद के, तथा सत्ताईस गुण मुनि—साधु

पद के मानते हैं। यह सब मिल कर एक सौ आठ होते हैं। इस वास्ते जैनियों के मत में माला में जो मणके हैं, सो एक एक मणका एक एक गुण की स्थापना है। यह माला भी स्थापना है। इसी तरे दूसरे मतों में भी जो माला तसबी है, सो सर्व किसी न किसी वस्तु की स्थापना है। नहीं तो एक सौ आठ तथा एक सौ एक का नियम न होना चाहिये। तथा पादरी लोगों की पुस्तकों पर भी ईसामसीह की मूर्त्ति उस वखत की छापी हुई है, जिस अवसर में मसीह को शूली पर देने को ले जाते थे। उस मूर्त्ति के देखने से ईसा-मसीह की सर्व अवस्था मालूम हो जाती है। बस, स्थापना का यही तो प्रयोजन है, कि जो उसके देखने से असली वस्तु का स्वरूप याद–स्मरण हो जाता है। आश्चर्य तो यह है, कि अब इस काल में कितनेक तुच्छ बुद्धि वाले अपनी बनाई पुस्तक में यज्ञशाला तथा यज्ञोपकरण की स्थापना अपने हाथों से करके अपने शिष्यों को जनाते हैं, कि यज्ञोपकरण इस आकृति के चाहियें। फिर कहते हैं कि हम स्थापना को नहीं मानते हैं। अब विचार करना चाहिये कि क्या इन से भी कोई अधिक मूर्ख जगत् में है? आप तो स्थापना करते हैं, अरु फिर कहते हैं कि हम स्थापना को मानते नहीं हैं। इस वास्ते जो पुरुष अपने शास्त्र के उपदेशक को देहधारी मानेगा, वो अवश्य उसकी मूर्त्ति को भी मानेगा। तथा जो अपने शास्त्र के उपदेष्टा को देहरहित मानते हैं,

वे भी थोड़ी बुद्धि वाले हैं। क्योंकि जिस के देह नहीं, वो शास्त्र का उपदेष्टा कदापि नहीं कर सकता है। कारण कि देह रहित होना अरु शास्त्र का उपदेश देने वाला भी होना, इस बात में कोई भी प्रमाण नहीं है। अरु मूर्त्ति स्थापना के बिना निराकार सर्वव्यापी परमेश्वर का ध्यान भी कोई नहीं कर सकता है, जैसे कि आकाश का ध्यान नहीं हो सकता है। इस वास्ते अठारह दूषण से रहित जो परमेश्वर है, तिस की मूर्त्ति अवश्य माननी और पूजनी चाहिये। सो ऐसा देव तो अर्हत ही है, इस वास्ते अर्हत की प्रतिमा अवश्य माननी चाहिये। परन्तु किसी दुर्बुद्धि के कुहेतुओं से भ्रम में फंस कर छोड़नी कदापि न चाहिये।

तीसरा द्रव्यनिक्षेपः—सो जिस जीव ने तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचित बंध कीना है, तिस जीव में भावी गुणों का आरोप अर्थात् आगे को तीर्थंकर भगवान् होवेगा, ऐसा वर्त्तमान में आरोप करके वंदन नमस्कार और पूजन करना द्रव्यनिक्षेप है। इस से अनेक जीव मोक्ष को प्राप्त हुये हैं।

चौथा भावनिक्षेपः—सो जो वर्त्तमान काल में सीमंधर प्रमुख तीर्थंकर केवल ज्ञानसंयुक्त, समवसरण में विराजमान, भव्यजीवों के प्रतिबोधक, चतुर्विध संघ के स्थापक, सो भाव अर्हत, इन के चरणकमल की सेवा करके अनेक जीव मुक्त होते हैं। यह भावनिक्षेप है। यह चार

निक्षेप करके संयुक्त, ऐसा जो अरिहंत देवाधिदेव, महा गोप, महा माहण, महा निर्यामक, महा सार्थवाह, महा वैद्य, महा परोपकारी, करुणासमुद्र, इत्यादि अनेक उपमा लायक, सो भव्य जीवों के अज्ञानांधकार को दूर करने में सूर्य के समान है, प्रमाण करके अविरोधि जिस के वचन हैं। और ऐसे मुनिमनमोहन, योगीश्वर, चिदानंद घन-स्वरूप, अरिहंत को मैं देव अर्थात् परमेश्वर मानता हूं, तिस की सेवा करुं, तिस की आज्ञा सिर धरूं, ऐसा जो माने, सो प्रथम व्यवहारशुद्ध देवतत्त्व है।

दूसरा निश्चय शुद्ध देवतत्त्व कहते हैं। जो शुद्धात्म स्वरूप को अनुभव करना, सो शुद्धात्म स्वरूप ही निश्चय देवतत्त्व है। कैसा है वो आत्मस्वरूप? कि पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श, शब्द, क्रिया इन से रहित तथा योग से रहित, अतींद्रिय, अविनाशी, अनुपाधि, अबंधी, अक्लेशी, अमूर्त्त, शुद्ध चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त गुणों का भाजन, सच्चिदानन्द स्वरूपी ऐसी मेरी आत्मा है, सोई निश्चय देव है।

अथ दूसरा गुरुतत्त्व कहते हैं। तिस के भी दो भेद हैं, एक शुद्ध व्यवहारगुरु, दूसरा शुद्ध निश्चयगुरु। उस में शुद्ध व्यवहारगुरु का स्वरूप तो गुरुतत्त्व निरूपण परिच्छेद में लिख आये हैं, तहां से जान लेना। ऐसे साधु को गुरु करके माने, ऐसे गुरु की आज्ञा से प्रवर्त्ते, ऐसे मुनि

को पात्र बुद्धि करके शुद्ध अन्नादिक देवे। यह शुद्ध व्यवहार गुरुतत्त्व है। तथा शुद्ध निश्चय गुरुतत्त्व तो शुद्धात्मविज्ञान-पूर्वक है जो हेयोपादेय में उपयोगयुक्त परिहार प्रवृत्तिज्ञान, सो निश्चयगुरुतत्त्व है।

व्यवहार धर्म और दया

अथ तीसरा धर्मतत्त्व कहते हैं। धर्मतत्त्व के भी दो भेद हैं, एक व्यवहार धर्मतत्त्व, दूसरा निश्चयधर्म-तत्त्व। तिन में जो व्यवहाररूप धर्म है, सो दयाप्रधान है। क्योंकि जो सत्यादि व्रत हैं, सो सर्व दया की रक्षा वास्ते हैं। इस वास्ते दया का स्वरूप लिखते हैं। दया के आठ भेद हैं, सो कहते हैं—१. द्रव्यदया, २. भावदया, ३. स्वदया, ४. परदया, ५. स्वरूपदया, ६. अनुबंधदया, ७. व्यवहारदया, ८. निश्चयदया।

१. द्रव्यदया—यत्नपूर्वक सर्व काम करना। यह तो जैन-मत वाले के कुल का धर्म है। सब जैन लोग पानी छान के पीते हैं, और अन्न शोध के खाते है। जेकर कोई जैनी छल-कपट करता है, झूठ बोलता है और विश्वासघात करता है, वो पापी जीव है। सो जैन-मत को कलंकित करता है, वो सर्व उस जीव का ही दोष है, परंतु उस में जैनधर्म का कुछ दोष नहीं है। जैनधर्म तो ऐसा पवित्र है कि जिस में कोई भी अनुचित उपदेश नहीं है। यह बात सर्व सुज्ञ जनों को विदित है। इस वास्ते जो काम करना, सो यत्नपूर्वक जीवरक्षा करके करना।

२. भावदया—दूसरे जीवों की गुणप्राप्ति के वास्ते तथा दुर्गति में पड़ते हुए जीव के रक्षण वास्ते, अन्तःकरण में अनुकंपा बुद्धि संयुक्त जो परजीव को हितोपदेश करना, सो भावदया है।

३. स्वदया—अनादि काल से मिथ्यात्व, अशुद्ध उपयोग, अशुद्ध श्रद्धापूर्वक अशुद्ध प्रवृत्ति, कषायादि भावशस्त्रों करी समय समय में आत्मा के ज्ञानादि गुणरूप भावप्राणों की हिंसा होती है। ऐसे जिनवचन सुनने से पूर्वोक्त भावशस्त्रों का त्याग करके स्वसत्ता में प्रवृत्ति करके, शुद्धोपयोग धार के विषय कषायों से दूर रहना, अरु शुभ, अशुभ कर्मफल के उदय में अव्यापक रहना, अर्थात् सुख दुःख में हर्ष विषाद न करना, प्रतिक्षण अशुभ कर्म के निदान को दूर करने की जो चिंता, तिस का नाम स्वदया है। इस स्वदया की रुचि वाला जीव अपनी परिणति शुद्ध करने वास्ते जिन पूजा, तीर्थयात्रा, रथयात्रा प्रमुख शुभ प्रवृत्ति करे बहुमान करके जिन गुण गावे, असत् प्रवृत्ति से चित्त को हटा करके तत्त्वालंबी करे, पुद्गलावलंबीपना हटावे। इस शुभाश्रव में यद्यपि देखनें में कितनेक जीवों की हिंसा दीख पड़ती है, तो भी आत्मा की अशुद्ध परिणति मिटने से आत्मा को गुणग्राही हो जाती है, जब गुणग्राही भई, तब ज्ञानवान् हो गई। इस वास्ते सर्व साधक जीवों को यह स्वदया परम साधन है। इस स्वदया के वास्ते साधु भी नवकल्पी

विहार करते हैं, और उपदेश देते हैं, चर्चा करते हैं, तथा पूजन, प्रतिलेखन करते हैं। यद्यपि नदी नाले उतरने पड़ते हैं, तहां योगों की चलनता से आश्रव होता है. तो भी चेतन स्वरूपानुयायी रहता है, जिनाज्ञा पालता है, और कषायस्थान मंद करता है, स्वच्छन्दता दूर करता है, तथा धर्म प्रवृत्ति की वृद्धि करता है। यह स्वदया के वास्ते शुभाश्रव साधु भी अपने कल्प प्रमाणे आचरण करता है। परंतु यह आश्रव साधक दशा में बाधक नहीं है।

४. परदया—छ काय के जीवों की रक्षा करनी। जहां स्वदया है, तहां परदया तो नियम करके है, अरु जहां पर दया है, तहां स्वदया की भजना है, अर्थात् होवे भी, नहीं भी होवे।

५. स्वरूपदया—जो इहलोक परलोक के विषयसुख वास्ते तथा लोकों की देखादेखी करके जीव रक्षा करे, सो खरूपदया है। इस दया से विषय सुख तो मिल जाते हैं, परन्तु मैंडुकचूर्णवत् संसार की वृद्धि होती है। यह देखने में तो दया है परन्तु भाव से हिंसा ही है।

६. अनुबंधदया—श्रावक बड़े आडम्बर से मुनि को वंदना करने को जावे, तथा उपकार बुद्धि से दूसरे जीवों को सन्मार्ग में लाने वास्ते आक्रोश—ताडनादि करे, किसी को शिक्षा देवे। यहां देखने में तो हिंसा है, परन्तु अंत में स्वपर को लाभ का कारण है, इस वास्ते यह दया है। जैसे

साधु, आचार्य, अपने शिष्य शिष्याओं को शिक्षा देता है, किसी को भूल याद कराता है, तथा किसी को अनुचित काम से मना करता है, किसी को एक वार कहता है, अरु किसी को वारम्वार शिक्षा देता है, किसी ऊपर क्रोध भी करता है, शासन के प्रत्यनीक को अपनी लब्धि से दंड देता है, इत्यादि कामों में यद्यपि हिंसा दीखती है, तो भी फल दया का है।

७. व्यवहारदया—विधिमार्गानुयायी जीव दया पाले, सर्व क्रियाकलाप उपयोगपूर्वक करे, सो व्यवहारदया है।

८. निश्चयदया—शुद्ध साध्य उपयोग में एकत्व भाव, अभेदोपयोग साध्य भाव में एकताज्ञान, सो भावदया। इस दया सेती ऊपर के गुणस्थानों में जीव चढ़ता है, तिस वास्ते उत्कृष्ट है। इत्यादि अनेक प्रकार से दया के स्वरूप, विज्ञानपूर्वक सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, वृत्ति, इस पंचांगीसम्मत, प्रत्यक्षादि प्रमाणपूर्वक नैगमादिनय, नामादि निक्षेप, सप्तभंगी, ज्ञाननय, क्रियानय, तथा निश्चय-व्यवहारनय, तथा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक, इत्यादि उभय भाव में यथावसरे अर्पित, अनर्पित नयनिपुणता से मुख्य गौण भावे उभयनयसम्मत, शुद्धस्याद्वादशैली विज्ञानपूर्वक, श्रीसिद्धांतोक्त दान, शील, तप, भावनारूप शुभ प्रवृत्ति, तिस का नाम शुद्ध व्यवहारधर्म कहिये हैं।

तथा दूसरा निश्चयधर्म—सो अपनी आत्माकी आत्मता को जाने और वस्तु के स्वभाव को जाने। जो

निश्चय धर्म

मेरी आत्मा है, सो शुद्ध चैतन्यरूप, असंख्यातप्रदेशी, अमूर्त्त, स्वदेहमात्रव्यापी, सर्व पुद्गलों से भिन्न, अखंड, अलिप्त, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य, अव्याबाध, सच्चिदानंदादि अनंत गुणमयी, अविनाशी, अनुपाधि, अविकारी है, सोई उपादेय है। इस से विलक्षण जो परपुद्गलादिक, सो मेरे नहीं। तिस पुद्गल के पांच विकार हैं—१. शब्द, २. रूप, ३. रस, ४. गंध, ५. स्पर्श, इन पांचों के उत्तर भेद अनेक हैं। इस लोकाकाश में उद्योत तथा अंधकार, तथा जो शब्द है, तथा सर्व रूपी वस्तु की जो छाया, रत्न की कांति, शीत, धूप, नाना प्रकार के रूप, रंग, संस्थान, और नाना प्रकार की सुगंध, दुर्गन्ध, नानाप्रकार के रस, तथा सर्व संसारी जीवों की देह, भाषा, और मन के विकल्प, दस प्राण, छ पर्याप्ति, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और खुशी, उदासी, कदाग्रह, हठ, लड़ाई, क्रोधादि चार कषाय, तथा साता असाता, ऊंच, नीच, निद्रा, विकथा, तथा सर्व पुण्यप्रकृति, सर्व पापप्रकृति, तथा रीझना, मौज, खिजना, खेद तथा छे लेश्या, लाभालाभ, यश, अपयश, मूर्ख, चतुरता, स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेद, कामचेष्टा, गति, जाति, कुल, इत्यादि आठ कर्म का विपाक—फल है। यह सर्व बातें जीव के अनुभव

से सिद्ध हैं। अरु सूक्ष्मपुद्गल इंद्रिय अगोचर है, सो परमाणु आदि लेके अनेक तरे का है। इस पूर्वोक्त पुद्गल के संयोग से जीव चारों गति में भटकता है। यह पुद्गल मेरी जाति नही, इस पुद्गल का मेरे साथ कोई वास्तव संबंध नहीं, और यह पुद्गल सर्व त्यागने योग्य है, जो इस पुद्गल का संसर्ग है, सोई संसार है, तथा इस पुद्गल की संगति से ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुण विगड़ जाते हैं, जो यह पुद्गल द्रव्य की रचना है, सो मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं। तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, यह चारों द्रव्य ज्ञेयरूप हैं, इन से भी मेरा स्वरूप अन्य है और जो संसारी जीव हैं, सो सर्व अपनी अपनी स्वभाव सत्ता के स्वामी हैं, सो मेरे ज्ञान में ज्ञेय रूप हैं, परन्तु मैं इन सर्व से अन्य हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं, मैं इनका साथी भी नहीं, और मैं अपने स्वरूप का स्वामी हूँ, मेरा स्वभाव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है, वर्ण रहित, तथा गंध रहित, रस रहित, चैतन्य गुण, अनंत, अव्याबाध, अनंत दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यादिक अनंत गुण स्वरूप है तिनकी श्रद्धा भासन पूर्वक गुणस्वभावादिक रूप चिदानंद घन मेरा स्वभाव है। ऐसा जो मेरा पूर्णानंद स्वभाव, तिस के प्रगट करने वास्ते सर्वशुद्ध व्यवहारनय निमित्तमात्र है। परन्तु मुख्य तो मेरा स्वभाव जो है, तिस ही में जो रमणता

करनी, सोई शुद्ध साधन है, सोई धर्म है। यह निश्चय धर्म स्वरूप जानना।

इन तीनों तत्त्वों की जो श्रद्धा—निश्चल परिणति रूप, तिस को सम्यक्त्व कहते हैं। अरु जिस जीव को इतना बोध न होवे, वो जीव जेकर ऐसे मन में धारे, पक्षपात न करे, "*तमेव सच्चं निस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं" इत्यादि जो जिनेश्वर देवोंने कहा है सो सर्व निःशंकित सत्य है, ऐसी तत्त्वार्थ श्रद्धा को भी सम्यगुदर्शन—सम्यक्त्व कहते हैं। इससे जो विपरीत होवे, तिसको मिथ्यात्व कहते हैं इस मिथ्यात्व का स्वरूप नव तत्त्व में लिख आये हैं, तहां से जान लेना। इस मिथ्यात्व को त्यागे, तिस को सम्यक्त्व कहते हैं।

अथ निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप लिखते हैं। जो पूर्व में निश्चय देव, गुरु और धर्म का स्वरूप कहा है, सोई निश्चय-सम्यक्त्व है। अनंतानुबंधी चार कषाय, सम्यक्त्व मोह, मिश्र-मोह, अरु मिथ्यात्व मोह, इन सातों प्रकृति का उपशम करे, तथा क्षयोपशम करे, तथा क्षय करे, तिस जीव को निश्चय सम्यक्त्व होता है। निश्चय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष(व्यवहार) ज्ञान का विषय नहीं है। केवली ही जान सकता है, कि इसके निश्चय सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्व के प्रगट भये जीव नरक अरु तिर्यंच, इन दोनों गति का आयु नहीं बांधता है।

---

* आचाराङ्ग सूत्र श्रुत० १, अ० ५, उ० ५।

सम्यक्त्वधारी के कर्त्तव्य

अथ सम्यक्त्व की करनी लिखते हैं। नित्य *योगवाई के मिलने पर, और शरीर में कोई विघ्न न होवे, तब जिनप्रतिमा का दर्शन करके पीछे से भोजन करे। जेकर जिन-प्रतिमा का योग न मिले, तो पूर्वदिशा की तरफ मुख करके वर्त्तमान तीर्थंकरों का चैत्यवंदन करे, अरु जेकर रोगादि किसी विघ्न से दर्शन न होवे, तो जिसके आगार है, उसका नियम नहीं टूटता है। और भगवान् के मंदिर में मोटी दश आशातना न करे। दश आशातना के नाम कहते हैं:—१. तंबोल, पान, फल प्रमुख सर्व खाने की वस्तु भगवान् के मंदिर में न खावे। २. पानी, दूध, छाछ, अर्क प्रमुख पीवे नहीं। ३. जिनमंदिर में बैठ के भोजन न करे। ४. जूती प्रमुख मंदिर के अंदर न लावे। ५. स्त्री आदि से मैथुन सेवे नहीं। ६. जिनमंदिर में शयन न करे। ७. जिन-मंदिर में थूके नहीं। ८. जिनमंदिर में लघुशंका न करे। ९. जिनमंदिर में दिशा न जावे। १०. जिनमंदिर में जूआ, चौपट, शतरंज प्रमुख न खेले। ये दश आशातना टाले, तथा उत्कृष्टी चौरासी आशातना वर्जे। तथा एक मास में इतना फूल केसर आदि चढ़ाऊँ। एक मास में इतना घृत चढ़ाऊँ। एक वर्ष में इतना अंगलूहना चढ़ाऊं। वर्ष में इतना केसर, इतना चंदन, इतना भीमसेनी बरास, कर्पूर प्रमुख

---

* समागम, अवसर।

भगवान् की पूजा वास्ते खर्च करूं। अपने धन के अनुसार प्रतिवर्ष धूप, अगरबत्ती, कर्पूर चढ़ाऊं। वर्ष में इतनी अष्ट प्रकारी, सतरा प्रकारी पूजा कराऊं तथा करूं। वर्ष में इतना रुपया साधारण द्रव्य में खरचूं। प्रतिवर्ष पूजा वास्ते इतना द्रव्य खरचूं। प्रतिदिन एक नवकारवाली अर्थात् माला, पंच परमेष्ठि-मंत्र का मोक्ष निमित्त जाप करूं। जेकर कोई दिन जाप न होवे, तो अगले दिन दूना जाप करूं, परंतु रोगादि के कारण आगार है। प्रतिदिन समर्थ होने पर नमस्कार सहित अर्थात् दो घड़ी दिन चढ़े तक चार आहार का प्रत्याख्यान करूं। रात्रि में दुविहार प्रत्याख्यान करूं। परन्तु रास्ते चलते (सफर में) रोगादि के कारण से न होवे, तो आगार। वर्ष प्रति इतना साधर्मिवात्सल्य करूं— साधर्मी जिमावुं। इस रीति से सम्यक्त्व पालूं अरु सम्यक्त्व के पांच अतिचार टालूं। सो पांच अतिचार कहते हैं।

शङ्का अतिचार

प्रथम शंका अतिचार—सो जिनवचन में शंका करनी। क्योंकि जिनवचन बहुत गंभीर हैं, और तिनका यथार्थ अर्थ कहनेवाला इस काल में कोई गुरु नहीं। और शास्त्र जो है, सो अनंतनयात्मक है। तिसकी गिनती तथा संज्ञा विचित्र तरह की है। कई एक जगे तो कोड़ी शब्द क्रोड़ का वाचक है, और किसी जगे रूढ़ वस्तु (२० संख्या) का वाचक है। क्योंकि श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण सर्व संघ के

सम्मत आचार्य, संघयण नामा पुस्तक में तथा विशेषणवती ग्रंथ में लिखते हैं, कि कोई एक आचार्य कोड़ी शब्द को एक क्रोड़ का वाचक नही मानते हैं, किंतु संज्ञान्तर मानते हैं। क्योंकि अब वर्त्तमान काल में भी वीस को कोड़ी कहते हैं। तथा सौराष्ट्र देश अर्थात् सोरठ देश में अब वर्त्तमान काल में भी पांच आने को एक कोड़ी कहते हैं। यह जैसे कोड़ी शब्द में मतांतर है, ऐसे ही शत, सहस्र शब्द भी किसी संज्ञा के वाचक होवें, तो कुछ दोष नहीं। तथा शत्रुंजय तीर्थ में जहां मुनि मोक्ष गये हैं, तहां भी पांच कोड़ी आदि शब्दों की कोई संज्ञाविशेष है। ऐसे ही छप्पन कुल कोड़ी यादव कहते हैं तहां भी यादवों के छप्पन कुलों की कोड़ी कोई संज्ञाविशेष है। इसी तरह सर्व जगे शास्त्रों में चक्रवर्त्ती की सेना तथा कोणिक, चेटक राजाओं की सेना में जो कोड़ी, शत अरु सहस्र शब्द हैं, सो संज्ञा विशेष के वाचक मालूम होते हैं। इस वास्ते सर्व शब्दों को सर्व जगे एक सरीखा अर्थ मानना युक्त नहीं। इस कथन में पूज्य श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण पूरे साक्षी देनेवाले है।

पंचम काल की मनुष्यायु

तथा कितनेक भव्य जीवों ने सामान्य प्रकार से ऐसा सुन रक्खा है, कि पांच में आरे में उत्कृष्ट एक सौ वीस वर्ष की आयु है। जब वो जीव किसी अंग्रेज़ तथा और किसी के मुख से सुनते हैं, कि डेढ़ सौ तथा दो सौ,

तथा अढ़ाई सौ वर्ष की आयु वाले भी भोट्टानादि किसी देश में मनुष्य होते हैं, तब दृढ़ श्रद्धावाले भोले जीव तो कदापि किसी का कहना नहीं मानते हैं, चाहे बड़ी आयु-वाला मनुष्य उनके सन्मुख भी खड़ा कर दिया जावे, तो भी वे झूठ ही मानेंगे। क्योंकि वे जानते हैं; कि जो हमारे जिनेन्द्र देव का कथन है, सो कदापि झूठा नहीं है। परन्तु जिन को जैन मत की दृढ़ श्रद्धा नहीं है, वे कुछ सांसारिक विद्या में निपुण हैं, चाहे जैन मत वाले ही हैं, उनके मन में अवश्य शंका पड़ जायगी। क्योंकि उन्हों ने भी सर्व जैन मत के शास्त्र सुने नहीं हैं। शास्त्र में जो कथन है, सो सापेक्षक है, बाहुल्य करके कहा हुआ है। सो कथंचित् जो अन्यथा होवे, तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि बहुत से शास्त्रों में लिखा है, कि ज्योतिष-चक्र अर्थात् तारा-मंडल है, सो सर्व तारे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हैं। यह बात सर्व जैन मानते हैं। परन्तु ध्रुव का तारा कहीं भी नहीं जाता है, अरु ध्रुव के पास जो तारे—सप्त ऋषि रूढ़ि (लोक) में प्रसिद्ध हैं, जिन को बालक मंजी, पहरेदार, कुत्ता और चोर कहते हैं। तथा और भी कित-नेक तारे ध्रुव के पार्श्ववर्त्ती हैं। वे सर्व ध्रुव की प्रदक्षिणा देते हैं। परन्तु मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा नहीं देते हैं। यह बात हमने आंखों से देखी है, अरु औरों को दिखा सकते हैं। तो फिर प्रथम जो शास्त्रकार ने कहा था, कि सर्व तारे मेरु की प्रदक्षिणा देते हैं, यह कहना जैनी क्योंकर सत्य मानते हैं?

इसका समाधान ऐसा है, कि प्रथम जो कथन है, सो वाहुल्य की अपेक्षा से है। क्योंकि वहुत तारा-मंडल ऐसा है, जो मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देता है, अरु कितनेक ऐसे हैं, जो ध्रुव के ही आसपास चक्र देते हैं। यह समाधान, पूज्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजीने संघयण तथा विशेषणवती ग्रन्थ में लिखा है कि—मेरु पर्वत के चारों ओर चार ध्रुव हैं, अरु उन चारों ध्रुवों के पास ऐसे ऐसे तारे हैं, जो सदा उन चारों ध्रुवों के ही आसपास चक्र देते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि जो शास्त्र का कहना है, सो वाहुल्य से अरु किसी अपेक्षा करके संयुक्त है। अरु किसी जगे स्थूल व्यवहार नय के मत से कथन है, परन्तु सूक्ष्म अधिक न्यूनता की विवक्षा नहीं करी है। इसी तरें सौ वर्ष से अधिक आयु जो पंचम काल में कही है, सो वाहुल्य की अपेक्षा तथा आर्य खंड अर्थात् मध्य खंड की अपेक्षा से है। जे कर किसी पुरुष की १५०, २००, २५० इत्यादि वर्षों की आयु हो जावे, तो मन में जिनवचन की शंका न करनी—कि क्या जाने जिनवचन सत्य हैं कि जूठ हैं? अर्थात् ऐसा विकल्प मन में नहीं करना, क्योंकि शास्त्र का आशय अति गम्भीर है, अरु ऐसा गीतार्थ कोई गुरु नहीं है, जो यथार्थ वतला देवे।

इस आयु के कहने का यह समाधान है, कि भगवान् श्री महावीर के निर्वाण पीछे ५८५ वर्ष के लगभग जैन मत

के आचार्य श्री आर्यरक्षितसूरि साढ़े नव पूर्व के पाठक, जिन के पास शक्रेन्द्र, निगोद जीवों का स्वरूप सुनने आया था। तब शक्रेन्द्र ने प्रथम वृद्ध ब्राह्मण का रूप करके श्री आर्यरक्षितसूरि को पूछा, कि हे भगवन्! मैं वृद्ध हो गया हूं, जेकर मेरी आयु थोड़ी होवे, तो मुझे बता दीजिये, ताकि मैं अनशन करूं। तब श्री आर्यरक्षितसूरिजीने दशमे पूर्व के यवका अध्ययन में उपयोग दे कर देखा, तो तिस की आयु सौ वर्ष से अधिक जानी, फिर उपयोग दे कर देखा, तो दो सौ वर्ष से अधिक आयु जानी, फिर उपयोग दिया, तो तीन सौ वर्ष से अधिक आयु जानी। तब आचार्य श्री आर्यरक्षितसूरिजीने विचार किया, कि यह भारतवर्ष का मनुष्य नहीं है। यह कथानक आवश्यक सूत्र की सामायिक अध्ययन की उपोद्घात निर्युक्ति में है। इस कथानक से ऐसा भाव निकलता है, कि यदि भारतवर्ष के मनुष्य की आयु तीन सौ वर्ष की भी होवे, तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि श्री आर्यरक्षितसूरिजी ने जो तीन सौ वर्ष से जब अधिक आयु देखी, तब कहा, कि यह भारत वर्ष का मनुष्य नहीं। इसे कहने से तीन सौ वर्ष की आयु भी भारतवर्ष में मनुष्य की किसी प्रकार से होवे, तो क्या आश्चर्य हैं!

आधुनिक भूगोल तथा जैन मान्यता

तथा कितनेक जीवों के मन में ऐसी भी शंका होवे, तो उसका क्या समाधान है? जैसे कि जैनमत वाले भारतखंड कहां तक मानते हैं? क्योंकि अमेरिका, रूस, चीन आदि जो देश इस काल में लोगों के देखने वा सुनने में आते हैं, जैनलोक उन सब को भारतवर्ष में ही मानते हैं। तथा अमेरिका, विलायतादि सर्व मुल्कों के बीच में जो समुद्र पड़ा है, सो ऋषभदेव और भरत चक्रवर्त्ती के समय में नहीं था, किंतु जगत के बाहिर जो महासमुद्र है, सोई था। इस कारण से अर्थात् समुद्र के अंदर आजाने से असली भरतक्षेत्र का स्वरूप विगड़ गया—कहीं समुद्र हो गया, और कहीं द्वीप बन गये।

इस विषय जैनमत का शत्रुंजयमाहात्म्य नामा ग्रंथ है, तिसमें लिखा है, कि दूसरा सगरनामा चक्रवर्त्ती हुआ है, वह इस समुद्र को भारतवर्ष में जंबूद्वीप के दक्षिण दिशा के विजयंत नामक दरवाजे के रास्ते से लाया है। तिसके लाने से बर्बरादि अनेक हजारों देश तो जल में डूब कर समुद्र की भूमिका बन गये, और जो उच्चस्थल थे, वे द्वीप और विलायतादि देश बन गये। पीछे से असली देशों का नाम नष्ट होने से बहुत देशों के नाम कल्पित रक्खे गये। भरतखंड कुछ और का और बन गया। कितनेक देशों के उत्तर खंडों में वर्फ के पड़ जाने से, और समय के बदलने

से सर्वथा पानी जम गया। तव तो चारों और समुद्र ही दीखने लगा। तिस लिये आना जाना बंद हो गया। और हमारे शास्त्रकार तो प्रथम आरे में तथा ऋषभदेव और भरतचक्रवर्त्ती के समय में जो जो इस भारतवर्ष का हाल था, सोई सदा से लिखते चले आये हैं। परंतु भरतक्षेत्र के बिगड़ तिगड़ के और का और वन जाने से किसी ने विस्तारपूर्वक वृत्तांत ठीक ठीक नहीं लिखा। जे कर लिखा भी होवेगा, तो भी जैनमत के ऊपर वड़ी वड़ी विपत्तियें आई हैं, उनसे लाखों ग्रंथ नष्ट हो गये हैं। इस वास्ते हम ठीक ठीक सर्व वृत्तांत वता नहीं सकते हैं। परंतु जितनेक जैन मत के ग्रंथ हमारे वांचने में आये हैं, उनमें से जो ठीक है, सो इस ग्रंथ में लिखते हैं।

इस समय सर्वक्षेत्र अदल वदल हो गये हैं। गंगा, सिंधु असलस्थान में नहीं वहतीं। क्योंकि उनका अगला प्रवाह तो समुद्र ने रोक लिया, और पीछे से पानी आना बंद हो गया। फिर जिस पर्वत से अधिक नदी की प्रवृत्ति भई, वो नदी उसी पर्वत से निकलती लोकों ने मान लीनी। इस वास्ते गंगा और सिंधु में क्षुल्लक हेमवंत पर्वत से जल आना बंद हो गया, नाम मात्र से गंगा सिंधु रह गई। और नगरियों में वनिता नगरी की कल्पना पर अयोध्या बनाई गई। काबूल के परे तक्षिला अर्थात् बाहुबल की नगरी की कल्पना करी गई। इस समय में वो तक्षिला भी नहीं रही।

उसका नाम ग़ज़नी प्रसिद्ध हुआ। जैनियों की श्रद्धा के अनुसार प्रथम आरे को अरु ऋषभदेव तथा भरत राजा के समय के व्यतीत होने में असंख्य वर्ष व्यतीत हो गये हैं। तो फिर नदी, पर्वत, देश, नगरों के उलट हो जाने में क्या आश्चर्य है? और समुद्रका देशों पर फिर जाना तो तौरेत ग्रन्थ से भी ठीक ठीक सिद्ध होता है। तथा पुराणादि ग्रन्थों में भी लिखा है, कि कोई ऐसा समय भी था कि समुद्र में पानी नहीं था, पीछे से आया है। इस वास्ते शत्रुंजय-माहात्मय में जो लिखा है कि भरत क्षेत्र में समुद्र का पानी सगर चक्रवर्त्ती लाया है, सो कहना ठीक है।

तथा तपगच्छ के आचार्य श्री विजयसेनसूरि अपने प्रश्नोत्तर में लिखते हैं, कि मागध, वरदाम अरु प्रभासक नामक तीन जो तीर्थ हैं, सो जगत के बाहिर के समुद्र में हैं। इस से भी यही सिद्ध होता है, कि भरत चक्रवर्त्ती जब षट् खण्ड अरु मागधादि तीर्थों के साधने को गये थे, तब यह समुद्र का पानी रस्ते में नहीं था। तथा शास्त्रकारो ने तो सर्व शास्त्रों की शैली श्रीऋषभदेव के कथनानुसार रक्खी है। इस वास्ते चक्रवर्त्ती आदि का कथन भरत चक्रवर्त्ती के सरीखा कह दिया है।

तथा इस काल कितनेक विद्वानों ने भूगोल के हिसाब से जो कुतब बनाये हैं, और उनके अनुसार सरद तथा

गरम देशों का विभाग किया है। यद्यपि उन के देखने सुनने मूजब तथा उनके अनुमान के अनुसार वर्त्तमान समय में ऐसा ही होवेगा; परंतु सदा ऐसा ही था, यह कहना ठीक नहीं। क्यों कि भूगोलहस्तामलक पुस्तक में लिखा हैं, कि रूस देश के उत्तर के पासे (तरफ़) जहां बर्फ़ के सिवाय और कुछ भी नहीं है, तहां गरमी के दिनों में बर्फ़ के गलने से तथा किसी जगे बर्फ़ के करार गिर पड़ने से उसके हेठ (नीचे) से एक किसम के हाथी निकलते हैं, सो भी सैंकड़ो हज़ारों निकलते हैं, जिन का नाम उस देश वाले मेमाथ कहते हैं। अब बड़ा आश्चर्य तो इन मेमाथों के देखने से यह होता है, कि ये जानवर गरम मुलकों के रहने वाले हैं, अरु यह सरद मुलक में कहां से आये ? अरु इन के खाने वास्ते भी कुछ नहीं। इस काल में जो एक भी हाथी उस मुलक में जा कर बांधें, तो थोड़े से काल में मर जायगा। तो ये लाखों मेमाथ इस मुलक में क्योंकर जाते होंगें ? और क्या खाते होंगे ? इस में यही कहना पड़ेगा कि किसी समय में यह मुलक गरम होवेगा पीछे पवन की तासीर बदलने से सरद मुलक हो गया। इस वृत्तांत से यह सिद्ध होता है, कि जो सरद मुलक हैं, वे गरम हो सकते हैं, अरु जो गरम मुलक हैं, वे किसी काल में सरद हो जाते हैं। इस वास्ते भूगोल के अनुसार जो सरदी गरमी की व्यवस्था की कल्पना

करनी है, वह हमेशा के वास्ते दुरुस्त नहीं। क्या जाने देशों की क्या क्या व्यवस्था बदल चुकी है? और क्या क्या बदलेगी! इस का पूरा स्वरूप तो सर्वज्ञ जान सकता है।

तथा इस पृथ्वी को भूगोल कहते हैं। अरु यह भी कहते हैं कि सूर्य नहीं फिरता, किंतु पृथ्वी सूर्य के इर्द गिर्द घूमती है। यह बात कुछ अंग्रेज़ों ही ने नहीं निकाली है, किंतु अंग्रेज़ों से पहिले भी इस बात के मानने वाले भारत वर्ष में थे। क्योंकि जैनमत का शीलांगाचार्य जो विक्रम के ७०० वर्ष में हुआ है, वे आचार्य आचारांग सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं,* कि कितनेक ऐसा भी मानते हैं, कि भूगोल फिरता है, अरु सूर्य स्थिर रहता है। परन्तु यह मत जैनियों का नहीं है। उनके शास्त्रों में तो प्रगट लिखा है, कि सूर्य चलता है, अरु पृथ्वी स्थिर रहती है। और सूर्य के भ्रमण करने के एक सौ चौरासी मंडल आकाश में हैं। उन मंडलों में प्रवेश करना, अरु दिनमान, रात्रिमान का घटना बढ़ना, अरु मौसमों का बदलना, ग्रहण का लगना, सूर्य के अस्त उदय होने में मतों का विवाद, इत्यादि सर्व बातें सूर्यप्रज्ञप्ति वा चंद्रप्रज्ञप्ति शास्त्रों के पढ़ने से अच्छी तरह मालूम पड़ जाती हैं।

---

*भूगोलः केषांचिन्मतेन नित्यं चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव। [उ० ६ अ० ८ सू० १९९]

तथा जो पृथ्वी के गोल होने में समुद्र के जहाज की ध्वजा प्रथम दीखती है, इत्यादि कहते हैं। सो यह बात कहने वालों की समझ में ऐसे आती होवेगी, परन्तु हमारी समझ में तो नहीं आती है। हम तो ऐसे समझते हैं, कि हमारे नेत्रों में ऐसी ही योग्यता है, कि जिस से वस्तु गोलादि दीख पड़ती है। क्योंकि जब हम सीधी सड़क पर खड़े होते हैं, तब हमारे पगों की जगें सड़क चौड़ी मालूम पड़ती है, अरु जब दूर नज़र से देखते हैं, तब वो ही सड़क संकुचित मालूम पड़ती है। अरु आकाश में पक्षी को जब शिर के ऊपर उड़ता देखते हैं, तब हम को ऊंचा दूर दीख पड़ता है, अरु जब उसी जानवर को थोड़ी सी दूर जाते को देखते हैं, तब धरती से बहुत निकट देखते हैं। इतनी दूर में पृथ्वी की इतनी गोलाई नहीं हो सकती है। तथा आकाश को जब देखते हैं, तब तंबू सा दिखलाई देता है। इस में जो कोई यह बात कहे कि धरती की गोलाई के सबब से आकाश भी गोल दीखता है, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि पृथ्वी की इतनी गोलाई नहीं हो सकती है। इस वास्ते नेत्रों में जिस वस्तु के जानने की जैसी योग्यता है, वैसी वस्तु दीखती है, यही कहना ठीक मालूम होता है।

तथा यह भरतखंडादिक की पृथ्वी बहुत जगे ऊंची नीची मालूम होती है, क्योंकि श्रीहेमचन्द्रसूरि प्रमुख आचार्य

पद्मप्रभचरित्रादि ग्रंथों में लिखते हैं, कि लंका से इतने योजन पश्चिम दिशा को जावे, तब आठ योजन नीचे पाताल लंका है। जेकर इस प्रमाण योजन होवें, तब तो क्या जाने अमेरिका ही पाताल लंका होवे। अरु नीची जगा होने से बुद्धिमानों को पृथ्वी गोल मालूम पड़ती होवेगी। इसी पाताल लंका की तरे और जगे भी धरती ऊंची नीची होवे, तो क्या आश्चर्य है! क्योंकि पश्चिम महाविदेह की धरती एक हज़ार योजन ऊंडी (गहरी) लिखी है। इसी तरे और जगे भी ऊंची नीची धरती के सबब से कुछ और का और दीख पड़े, तो जैनमती को श्री अर्हंत भगवंत के कहने में शंका न करनी चाहिये।

प्रेतविद्या

तथा कितनीक पुस्तकों में लिखा देखा और सुना भी है कि अमेरिकादि मुलकों में ऐसी विद्या निकाली है, कि जिस करके वो दो हज़ारादि वर्ष पहिले जो मनुष्य मर गये थे, उनको बुलाते हैं। अरु उन से उस वक्त का सर्व हाल पूछते हैं, अरु वे सर्व अपनी व्यवस्था बतलाते हैं; परन्तु परोक्ष में उनका शब्द सुनाई देता है, वे प्रत्यक्ष नहीं दीखते हैं। तथा अनेक तरे के तमाशे दिखाते हैं, कि जिन के देखने से अल्पबुद्धियों की बुद्धि अस्तव्यस्त हो जाती है। तब उनके मन में अनेक शंका कंखा उत्पन्न हो जाती हैं। जिस के सबब से अर्हंतकथित धर्म में अनादर हो जाता है, क्योंकि उन

जीवों ने न तो पूरे जैनमत के शास्त्र पढ़े हैं, और सुने हैं। इस वास्ते उनके मन को जल्द अधीरज हो जाती है। परन्तु अपने घर की सर्व पुस्तकें विना वाचे, विना सुने, तुच्छ वात के वास्ते एकवार भी जिन धर्म में शंका न लानी चाहिये। क्योंकि यह पूर्वोक्त सर्व वृतांत इन्द्रजाल की पूर्ण विद्या जिस को आती होवे, वो दिखा सकता है। हमने किसी ग्रंथ में ऐसा लिखा देखा है, कि कुमारपाल राजा के समय में एक वोधिदेव नामक ब्राह्मण था। उसने राजा कुमारपाल की श्रद्धा जैन मत से हटाने के वास्ते कुमारपाल से जो प्रथम उनके वंश के मूलराज आदि सात राजा हो गये थे, उन को नरक कुण्ड में पड़े हुए, विलाप करते हुए, अरु ऐसे कहते हुए दीख पड़े कि हे पुत्र! जिस दिन से तूने जैन धर्म अंगीकार किया है, उस दिन से हम तेरे सात पुरुष नरक कुण्ड में जा पड़े हैं। जेकर तू हमारा भला चाहे, तो जैन धर्म छोड़ दे। ऐसी वात देख कर राजा कुमारपाल चित्त में घबराया, तब जाकर अपने गुरु श्रीहेमचंद्राचार्य को पूछा, कि महाराज! यह क्या वृत्तांत है? तव श्रीहेमचंद्र आचार्यजीने कहा कि हे राजेंद्र! ये सर्व इन्द्रजाल की विद्या है, आओ! मैं भी तुम को कुछ तमाशा दिखाऊं। तव राजा कुमारपाल को मकान के अन्दर के मकान में ले जा कर दिखाया—चौवीस तीर्थंकर समवसरण में जुदे जुदे बैठे हैं, अरु कुमारपाल के वे ही सात पुरुष तीर्थंकरों की सेवा करते हैं। तथा

राजा कुमारपाल को कहेते हैं, कि हे पुत्र ! तू बड़ा पुण्यात्मा है, कि जिस ने जैन धर्म अंगीकार किया है। जिस दिन से तूने जैन धर्म अंगीकार किया है, उस दिन से हम नरक कुण्ड से निकल कर स्वर्गवासी हुए हैं। इस वास्ते तू धर्म में दृढ़ रह। उसके पीछे श्रीहेमचन्द्रसूरि राजा कुमारपाल को बाहिर लाये, तब राजा ने पूछा कि महाराज ! यह क्या आश्चर्यकारी तमाशा है ? तब श्रीहेमचन्द्रसूरि कहते भये कि हे राजा ! यह इन्द्रजाल विद्या जिस को आती होवे, वो कर सकता है। क्योंकि इन्द्र जाल विद्या के सत्ताईस पीठ हैं, जिन में से सतरां पीठ संसार में प्रचलित हैं। परन्तु सत्ताईस पीठ हम जानते हैं, और कोई भी भारतवर्ष में नहीं जानता है। अरु जिन गुरुओं ने हम को यह विद्या दीनी थी, उनों ने ऐसी आज्ञा भी करी है, कि आगे को तुम ने किसी को यह विद्या न देनी। क्योंकि इस विद्या से बड़े अनर्थ उत्पन्न हो जायंगे। क्योंकि इस काल में जीव तुच्छ बुद्धि वाले हैं, इसलिये उन को यह विद्या जरेगी (पचेगी) नहीं। इसी वास्ते हमारे आचार्यों ने योनिप्राभृत शास्त्र विच्छेद कर दिया है। उसी योनिप्राभृत के अनुसार यह इन्द्रजाल रचा हुआ है। इस योनिप्राभृत का कथन व्यवहारभाष्यचूर्णि में लिखा है, कि उस योनिप्राभृत में तंत्रविद्या है। जिस से सर्प, घोड़े, हाथी वगैरे ज़िंदा जानवर, वस्तुओं के मिलाने से बन जाते हैं, तथा सुवर्ण, मणि, रत्न प्रमुख बन जाते हैं।

उन मसालों में ऐसी मिलन शक्ति है, कि चाहे सो बनालो। इस वास्ते कोई आज नवी वस्तु देख कर जैन धर्म से चलायमान न होना चाहिये। तत्त्वार्थ के महाभाष्य में समंतभद्र आचार्य भी लिखते हैं, कि इन्द्रजालिया तीर्थंकर के समान बाह्य सिद्धि सर्व बना सकता है, इस वास्ते किसी बात का चमत्कार देख के जिनवचनों में शंका कदापि न करनी।

शास्त्र और उन के अर्थ

तथा कितनेक जैनमत वालों को यह भी आश्चर्य है, कि यदा आर्यावर्त्त में दो प्रहर दिन होता है, तदा अमेरिका में अर्द्धरात्रि होती है अरु यदा अमेरिका में दो प्रहर दिन होता है, तदा आर्यावर्त्त में अर्द्धरात्रि होती है। कितने लोकों ने घड़ियों के हिसाब से तथा तार की खबरों से इस बात का निश्चय अच्छी तरे से करा हुआ बतलाते हैं। इस बात का उत्तर मैं यथार्थ नहीं दे सकता हूं। मेरी श्रद्धा ऐसी नहीं है कि पूर्व आचार्यों के अनुसरण बिना समाधान कर सकूं। क्यों कि मेरी कल्पना से कुछ जैन मत सत्य नहीं हो सकता है, जैनमत तो अपने स्वरूप से ही सत्य बनेगा। जेकर मेरी कल्पना ही सत्य का कारण होवे, तब तो किसी पूर्वाचार्यों की अपेक्षा न रहेगी। तब तो जिस के मन में जो अर्थ अच्छा लगेगा, सो अर्थ कर लेवेगा। जैसे वर्त्तमान

में किसी *पाखंडी मस्करी ने ऋग्वेदादि वेदों के स्वकपोल-कल्पित अर्थ लिखे हैं, सो हमने वाच भी लिये हैं। उनोंने वेदमंत्रादिकों के ऊपर जो भाष्य वनाया है, उस में मन्त्रों के अर्थों में ऐसा लिखा है कि "अग्निवोट" अर्थात् धुएं की कल से चलने वाले जहाज़ तथा रेलगाड़ी के चलने की विधि, तथा पृथ्वी गोल है, अरु सूर्य के चारों ओर घूमती है, और सूर्य स्थिर है, इत्यादि जो अंग्रेज़ो ने अपनी बुद्धि के वल से विद्याएं उत्पन्न करी हैं, उन सर्व विद्याओं का वेदों में भी कथन है। अपने शिष्यों को वेद का महत्त्व वताने के वास्ते स्वकपोलकल्पित अर्थ लिख लिये हैं। अरु पूर्व में जो महीधरादि पंडितों ने वेदों के ऊपर दीपिका तथा भाष्य रचे हैं, उन की निंदा अर्थात् मूर्खता प्रगट करी है। वे मूर्ख थे, उन को वेद का अर्थ नहीं आता था।

प्रश्नः—पिछले अर्थ छोड़ कर जो नवीन अर्थ करे गये, इस का क्या कारण है?

उत्तरः—प्रथम तो वेदों के प्राचीन भाष्य और दीपिका मानने से वेदों की सत्यता अरु ईश्वरोक्तता तथा प्राची-

---

* यहां 'पाखण्डी मस्करी' शब्दों से वर्तमान आर्यसमाज के जन्मदाता स्वामी दयानन्दजी सरस्वती अभिप्रेत है। क्योंकि उन्होंने ही दुनिया भर के विद्वानों से अनोखे, वेदों के नाना मनःकल्पित अर्थ किये हैं। जो कि वेद सिद्धांत के सर्वथा विरुद्ध हैं। इस के विशेष विवरण के लिये देखो। परि० नं० २ घ।

नता सिद्ध नहीं होती। इसी वास्ते ईशावास्य उपनिषद् को वर्ज़ के सर्व उपनिषद, और सर्व ब्राह्मण भाग, तथा सर्व स्मृति, पुराणादि शास्त्र, भाष्य, दीपिकादि मानने छोड़ दिये। उनों ने यह विचार किया है, कि इन सर्व पूर्वोक्त ग्रंथों के मानने से हमारा मत दूसरे मतवाले खंडित कर देवेंगे। क्योंकि ये पूर्वोक्त सर्व ग्रन्थ युक्तिप्रमाण से विकल हैं। अरु प्राचीनों ने जो अर्थ करे हैं, उन में वहुत अर्थ ऐसे है, कि जिन के सुनने से श्रौता जनों को भी लज्जा उत्पन्न होती है। क्योंकि महीधरकृत दीपिका जो वेद की टीका है, उस में मंत्रादिकों के जो अर्थ लिखे हैं, जैसे कि यज्ञपत्नी घोड़े का लिंग पकड़ के अपनी योनि में प्रक्षेप करे, इत्यादि, सो हम आगे लिखेंगे। इत्यादि अर्थों के छोड़ने वास्ते अरु वेदों का खण्डन न हो, इस वास्ते स्वकपोलकल्पित भाष्य बना कर मानो अंग्रेजों के चालचलन और इंजील के मतानुसार अर्थ किये गये है। परन्तु उन को बुद्धिमान् तो कोई भी मानता नहीं है। तथा जो मानते हैं, वो कुछ जानते नहीं है। क्योंकि जब पूर्व के ऋषि, मुनि, पंडित झूठे हैं, अरु उन के किये हुये अर्थ असत्य हैं, तो अब के बनाये हुये कदापि सत्य नहीं हो सकेंगे? जो जड में ही झूठे हैं वे नवीन रचना से कदापि सत्य न होवेंगे। इस वास्ते अपनी बुद्धि का विचार सत्य मानना, अरु प्राचीन उन वेदों के मानने वालों का संप्रदाय झूठा मानना, इस से अधिक निर्विवेक और

अन्याय क्या है? क्योंकि जब प्राचीनों के किये हुए अर्थ झूठे ठहरेंगे, तब तिन के बनाये हूए वेद भी झुठे ही ठहरेंगे। इस वास्ते जो मतधारी हैं, या तो उनको अपने प्राचीनों के कथन करे हुए अर्थ मानने चाहिये, नहीं तो उस मत को अरु उस मत के शास्त्रों को छोड़ देना चाहिये।

इस वास्ते मेरी ऐसी श्रद्धा है, कि जो जैन मत में प्रमाणिक अरु पंचांगीकारक आचार्य लिख गये हैं, उस के अनुसार ही हम को कथन करना चाहिये, परन्तु स्वकपोलकल्पित नहीं। जेकर कोई स्वकपोलकल्पित मानेगा, वो जैनमती कदापि नहीं हो सकेगा, अरु उस की कल्पना भी सर्वथा सत्य नहीं होवेगी। क्योंकि जब सर्व मतों के पूर्वाचार्य झूठे ठहरेंगे, तब नवी कल्पना करने वाले क्योंकर सच्चे बन बैठेंगे? इस वास्ते पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर पंचांगी के प्रमाण से नहीं दे सकता हूं, क्योंकि–१. शास्त्र बहुत विच्छेद हो गये हैं। २. आर्यरक्षित सूरि के समय में चारों अनुयोग तोड़ के पृथक्त्वानुयोग रचा गया है। ३. स्कंदिल आचार्य के समय में बारह वर्ष का काल पड़ा था, उसमें शास्त्र कंठ से भूल गये थे। फिर सर्व साधुओं का दक्षिण मथुरा में समाज करके जिस जिस साधु, आचार्य के जिस जिस शास्त्र का जो जो स्थल कंठ रह गया, सो सो स्थल एकत्र करके लिखा गया। ४. पीछे देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण

प्रभृति आचार्यों ने पत्रों के ऊपर एक कोड़ ग्रंथ लिखे, शेष छोड़ दिये। ५. प्रभावकचरित्र में लिखा है, कि सर्व शास्त्रों की जो टीका लिखी थी, वो सर्व विच्छेद हो गई। ६. पीछे से ब्राह्मणों ने तथा बौद्धों ने ग्रन्थों का नाश किया। तथा ७. मुसलमानोंने तो सर्वमतों के शास्त्र मट्टी में मिला दिये। तिन में से जो रह गये, वे भण्डारों में गुप्त रहने से गल गये, तथा जो अब भण्डारों में हैं, वे सब हमने वाचे नहीं हैं। तो फिर इतने उपद्रव जैन शास्त्रों पर वीतने से हम क्योंकर सर्व शंकाओं का समाधान कर सकें? इस वास्ते जैनमत में शंका न करनी चाहिये। हम ने सर्व मतों के शास्त्र देखे हैं, परन्तु जैनमत समान अति उत्तम मत कोई नहीं देखा है। इस वास्ते इस मत में दृढ रहना चाहिये।

आकांक्षा अतिचार

दूसरा आकांक्षा अतिचार-सो अन्यमत वालों का अज्ञान कष्ट देख कर तथा किसी पाखण्डी के पास किसी विद्या मंत्र का चमत्कार देख कर, तथा पूर्व जन्म के अज्ञान कष्ट के फल करके अन्यमत वालों को सुखी अरु धनवान् देख कर मन में विचारे, कि अन्यमत वालों का धर्म अरु ज्ञान अच्छा है, जिस के प्रभाव से वे धनी अरु पुत्र आदि परिवार वाले होते हैं। इस वास्ते मैं भी इन ही का धर्म करुं, कि जिस करके मैं भी धनी अरु पुत्रादि परिवार वाला हो जाऊं। यह आकांक्षा अतिचार उन जीवों को होता है, कि जिन को

जिन धर्म का अच्छी तरे से बोध नहीं है। क्योंकि जैन धर्म वाले भी सर्व दरिद्री अरु पुत्रादि परिवार से रहित नहीं हैं। तैसे ही अन्यमत वाले भी सर्व धनी अरु परिवार वाले नही हैं। इस वास्ते सर्व अपने अपने पूर्व जन्म जन्मांतर के करे हुए पुण्य पाप के फल हैं। क्योंकि जो जीव मनुष्य जन्म में सात कुव्यसनी हैं। अरु कसाई, वागुरी-बूचड़ प्रमुख, कितनेक धनी अरु पुत्रादि परिवारवाले हैं अरु कितनेक इस अवस्था से विपरीत हैं। इस वास्ते यही सत्य है कि पूर्व जन्म में करे हुए सुकृत दुष्कृत का फल है, प्रायः इस जन्म के कृत्यों का फल नहीं है। सर्व मतोवाले राजा हो चुके हैं, अरु रंक भी वहुत हैं। इस वास्ते अन्य मत की आकांक्षा न करे।

विचिकित्सा अतिचार

तीसरा वितिगिच्छा अतिचार—सो कोई जीव अपने पूर्व जन्म के करे हुए पापों के उदय से दुःख पाता है, तब ऐसा विचार करे, कि मैं धर्म करता हूं, तिस का फल मुझे कब मिलेगा? अर्थात् मिलेगा कि नहीं? अरु जो धर्म नहीं करते हैं, वे सुखी हैं, अरु हम तो धर्म करते हैं, तो भी दुःखी हैं। इस वास्ते कौन जाने धर्म का फल होवेगा कि नहीं होवेगा? तथा साधु के मलिन वस्त्र तथा मलिन शरीर को देख कर मन में जुगुप्सा करे, कि यह साधु अच्छे नहीं हैं, क्योंकि मलिन वस्त्र तथा मलिन शरीर रखते हैं। इस

वास्ते यह संसार से क्योंकर तरेंगे ? जेकर उष्ण जल से स्नान कर लेवें, तो कौनसा महाव्रत भंग हो जाता है ?

जेकर धर्म का फल न होवे, तो संसार की विचित्रता कदापि न होवे, इस वास्ते धर्म का फल अवश्यमेव है। तथा जो साधु मलिन वस्त्र रखते हैं, उसका तो फल यह कारण है कि सुंदर वस्त्र रखने से मन शृङ्गार रस को चाहता है, अरु स्त्रियें भी सुन्दर वस्त्र वालों को देख कर उनसे भोग करने की इच्छा करती हैं। इस वास्ते शील पालने वाले साधुओं को शृंगार करना अच्छा नहीं। अरु स्नान जो है, सो काम का प्रथमांग है, इस वास्ते साधुओं को उचित नहीं। अरु कोई कारण पड़ने से साधु हाथ पगादिकों को धो लेवे, तो कुछ दूषण नहीं। अरु साधुओं को अपने शरीर पर ममत्व भी नहीं है। अरु शुचिमात्र स्नान तो साधु करते हैं, परन्तु शरीर के सुख वास्ते तथा शरीर के चमकाने दमकाने के वास्ते नहीं करते हैं। क्योंकि जैनियों की यह श्रद्धा नहीं है, कि जल में स्नान करने से पाप दूर हो जाते हैं। परन्तु जल स्नान से शरीर की मैल दूर हो जाती है, शरीर की तप्त मिट ज़ाती है, आलस्य दूर हो जाता है, परन्तु पाप दूर नहीं होते हैं। जेकर जलस्नान से पाप मिट जावें तो अनायास सर्व की मोक्ष हो जावेगी। ऐसा कौन है, जो जल से स्नान नहीं करता है ? अरु जो साधु को मैला समझना, यही बड़ी मूर्खता है, क्योंकि शरीर के मैले होने से आत्मा मैला नहीं

होता है, मैला तो पाप करने से होता है। अरु जगत् व्यवहार में स्त्री से संभोग करने से और किसी मलिन वस्तु का स्पर्श करने से मैलापना मानते हैं। परन्तु साधु तो इन सर्व वस्तुओं का त्यागी है, इस वास्ते मैला नहीं। वल्कि साधुओं को धन्यवाद देना चाहिये, क्योंकि यदि ताप पडता है, लू चलती है, पसीना बहता है, तो भी साधु नंगे पांव अरु नंगा शिर करके चलते हैं, और रात को छते हुए मकान में सोते हैं, पंखा करते नहीं तथा कोमल शय्या पर सोते नहीं, और रात्रि को जल पीते नहीं, दिन में भी उष्ण जल पीते हैं; यह तो वड़ा भारी तप है। परन्तु जो कोई साधु तो वन रहे हैं, अरु जव गरमी लगती है, तव महिष की तरे जल में जा पड़ते हैं, ऐसे सुखशील तो तर जायेंगे, कि जिनों के किसी वात का नियम नहीं। हाथी, घोड़े, रेल प्रमुख की सवारी करनी; तथा जो फल हैं, सो सर्व भक्षण करने; धन रखना; मकान बांधने; खेती करनी; गौ, भैंस, हाथी, घोड़े, रथ, शस्त्र रखने; छल बल से लोगों के पास से धन लेना; स्त्रियों से विषय सेवन करना; अच्छा खाना; मांस भक्षण करना, मदिरा पीना; भांग के रगड़े, चरस की चिलमें उडाना; पगों को तथा शरीर को वेश्या की तरे मांजना; चित्त में वड़ा अभिमान रखना; दंड पेलना; गश्त करने जाना; इत्यादि अनेक साधुओं के जो उचित नहीं सो काम करने; फिर श्री श्री स्वामीजी महाराज वन

बैठना। हम महंत हैं, हम गद्दीधर हैं, हम भट्टारक हैं, हम श्रीपूज्य हैं, हम जगत् का उद्धार करते हैं, हम बड़े अद्वैत ब्रह्म के वेत्ता हैं, हम शुद्ध ईश्वर की उपासना बताते हैं, मूर्त्तिपूजन के पाखण्ड का नाश करते हैं।

अथ भव्य जीवों को विचार करना चाहिये कि यह पूर्वोक्त कुगुरु क्या जल के स्नान करने से संसार समुद्र से तर जायंगे? अरु जो जीवहिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री, अरु परिग्रह, इन पांचों के त्यागी, शरीर में ममत्व रहित, प्रतिबंध रहित, काम क्रोध के त्यागी, महातपस्वी, मधुकर वृत्ति से भिक्षा लेनेवाले, इत्यादि अनेक गुण से सुशोभित हैं, वे क्या जल में स्नान न करने से पातकी हो जावेंगे? कदापि न होवेंगे। इस वास्ते साधु को देख के जुगुप्सा न करनी, जेकर करे, तो तीसरा अतिचार लगे।

प्रशंसा अतिचार

चौथा मिथ्यादृष्टि की प्रशंसारूप अतिचार है। मिथ्यादृष्टि उस को कहते हैं, जो जिनप्रणीत आज्ञा से बाहिर है। क्यों कि सर्वज्ञ के कहे हुए वचन को तो वो मानता नहीं, अरु असर्वज्ञों के कहे हुए शास्त्रों को सच्चा मानता है। उन शास्त्रों में जो अयोग्य बातें कही हैं, उनके छिपाने के वास्ते स्वकपोलकल्पित भाष्य, टीका, अर्थ बना कर के मूर्ख लोगों को बहकाते और गाल बजाते फिरते हैं। और जिन के नियम धर्म कोई नहीं, कृपण पशुओं को मारना जानते हैं, धूर्त्तपने से

सच्चा बन कर मूर्खों को मिथ्यात्व के जाल में फंसाते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि होते हैं। उन की प्रशंसा करनी। तथा जो अज्ञानी जिनाज्ञा से बाहिर हैं, उन को कहना कि ये बड़े तपस्वी हैं! महापुरुष हैं! बड़े पण्डित हैं! इन के बराबर कौन है? इनों ने धर्म की वृद्धि के वास्ते अवतार लिया है। तथा मिथ्यादृष्टि कोई व्रत यज्ञादि करे, तब तिस की प्रशंसा करे, कि तुम बड़ा अच्छा काम करते हो, तुमारा जन्म सफल है, इत्यादि प्रशंसा करे, सो चौथा अतिचार है।

पांचमा मिथ्यादृष्टि का परिचय करना अतिचार है। मिथ्यादृष्टि के साथ बहुत मेलमिलाप रक्खे, एक जगे भोजन और वास करे, इत्यादि है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के साथ बहुत मेल रखने से मिथ्यादृष्टि की वासना लग जाने से धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इस वास्ते मिथ्यादृष्टि का बहुत परिचय करना ठीक नहीं। यह पांचमा अतिचार है।

आगार

अब जब गृहस्थ को सम्यक्त्व देते हैं, तब उस को गुरु छ आगार बतलाते हैं। जेकर इन छ कारणों से तुम को कोई अनुचित काम भी करना पड़े, तो तुम को ये छ आगार रखाये जाते हैं, जिन से तुमारा सम्यक्त्व कलंकित न होवेगा। सो छ आगार कहते हैं—

प्रथम "रायाभिओगेणं"—राजा—नगर का स्वामी, जेकर वो राजा कोई अनुचित काम जोरावरी से करावे, तो सम्यक्त्व में दूषण नहीं।

दूसरा "गणाभिओगेणं"—गण नाम ज्ञाति तथा पंचायत, वे कहे, कि यह काम तुम ज़रूर करो, नहीं तो ज्ञाति, तथा पंचायत तुम को बड़ा दंड देवेगी, उस वक्त जेकर वो काम करना पड़े, तो सम्यक्त्व में अतिचार नहीं।

तीसरा "वलाभिओगेणं"—वलवंत चोर म्लेच्छादि, तिन के वश पड़ने से वो कोई अपनी जोरावरी से अनुचित काम करवावें, तो भी दूषण नहीं।

चौथा "देवाभिओगेणं"—कोई दुष्ट देवता क्षेत्रपालादि व्यंतर शरीर में प्रवेश करके अनुचित काम करावे, तो भंग नही। तथा कोई देव तो मरणांत दुःख देवे, तब मन में धैर्य न रहे, मरणांत कष्ट जान कर कोई विरुद्ध काम करना पड़े तो सम्यक्त्व में अतिचार नहीं।

पांचमा "गुरुनिग्गहेणं"—गुरु सो माता, पितादि उनके आग्रह से कुछ अनुचित करना पड़े। तथा गुरु कहिये धर्माचार्यादि तथा जिनमंदिर, सो कोई अनार्य गुरुको संकट देता होवे, तथा जिनमंदिर को तोड़ता होवे जिनप्रतिमा को खण्डन करता होवे; सो गुरु निग्रह है। तिनों की रक्षा के वास्ते कोई अनुचित काम करना पड़े, तो सम्यक्त्व में दूषण नहीं।

छठा "वित्तिकंतारेणं"—जब दुष्कालादि आपदा आ पड़े तब आजीविका के वास्ते किसी मिथ्यादृष्टि के अनुसार चलना पड़े तथा आजीविका के वास्ते कोई विरुद्ध

आचरण करना पड़े तो दूषण नहीं। एक तो यह छः वस्तु के आगारों को छ छंडी कहते हैं। तथा चार आगार और भी हैं, सो कहते हैं:—

१. "अन्नत्थणाभोगेणं"—कोई कार्य अजान पने–उपयोग दिये विना और का और हो जावे, अरु जब याद आ जावे, तब वो कार्य फिर न करे।

२. "सहस्सागारेणं"—अकस्मात् कोई काम करे, अपने मन में जानता है, यह काम मैंने नहीं करना, परन्तु योगों की चपलता से तथा नित्य के बहुत अभ्यास से जानता हुआ भी यदि विरुद्ध कार्य हो जावे, तो सम्यक्त्व में भंग नहीं।

३. "महत्तरागारेणं"—कोई मोटा लाभ होता है, परन्तु सम्यक्त्व में दूषण लगता है, तथा किसी मोटे ज्ञानी की आज्ञा से कमो वेशी करना पड़े, तो यह भी आगार हैं।

४. "सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं"—सर्व समाधिव्यत्यय से किसी बड़े सन्निपातादि रोगों के विकार से बावरा हो जावे, तथा अतिवृद्ध हो जाने से स्मृतिभंग हो जावे, तथा रोगादि के आने पर मन में आर्त्तध्यान हो जाने से, तथा सर्पादि के डंक मारने से, इत्यादि असमाधि में यह आगार है। इस में सम्यक्त्व तथा व्रत भंग नहीं होता है। परन्तु किसी मूर्ख के कहे सुने से आर्त्तध्यान में प्राण त्यागने योग्य नहीं।

कितनेक जिनमत के अनभिज्ञों का यह भी कहना है, कि

चाहे कुछ हो जावे, तो भी जो नियम लिया है, उस को कभी तोड़ना न चाहिये। परन्तु यह कहना सर्वथा ठीक नहीं; क्योंकि जब पहिले ही आगार रक्खे गये, तो फिर व्रतभंग क्योंकर हुआ? अरु जो आर्त्तध्यान में मर जाते हैं, अरु आगार नहीं रखते हैं, वे जिन मार्ग की शैली से अज्ञान हैं। इस वास्ते छः छंडी अरु चार आगार, सर्व बारों ही व्रतों में जानने। अरु साधु के सर्व प्रत्याख्यानों में अनशन पर्यंत यही चार आगार जानने।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय-शिष्य मुनि आनंदविजय-आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे सप्तमः परिच्छेदः संपूर्णः ॥

अष्टम परिच्छेद

इस परिच्छेद में चारित्र का स्वरूप लिखते हैं:—

चारित्र धर्म के दो भेद हैं। एक सर्वचारित्र, दूसरा देशचारित्र, उस में सर्वचारित्र धर्म तो साधु में होता है, तिस का स्वरूप गुरुतत्त्व परिच्छेद में लिख आये हैं। तहां से जान लेना। अरु देश चारित्र के बारह भेद हैं, सो गृहस्थ का धर्म है। अब बारह व्रतों का किंचित् स्वरूप लिखते हैं; तिन में प्रथम स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत का स्वरूप लिखते हैं।

प्राणातिपात विरमणव्रत

प्रथम प्राणातिपातविरमण व्रत के दो भेद हैं। एक द्रव्यप्राणातिपातविरमण व्रत, दूसरा भावप्राणतिपातविरमण व्रत। तिन में द्रव्यप्राणातिपातविरमण व्रत ऐसा है, कि पर जीवों को अपनी आत्मा समान जान कर तिन के दश द्रव्यप्राणों की रक्षा करे। यह व्यवहार दयारूप है। तथा दूसरा भावप्राणातिपातविरमण व्रत—सो अपना जीव कर्म के वश पड़ा हुआ दुःख पाता है, अपने जो भाव प्राण—ज्ञान, दर्शन, चारित्रादिक, तिन का मिथ्यात्व कषायादिक अशुद्ध प्रवर्त्तन से प्रतिक्षण घात हो रहा है, सो अपने जीव को कर्म शत्रु से छुड़ाने के वास्ते उपाय करना। सो उपाय यह है-कि आत्मरमणता करे, परभावरमणता को त्यागे, शुद्धोपयोग में प्रवर्त्ते, कर्म के उदय में अव्यापक रहे, एक

स्वभावमग्नता, यही समस्त कर्मशत्रु के उच्छेद करने को अमोघ शस्त्र हैं। एतावता सकल परभाव की इष्टता दूर करी, स्वरूप सन्मुख उपयोग रक्खे, तिस का नाम भावप्राणातिपात विरमणव्रत कहिये। इसी का नाम भाव दया है। इहां स्थूल नाम मोटा–दृष्टिगोचर, हाले चाले, ऐसा जो त्रस जीव तिस को संकल्प करके न हनूंगा।

हिंसा के भेद

हिंसा चार प्रकार की हैं। एक आकुट्टि–सो निषिद्ध वस्तु को उत्साह से करना, जैसे संपूर्ण फल का भड़था करना श्रावक के वास्ते निषिद्ध हैं। अरु जिस ने जितने फल खाने में रक्खे हैं, उन फलों में से भी किसी फल का भडथा नहीं करना। अरु जो मन में उत्साह धरके भडथा करे, तो आकुट्टि हिंसा होवे। दूसरी दर्पहिंसा–सो चित्त के उन्मत्तपने से मन में गर्व धरके दौडे, जैसे गाडी घोडा प्रमुख दौडते हैं; तो दर्पहिंसा होवे। तीसरी संकल्प हिंसा–जान कर काम भोग में तीव्र अभिलाषा से काम का जोश चढ़ाने के वास्ते त्रस जीव की हिंसा करे, किसी जीव को मार कर गोली, माजून प्रमुख बना कर खावे। चौथी प्रमाद हिंसा—सो अपने घर का काम काज—रांधना पीसना आदि करते समय त्रस जीव की हिंसा हो जावे। इन चारों हिंसाओं में प्रथम हिंसा तो बिलकुल नहीं करनी। तिस वास्ते यहां संकल्प करे आकुट्टि तथा दर्प करके त्रस जीव के हनने का त्याग करे। जैसे

कि यह कि यह कीड़ी जाती है, इस को मैं मारूं? ऐसा संकल्प करके हने हनावे, तिस को आकुट्टि संकल्प कहते हैं। इस वास्ते निरपराध जीवों को विना कारण के न हनूँ न हनाऊं, ऐसा संकल्प करे। तथा सांसारिक आरंभ समारम्भ करते समय तथा पुत्रादि के शरीर में कीड़े आदि जीव उत्पन्न होवें, तदा औषधादि करते समय यत्न से उपचार करे। तथा घोड़ा, वलद प्रमुख को चावुकादि मारना पड़े तो उसका आगार रक्खे। तथा पेट में कृमि, गंडोला, तथा पग में नहरवा अर्थात् वाला, हरस, चमजूं प्रमुख अपने शरीर में उपजे, तथा मित्रादि के—स्वजनादि के शरीर में उपजे, तिस के उपचार करने की यतना रक्खे। क्योंकि साधु को तो त्रस अरु स्थावर, सूक्ष्म अरु वादर, सर्व जीवों की हिंसा का नवकोटी विशुद्ध प्रमाद के योगों से त्याग है। इस वास्ते साधु को तो वीस विसवा दया है, परन्तु गृहस्थ से तो केवल सवा विसवा दया पल सकती है। सो शास्त्रकार लिखते हैं:—

जीवा सुहुमा थूला, संकप्पारंभओ भवे दुविहा।
सवराह निरवराहा, सावेक्खा चेव निरविक्खा॥

अर्थः—जगत् में जीव दो प्रकार के हैं, एक थावर, दूसरे त्रस। तिन में थावर के दो भेद हैं, एक सूक्ष्म, दूसरा वादर। तिनों में सूक्ष्म जीवों की तो हिंसा होती ही नहीं, क्योंकि अति

मर्यादित अहिंसा

सूक्ष्म जीवों के शरीर को वाह्य शस्त्र का घाव नहीं लगता है। परन्तु इहां तो सूक्ष्म शब्द, स्थावर जीव—पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन और वनस्पतिरूप जो वादर पांच थावर हैं, तिन का वाचक है। अरु स्थूल जीव द्वींद्रिय, तींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय जानना। इन दोनों भेदों में सर्व जीव आ गये। तिन सर्व की शुद्ध त्रिकरण से साधु रक्षा करता है। इस वास्ते साधु के वीसवा दया है। अरु श्रावक से तो पांच थावर की दया पलती नहीं है। क्योंकि सचित्त आहारादि के करने से अवश्य हिंसा होती है। इस से दश विसवा दया तो दूर हो गई, और शेष दश विसवा रह गई, एतावता एक त्रस जीव की दया रह गई। उस त्रसजीव की हिंसा के भी दो भेद हैं, एक संकल्प से हनना, दूसरा आरंभ से हनना। तिस में आरम्भ हिंसा का तो श्रावक को त्याग नहीं है, किंतु संकल्प हिंसा का त्याग है। अरु आरम्भ हिंसा में तो केवल यत्न है, त्याग नहीं है, क्योंकि आरम्भ हिंसा तो श्रावक से होती है। इस वास्ते दश विसवा में से पांच विसवा फिर जाता रहा, एतावता संकल्प करके त्रस जीव हिंसा का त्याग है। फिर इस के भी दो भेद हैं, एक सापराध है, दूसरा निरपराध है। तिन में जो निरपराध जीव हैं, उसको नहीं हनना, अरु साप-राध जीव को हनने की जयणा–यतना है। इस वास्ते साप-राध जीव की दया सदा सर्वथा श्रावक से नहीं पलती।

क्योंकि घर में से चोर चोरी करके वस्तु लिये जाता है, सो विना मारे कूटे छोड़ता नहीं। तथा श्रावक की स्त्री से कोई अन्य पुरुष अनाचार सेवता हुआ देखने में आवे, तो तिस को मारना पड़े। तथा कोई श्रावक राजा का नौकर है, तथा राजा के आदेश से युद्ध करने को जावे, तब प्रथम तो श्रावक शस्त्र चलावे नहीं, परन्तु जब शत्रु शस्त्र चलावे, मारने को आवे, तब तिस को मारना पड़े। तथा सिंहादि जानवर खाने को आवें, तब उनको मारना पड़े। तब तो संकल्प से भी हिंसा का त्याग नहीं हो सकता। इस वास्ते पांच विसवा में से भी अर्द्ध जाता रहा, पीछे अढाई विसवा दया रह गई। अर्थात् मात्र निरपराध त्रस जीव दृष्टि-गोचर आवे, तिस को न मारूं; यह नियम रहा। इस के भी दो भेद हैं; एक सापेक्ष, दूसरा निरपेक्ष। इन में भी सापेक्ष निरपराध जीव की श्रावक से दया नहीं पलती है, क्योंकि श्रावक जब आप घोड़ा, घोड़ी, बैल, रथ, गाड़ी प्रमुख की सवारी करके घोड़ादिक को हांकता है, और घोड़े आदिक को चाबुकादि मारता है। यहां घोड़े, तथा बैला-दिकोंने इस का कुछ अपराध नहीं करा है। उनकी पीठ पर तो वह चढ़ रहा है, अरु यह मानता नहीं कि इन बिचारे जीवों की चलने की शक्ति है, कि नहीं है! जब वे जीव हलुवे चलते हैं तथा नहीं चलते हैं, तब अज्ञान के उदय से उनको गालियां देता है, और मारता भी है, यह

निरपराध को भी दुःख देता है। तथा अपने शरीर में, तथा अपने पुत्र, पुत्री, न्याती, गोती के मस्तक में तथा कर्णादि अवयव में तथा अपने मुखके दांत में कीड़ा आदि पड़े, तो तिन के दूर करने के वास्ते कीड़ों की जगा में औषधि लगानी पड़ती है। इन जीवों ने श्रावक का कुछ अपराध भी नही करा है, क्योंकि वो विचारे अपने कर्मों के वश से ऐसी योनि में उत्पन्न हुए हैं, कुछ श्रावक का बुरा करने की भावना से उत्पन्न नहीं हुए हैं। परन्तु उनकी हिंसा भी श्रावक से त्यागी नहीं जाती है। इस वास्ते फिर अर्द्ध जाता रहा, शेष सवा विसवा की दया रह गई। यह सवा विसवा दया भी जो शुद्ध श्रावक होवे, सो पाल सकता है। एतावता संकल्प से निरपराध त्रस जीवों को कारण के विना हनूं-मारूं नहीं, यह प्रतिज्ञा जहां लगी अपनी शक्ति रहे, तहां लगी पाले। निर्ध्वंसपना न करे, सदा मन में यह भावना रक्खे, कि मेरे से कोई जीव मत मर जाय।

यतना का स्वरूप

तथा घर में आरम्भ करते भी यत्न करे। तथा जो लकड़ी जलाने वास्ते लेवे, सो सड़ी हुई न लेवे; किन्तु आगे को जिस में जीव न पड़े, ऐसी पक्की, सूखी लकड़ी लेवे, और रसोई के वक्त लकड़ी को झटका कर जीव रहित करके जलावे। तथा घी, तेल, मीठा प्रमुख रसभरी वस्तु के वासन का मुख बांध कर यत्न से रक्खे, उघाड़ा न रक्खे।

तथा चूल्हे के ऊपर अरु पानी के स्थान पर चन्द्रवा अर्थात् छत पर कपड़ा ताने। तथा खाने को जो अन्न लावे, सो भींजा हुआ न लावे, शुद्ध नवा अन्न खाने को लावे। कदापि एक वर्ष के उपरांत का अन्न लावे, तो जिस में जीव न पड़े होवें, सो अन्न लावे। तथा पानी के छानने के वास्ते बहुत गाढा दृढ वस्त्र रक्खे। एक प्रहर पीछे पानी को फिर छान लेवे, जो जीव निकले, उसको, जिस कुंवे का पानी होवे, उसी में डाल देवे। तथा वर्षा ऋतु में बहुत से जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, तिस वास्ते गाड़ी रथ की सवारी न करे। क्योंकि जहां चक्र फिरता है, तहां असंख्य जीवों का विध्वंस होता है। हरिकाय, बहुबीज फल, त्रस संयुक्त फल न लावे। तथा खाट में माकड़ प्रमुख जीव पड़ जाते हैं, इस वास्ते धूप में न रक्खे किन्तु दूसरी खाट बदल लेवे। तथा सड़ा हुवा अन्न धूप में न रक्खे, जूठा पानी–अन्न के संसर्ग वाला मोरी में न गेरे, क्योंकि मोरी में बहुत से जीव उत्पन्न हो जाते हैं, अरु मोरी के सड़ जाने से घर में बीमारी हो जाती है। तथा चैत्रवदि एकम से लेकर, पत्तों वाला शाक आठ मास तक न खावे। क्योंकि पत्रशाक में बहुत त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उसमें एक तो त्रस जीवों की हिंसा होती है, अरु दूसरे उन त्रस जीवों के खाने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अरु शीत काल में एक मास तथा उष्णकाल में बीस दिन, तथा वर्षा ऋतु में पंदरह

दिन के उपरांत की बनी हुई मिठाई–पक्वान न खावे; क्योंकि उसमें त्रस स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं, अरु खाने वाले को रोगोत्पत्ति भी हो जाती है। तथा बासी अन्न–रोटी आदि न खावे, क्योंकि इन में जीवोत्पत्ति हो जाती है, रोग भी हो जाता है। और बुद्धि मंद हो जाती है। तथा घर में सावरनी अर्थात् बुहारी कोमल सण आदि की रक्खे, जिस से कि जीव न मरे। तथा स्नान भी बहुत जल से न करे, अरु रेतली भूमिका में करे, तथा मोटी परात में बैठ कर स्नान करे, और स्नान का पानी मैदान में थोड़ा थोड़ा करके गेर देवे। मोरी पर बैठ के स्नान न करे। तथा जहां तक थोडे पाप वाला व्यापार मिले, तहां लग महापापकारी व्यापार या नौकरी आदिक न करे। तथा किसी का हक़ तोड़े नहीं। घर में जूठे अन्न का पानी दो घड़ी के उपरांत न रक्खे, क्योंकि उसमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं। तथा जो वस्तु उठावे, तथा रक्खे तब पहिले उस जगाको नेत्रों से देख लेवे, पूंछ लेवे, पीछे से वस्तु रक्खे। मोटी मोरी में जल नहीं गेरे। तथा दीवा बत्ती जलावे, तो फानसादि के यत्न से जीव की रक्षा करे। तथा जिस पात्र से पानी पीवे तो, फिर वो जूठा पात्र जल में न डबोवे, क्योंकि उससे मुख की लाल लगने से जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अरु बहुतों की जूठ खाने पीने से बुद्धि संक्रमण हो जाती है। अरु कई एक रोग ऐसे हैं कि, जिस रोगी का जूठा खावे पीवे,

उस रोगी का खाने पीनेवाले को लग जाता है; जैसे कि कुष्ट, क्षय, रेजश, शीतला वगैरह। इस वास्ते सारी वस्तु झूठी नहीं करनी। तथा बहुतों के साथ एकठा न खावे। और मटके में से पानी काढ़ने के वास्ते दंडीदार काठ का चट्टू रक्खे। इत्यादि शुद्ध व्यवहार में प्रवर्त्ते, तो श्रावक के दया सवा विसवा होवे। इसी रीति से श्रावक का प्रथम व्रत शुद्ध है। इस व्रत के पांच अतिचार अर्थात् पांच कलंक हैं, तिन को वर्जे। सो लिखते हैं।

प्रथम वध अतिचार—क्रोध के उदय से अरु बल के अभिमान से निर्दय होकर गाय, घोड़ा प्रमुख को कूटे, मार के चलावे।

दूसरा बंध अतिचार—गाय, बलद, बछड़ा प्रमुख जीवों को कठिन–ज़बरदस्त बंधन से बांधे, वो जीव कठिन बंधन से अति दुःख पाते हैं, कदाचित् अग्नि का भय होवे तो जल्दी छूट नहीं सकते, और मर भी जाते हैं। इस वास्ते कठिन बंधन भी अतिचार हैं। अतः जानवर को ढीले बंधन से बांधना चाहिये। तथा कोई गुनेगार मनुष्य होवे, उस को भी निर्दय हो कर गाढ़े बंधन से न बांधना चाहिये।

तीसरा छविच्छेद अतिचार—बैल प्रमुख का कान, नाक, छिदावे, नत्थ गेरे, खस्सी करे।

चौथा अतिभारारोपण अतिचार—बैल प्रमुख के ऊपर जितना भार लादने की रीति है, तिस से अधिक भार लादे,

तब अतिभारारोपण अतिचार होता है। श्रावक को तो सदा जिस बैल, रासभ, गाड़ी प्रमुख में जितना भार लादते होवें, उस से भी पांच सेर, दस सेर, कम लादना चाहिये, तभी व्रत शुद्ध रहेगा। उसमें भी जेकर किसी जानवर की चलने की शक्ति कम होवे, तब विवेकी पुरुष तो तिस भार को भी थोड़ा कर देवे। अरु जानवर दुर्बल होवे तो तिस के घास दाने की पूरी खबर लेवे। परन्तु मन में ऐसा विचार न करे, कि सर्व लोक जितना भार लादते हैं, तिन के बराबर मैं भी लादता हूं, यह तो व्यवहार शुद्ध है। किन्तु अधिक बोझ होवे, तो और भाड़ा कर लेवे। श्रावकों का यह व्यवहार है।

पांचमा अतिचार भात-पानी का व्यवच्छेद करना—जो बलद घोड़े के खाने योग्य होवे, सो बन्द कर देवे, अथवा उसमें से कछुक काढ़ लेवे, अरु खाने का समय लंघा कर पीछे खाने को देवे, तो अतिचार लगे। तथा किसी की आजीविका—नौकरी बन्द करे, वो भी इसी अतिचार में है। श्रावक तो दासी, दास, कुटुम्ब, चौपाये, बैलादि, इन सर्व के खाने पीने की खबर ले के पीछे आप भोजन करे। उपलक्षण से हिंसाकारी मन्त्र, तन्त्रादि किसी को करे, वे भी अतिचार जानने। यह पांच अतिचार, श्रावक जान तो लेवे, परन्तु करे नहीं।

इन बारह व्रतों के सर्व अतिचार भंग होने के संभवा-

संभव की विशेष चर्चा देखनी होवे, तो धर्मरत्न प्रकरण की श्रीदेवेंद्रसूरिकृत टीका है, सो देख लेनी, इहां तो मैं केवल अतिचार ही लिखूंगा।

मृषावादविरमण व्रत

अथ दूसरे स्थूलमृषादविरमण व्रत का स्वरूप लिखते हैं। स्थूल नाम है मोटे का, उस मोटे झूठ का विरमण—त्याग करना। क्योंकि झूठ बोलने से जगत् में उसकी अप्रतीति हो जाती है, अपयश होता है, धर्म की निंदा होती है। तथा अपने मतलब के वास्ते कमो वेश करने का जो त्याग, उसको मृषावादविरमणव्रत कहते हैं। तिस मृषावाद के दो भेद हैं, एक द्रव्यमृषावाद, दूसरा भावमृषावाद। तिन में जो जान कर तथा अजानपने से झूठ बोले, सो द्रव्यमृषावाद है। तथा सर्व परभाव वस्तु को अर्थात् पुद्गलादि जड़ वस्तु को आत्मत्व बुद्धि करके अपना कहे; तथा राग, द्वेष और कृष्णादि लेश्या से आगमविरुद्ध बोले; शास्त्र का सच्चा अर्थ कुयुक्ति से नष्ट करे; उत्सूत्र बोले; उसको भावमृषावाद कहते हैं।

यह व्रत सर्वव्रतों में मोटा है। इसके पालने में बहुत शुद्ध उपयोग और होशयारी चाहिये। क्योंकि प्रथम व्रत में तो जीव मात्र के जानने से दया पल सकती है। अरु दूसरों की वस्तु को विना दिये न लेने से अदत्तविरमण तीसरा व्रत पल जाता है। तथा स्त्री मात्र का संग त्यागने से चौथा

व्रत पालता है। तथा नवविध परिग्रह के त्यागने से परिग्रह-व्रत भी पलता है। इसी तरे एक एक द्रव्य के जानने से यह चारों व्रत पाले जाते हैं। परन्तु मृषावादविरमण व्रत तो जहां लगि षड्द्रव्य की गुणपर्याय से तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अच्छी तरे से पिछाण न होवे, सम्मति प्रमुख द्रव्यानुयोग के शास्त्र न पढ़े, बहुत निपुण ज्ञानवान् न होवे, तहां तक पालना कठिन है। क्योंकि एक पर्यायमात्र विरुद्ध भाषण करने से भी यह व्रत भङ्ग हो जाता है। इसी वास्ते साधुओं को बहुत बोलना शास्त्र में निषेध करा है। इन पूर्वोक्त चारों महाव्रतों में से एक महाव्रत जेकर भङ्ग हो जावे, तब तो चारित्र भङ्ग होवे, अरु नहीं भी भङ्ग होवे। क्योंकि जेकर एक ही कुशील सेवे, तो सर्वथा चारित्र भङ्ग होवे, और शेष व्रतों के खण्डन से देश भङ्ग होवे, सर्वथा भङ्ग नहीं होवे, यह व्यवहार भाष्य में कहा है। परन्तु उस का ज्ञान दर्शन भङ्ग नहीं होवे। अरु जब मृषावादविरमण व्रत का भङ्ग होवे, तब तो ज्ञान, दर्शन अरु चारित्र, यह तीनों ही जड़मूल से जाते रहते हैं। जीव मर कर दुर्गति में जाता है, अनंत संसारी, दुर्लभबोधी हो जाता है। इस वास्ते जेकर यह व्रत पालना होवे, तो षड्द्रव्य के गुण पर्याय जानने में अति उद्यम करे। जेकर बुद्धि की मन्दता होवे, तब गीतार्थ के कहने के अनुसार श्रद्धा की प्ररूपणा करे। क्योंकि द्रव्यमृषावाद के त्यागी जीव तो

षड्दर्शन में भी हो सकते हैं, परन्तु भावमृषावाद का त्यागी तो एक श्रीजिनेंद्रदेव के मत में ही मिलेगा। जो जीव, श्रद्धा-रुचि को शुद्ध धारेगा, सोई भावमृषावाद का त्यागी होवेगा। इस मृषावाद के पांच मोटे भेद हैं, सो श्रावक को अवश्य वर्जने चाहियें। सो कहते हैं:—

मृषावाद के पांच भेद

प्रथम कन्यालीक—अपने मिलापी की कन्या है, उसकी सगाई होने लगी होवे, तब कन्या के लेने वाले पूछें कि यह कन्या कैसी है? तब वो मिलापी की प्रीति से उस कन्या में जो दूषण होवे, सो छिपावे, गुण न होवे, तो भी अधिक गुणवाली कह देवे। जैसे कि यह कन्या निर्दोष है, ऐसी कुलवती, लक्षणवती साक्षात् देवांगना समान तुम को मिलनी मुशकिल है। तथा जेकर मिलापी के साथ द्वेष होवे, तदा वो कन्या जो निर्दोष और लक्षणवती होवे, तो भी कहे कि इस कन्या में अच्छे लक्षण नहीं हैं, विडालनेत्री है, इसके साथ जो संबंध करेगा, वो पश्चात्ताप करेगा, ऐसे अनहोये दूषण बोल देवे। यह कन्यालीक है। प्रथम तो व्रतधारी श्रावक किसी की सगाई के झगड़े में पड़े ही नहीं, अरु जेकर अपना संबंधी मित्रादिक होवे, वो पूछे, तब यथार्थ कहे, कि भाई! तुम अपना निश्चय कर लो, क्योंकि जन्म पर्यंत का संबंध है। ऐसे कहे, परन्तु झूठ न बोले। कन्यालीक में उपलक्षण से सर्व दो पग वाले का झूठ न बोले।

दूसरा गवालीक—सर्व चौपद—हाथी, घोड़ा, वलद, गाय, भैंस प्रमुख सम्बंधी झूठ न वोले।

तीसरा भूम्यलीक—दूसरे की धरती को अपनी कहे, तथा और की भूमि को और की कहे। तथा घर, हवेली, वाड़ी, वाग, वगीचा वृक्षादिक सम्बंधी तथा सर्व परिग्रह संवंधी भी झूठ न वोले।

चौथा थापणमोसा का झुठ–कोई पुरुष श्रावक को प्रतीति वाला जान कर, उसके पास विना साक्षी तथा विना लिखत करे कोई वस्तु रख गया है, फिर वो मांगने आवे, तव मुकर न जावे, जैसे कि मैं तुम को जानता ही नहीं, तुम कौन हो? ऐसा झूठ वोल के उसकी वस्तु रख लेवे। यह भी श्रावकने नहीं करना।

पांचमा झूठी साक्षी भरनी–सो दो जने आपस में झगड़ते हैं, तिस में झूठे पासों धन लेकर अथवा उसके लिहाज़ से झूठी गवाही देनी। यह भी काम श्रावक ने नहीं करना। इस व्रत के भी पांच अतिचार श्रावक वर्जे।

प्रथम सहसाभ्याख्यान अतिचार–विना विचारे किसी को कलंक देना–तू व्यभिचारी है, झूठा है, चोर है, इत्यादि कहना। जेकर श्रावक किसी का प्रगट कोई अवगुण देखे, तो भी अपने मुख से न कहे, तो फिर कलंक देना, तो महापाप है, सो कैसे करे?

दूसरा रहसाभ्याख्यान अतिचार—कई एक पुरुष एकांत

में बैठ कर कुछ मता करते हों। उन को देख के कहे, कि तुम राजविरुद्ध मता करते हो, ऐसा कह कर उनकी भंडी करे, राजदण्ड दिलावे।

तीसरा स्वदारमंत्रभेद अतिचार—अपनी स्त्री ने कोई गुप्त बात अपने पति से कही है, वो बात लोको में प्रगट करे, उपलक्षण से भाई प्रमुख की कही बात को प्रगट करे। क्योंकि लज्जनीय बात के प्रगट होने से स्त्री आदि कूपादिक में डूब मरती हैं।

चौथा मृषा उपदेश अतिचार—दूसरों को झूठी वस्तु के करने का उपदेश करे, तथा विषय सेवने के चौरासी आसन सिखावे, तथा दूसरों को दुःख में पड़ने का उपदेश करे; वीर्य पुष्ट होने की औषधि बतलावे, जिस से वो बहुत विषय सेवें। जिस से विषयकषाय अधिक उत्पन्न होवें, ऐसा उपदेश करे।

पांचमा कूटलेखकरण अतिचार—किसी के नाम का झूठा पत्र, बही बना लेना, अगले अंक को तोड़ के और बना देना, तथा अक्षर खुरच देना, झूठी मोहर छाप बना लेनी, इत्यादि कूट लेख अतिचार हैं। इन पांच अतिचार अरु पांच प्रकार के पूर्वोक्त झूठ को नरकादि गति के कारण जान कर श्रावक वर्ज देवे।

तीसरा स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत लिखते हैं। प्रथम

अदत्तादान विरमणव्रत

मोटी चोरी—भींत फोडी कुंभल देकर अथवा एकले को रस्ते में छल बल करके ठग लेना। जबरदस्ती से किसी की वस्तु खोस लेनी। नज़र बचा के किसी की वस्तु उठा लेनी। अरु कोई वस्तु धर गया हो, जब वो मांगने आवे तब, मुकर जावे। तथा हीरा, मोती, पन्ना प्रमुख झूठे सच्चे का अदल बदल कर देवे, इत्यादि अदत्तादान अर्थात् चोरी का स्वरूप है। इस के करने से परलोक में खोटी नरकादि गति प्राप्त होती है। अरु इस लोक में भी प्रगट हो जावे, तो राज दण्ड, अपयश, अप्रतीति होवे, इस वास्ते श्रावक अदत्तादान का त्याग करे। इस अदत्तादान व्रत के दो भेद हैं। प्रथम द्रव्य अदत्तादानविरमण व्रत—सो पूर्वोक्त प्रकार से दूसरों की वस्तु पडी और विसरी हुई लेवे नहीं, सो द्रव्य अदत्तादान-विरमणव्रत जानना। दूसरा भाव अदत्तादान-विरमण व्रत—सो पर जो पुद्गल द्रव्य, तिस की जो रचना—वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि रूप तेवीस विषय, तथा आठ कर्म की वर्गणा। यह सर्व पराई वस्तु हैं, सो वस्तु तत्त्वज्ञान में जीव को अग्राह्य है, तिस की जो उदय भाव करके वांछा करनी, सो भाव चोरी है। तिस को जिनागम के सुनने से त्यागना, पुद्गलानंदीपना मिटाना, सो भाव अदत्तादान-विरमणव्रत कहिये। अतः जो जो कर्मप्रकृति का बंध मिटा है, सो भाव अदत्तविरमणव्रत है। सामान्य प्रकार से

अदत्त के चार भेद हैं:—

अदत्त के चार भेद

१. किसी की वस्तु बिना दिये ले लेनी, इस का नाम स्वामी अदत्त है । २. सचित्त वस्तु अर्थात् जीववाली वस्तु—फूल, फल, बीज, गुच्छा, पत्र कंद, मूलादिक, तथा बकरा, गाय, सूअर आदिक, इन को तोड़े, छेदे, भेदे, काटे, सो जीव अदत्त कहिये । क्योंकि फूलादि जीवों ने अपने शरीर के छेदने भेदने की आज्ञा नहीं दीनी है, कि तुम हम को छेदो भेदो, इस वास्ते इसका नाम जीव अदत्त है । ३. जो वस्तु तीर्थंकर अर्हंत ने निषेध करी है, तिसका जो ग्रहण करना । जैसे साधु कों अशुद्ध आहार लेने का निषेध है, अरु श्रावक को अभक्ष्य वस्तु ग्रहण करने का निषेध है । सो इन पूर्वोक्त को ग्रहण करे, तो इस का नाम तीर्थंकर अदत्त है । ४. गुरु अदत्त—जैसे कोई साधु शास्त्रोक्त निर्दोष आहार व्यवहार शुद्ध लावे, पीछे उस आहार को जो गुरु की आज्ञा विना खावे, सो गुरु अदत्त है ।

यह चारों अदत्त संपूर्ण से रीति तो जैन का यति ही त्याग सकता है, गृहस्थ से तो एक स्वामी अदत्त ही त्यागा जाता है, इस वास्ते इसी की यहां मुख्यता है । तिस वास्ते पराई वस्तु पूर्वोक्त प्रकार से लेनी नहीं । जेकर ले लेवे, तो चोर नाम पड़े; राजदण्ड होवे; अपयश अप्रतीति होवे; इस वास्ते न लेनी चाहिये । अरु जिस वस्तु की बहुत मनाई

नहीं है, लेने से चोर नाम नहीं पड़ता है, तिस की जयणा करे। अरु किसी की गिरी पड़ी वस्तु मिल जावे, पीछे जेकर जान जावे कि यह वस्तु अमुक की है, तब तो उस को दे देवे। जेकर उस वस्तु के स्वामी को न जाने, अरु अपना मन दृढ रहे तो लेवे नहीं। अरु कदाचित् बहुमोली वस्तु होवे, अरु मन दृढ न रहे, तो उस वस्तु को लेकर अपने पास कितनेक दिन रक्खे। जेकर उसका मालिक कोई जान पड़े तो उसको दे देवे, जेकर उसका स्वामी कोई मालूम न पड़े तो धर्मखाते में उस धन को लगा देवे। जेकर लोभ अधिक होवे, तो आधा धर्म में लगा देवे। तथा अपनी ज़मीन को खोदते हुए तिस में से धन निकल आवे, तो रखने का आगार है। परन्तु इसमें भी आधा भाग अथवा चौथा हिस्सा धर्म में लगावे। तथा दूसरे की जगा मोल से ली होवे, उसमें से, खोदते हुए धन निकल आवे, जेकर मन में संतोष होवे, तब तो उस मकानवाले को वो धन दे देवे; जेकर लोभ होवे, तब आधा धर्म में लगावे, अरु आधा अपने पास रक्खे। तथा कोई पुरुष अपने पास धन रख कर, पीछे से मर गया होवे, अरु उसका कोई वारिस न होवे, तब श्रावक उस धन को पंचों के आगे ज़ाहिर करे, जो कुछ पंच कहें, सो करे। कदापि देश काल की विषमता से उस धन को ज़ाहिर करते कोई राज सम्बंधी क्लेश उठता मालूम पड़े, कोई दुष्ट राजा लोभ के वश से कहे, कि तेरे घर में और भी ऐसा धन

है, इत्यादि होवे, तब तो मौन करके उस धन को धर्मस्थान में लगा देवे।

तथा घर की चोरी यह है—घर की सर्व वस्तुओं के मालिक माता पिता हैं, तिन के पूछे विना धन वस्त्रादि लेने की जयणा रक्खे। अथवा जिस के साथ प्रेम होवे, तथा जो संबंधी होवे, जिस के घर में जाने आने का अरु खाने पीने का व्यवहार होवे; उसके विना पूछे कोई फलादि वस्तु खाने में आवे, उसका आगार रक्खे। परन्तु जेकर उस वस्तु के खाने से मालिकों का मन दुःखे, तो न लेवे। इस रीति से तीसरा व्रत पाले। यह व्यवहार शुद्ध अदत्तादान-विरमण व्रत है।

निश्चय से तो जितना अबंधपरिणाम हुआ अर्थात् गुण-स्थान की वृद्धि होने से बंध का व्यवच्छेद हुआ है, सो निश्चय अदत्तादानविरमण व्रत कहिये। इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं, सो कहते हैं।

प्रथम स्तेनाहृत अतिचार—चोर की चुराई हुई जो वस्तु तिस को स्तेनाहृत कहते हैं। सो वस्तु न लेवे, एतावता चोरी की वस्तु जान करके न लेवे। क्योंकि जो चोरी की वस्तु जान कर लेता है, वो लेनेवाला भी चोर है। क्योंकि जैनमत के शास्त्रों में सात प्रकार के चोर लिखे हैं। यथाः—

चौरश्चौरापको मन्त्री, भेदज्ञः काणकक्रयी ।
अन्नदः स्थानदश्चैव, चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥
[धर्म० प्र० टीका में संगृहीत]

दूसरा प्रयोग अतिचार—चोरी करनेवालों को प्रेरणा करनी जैसे कि अरे ! तुम चुपचाप निर्व्यापार आज कल क्यों बैठे रहे हो ? जेकर तुमारे पास खरचा न होवे, तो मैं देता हूं, अरु तुमारी लाई हुई वस्तु मैं वेच दूंगा, तुम चोरी करने के वास्ते जाओ, इत्यादि वचनों करके चोरों को प्रेरणा करनी ।

तीसरा तत्प्रतिरूपक व्यवहार अतिचार—सरस वस्तु में नीरस वस्तु मिला कर वेचे, जैसे केसर में कसुंभादि मिला कर वेचे, घी में छाछादि, हींग में गूंदादि, खोटी कस्तूरी खरी करके वेचे, अफयून में खोंट मिलावे, पुराणा वस्त्र रंगा कर नवे के भाव वेचे, रूई को पानी से भिगो कर वेचे, दूध में पानी मिला के वेचे, इत्यादि करे ।

चौथा राजविरुद्धगमन अतिचार—अपने गाम के वा देश के राजा ने आज्ञा दी, कि फलाने गाम में जाना नहीं, इत्यादि जो राजा की आज्ञा है, उसका उल्लंघन करना, वैरी राजा के देश में अपने राजा के हुकुम के विना जाना ।

पांचमा कूट तोलमान अतिचार—खोटा तोल, माप, करने का अतिचार है । कमती तोल से तो देना, अरु अधिक तोल से लेना ।

चौथा मैथुन त्याग व्रत कहते हैं—सो मैथुन सेवने का त्याग करना है। इस व्रत के दो भेद हैं, एक द्रव्य मैथुनत्याग, दूसरा भाव मैथुनत्याग। उसमें द्रव्य मैथुन तो परस्त्री तथा परपुरुष के साथ संगम करना है। सो पुरुष स्त्री का त्याग करे, अरु स्त्री पुरुष का त्याग करे, रतिक्रीडा—कामसेवन का त्याग करे तिस को द्रव्य ब्रह्मचारी तथा व्यवहार ब्रह्मचारी कहिये। भाव मैथुन-सो एक चेतन पुरुष के विषयविलास परपरिणतिरूप, तथा तृष्णा ममता रूप, इत्यादि कुवासना, सो निश्चय परस्त्री को मिलना तिस के साथ लालन पालनरूप कामविलास करना, सो भावमैथुन जानना। तिस का जब जिनवाणी के उपदेश से, तथा गुरुकी हितशिक्षा से ज्ञान हुआ, तब जातिहीन जान करके अनागत काल में महा दुःखदायी जान कर पूर्वकाल में इस की संगत से अनंत जन्म मरण का दुःख पाया, इस वास्ते इस विजातीय स्त्री को तजना ठीक है। अरु मेरी जो स्वजाति स्त्री, परम भक्त उत्तम, सुकुलीन, समतारूप सुन्दरी, तिस का संग करना ठीक है। अरु विभावपरिणतिरूप परस्त्री ने मेरी सर्व विभूति हर लीनी है। तो अब सद्गुरु की सहायता से ए दुष्ट परिणाम रूप जो स्त्री, संग लगी हुई थी, तिस का थोड़ा थोड़ा निग्रह करूं—त्यागने का भाव आदरूं, जिस से शुद्धस्वभाव घटरूप घर में आजावे, तथा स्वरूप तेज की वृद्धि

मैथुनविरमण व्रत

होवे। ऐसी समझ पा करके जो परपरिणति में मग्नता त्यागे, और कर्म के उदय में व्यापक न होवे, शुद्ध चेतना का संगी होवे, सो भाव मैथुन का त्यागी कहिये। इहां द्रव्यमैथुन के त्यागी तो षड् दर्शन में मिल सकते हैं, परन्तु भावमैथुन का त्यागी तो श्रीजिनवाणी सुनने से भेदज्ञान जब घट में प्रगट होता है, तब भवपरिणति से सहज उदासीनता रूप भाव मैथुन का त्यागी जैनमत में ही होता है। इहां स्थूल परस्त्रीगमनविरमण व्रत—सो परस्त्री का त्याग करना। परपुरुष की विवाहिता स्त्री, तथा पर की रक्खी हुई स्त्री, तिस के साथ अनाचार न सेवना, ऐसा जो प्रत्याख्यान करना, सो परदारगमनविरमण व्रत है। अरु जो अपनी स्त्री है, तिस में संतोष करूं, ऐसा जो व्रत धारण करे, तिस को स्वदारसंतोष व्रत कहिये।

देवांगना तथा तिर्यंचनी के साथ तो काया से मैथुन सेवन का निषेध है। तथा वर्त्तमान स्त्री को वर्ज के और स्त्री से विवाह न करे। तथा दिन में अपनी स्त्री से भी संभोग न करे, क्योंकि दिनसम्भोग से जो संतान उत्पन्न होती है, सो निर्बल होती है। जेकर कामाधिक होवे; तो दिन की भी मर्यादा कर लेवे। इसी तरे स्त्री भी परपुरुष का त्याग करे। इस रीति से चौथा व्रत पाले। इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं, सो लिखते हैं।

प्रथम अपरिगृहीतागमन अतिचार—विना विवाही स्त्री—

कुमारी तथा विधवा, इन को अपरिगृहीता कहते हैं, क्योंकि इन का कोई भर्त्तार नहीं है। जेकर कोई अल्पमति विषयाभिलाषी मन में विचारे, कि मैंने तो परस्त्री का त्याग करा है; परन्तु ए तो किसी की भी स्त्रियें नहीं हैं, इन के साथ विषय सेवने से मेरा व्रतभंग नहीं होवेगा। ऐसा विचार करके कुमारी तथा विधवा स्त्री के साथ भोगविलास करे, तो प्रथम अतिचार लग जावे। तथा स्त्री भी व्रतधारक होकर कुमारे पुरुष से तथा रंडे पुरुष से व्यभिचार सेवे, तो तिस स्त्री को भी अतिचार लगे।

दूसरा इत्वरपरिगृहीतागमन अतिचार—इत्वर नाम थोड़े काल का है, सो थोड़े से काल के वास्ते किसी पुरुष ने धन खरच के वेश्यादि को अपनी करके रक्खी है। इहां कोई अज्ञान के उदय से मन में ऐसा विचार करे कि मेरे तो परस्त्री का त्याग है, अरु इस वेश्यादि को तो मैंने अपनी स्त्री बना करके थोडे से काल के वास्ते रक्खी है, तो इस के साथ विषय सेवने से मेरा व्रतभंग नहीं होवेगा। ऐसे अज्ञान के विचार से उसके साथ संगम-विषय सेवन करे, तो दूसरा अतिचार लगे। तथा स्त्री भी जब अपनी सौकन की वारी के दिन में अपने भर्त्तार से विषय सेवे, वो अपने मन में ऐसा विचार करे, कि अपने पति के साथ विषय सेवने से, मेरा व्रतभंग नहीं होवेगा; क्योंकि मैंने तो पर पुरुष का त्याग करा है। यह दूसरा अतिचार। इन

पूर्वोक्त दोनों अतिचारों को जो श्रावक जानता है, कि ये श्रावक को करने योग्य नहीं, अरु फिर जेकर करे, तो व्रतभंग होवे, परन्तु अतिचार नहीं।

तीसरा अनंगक्रीडा अतिचार—अनंग नाम काम का है, तिस काम–कंदर्प को जागृत करना, आलिंगन, चुंबन प्रमुख करना, नेत्रों का हाव, भाव, कटाक्ष, हास्य, ठट्ठा, मश्करी प्रमुख परस्त्री से करना। वह दिल में सोचता है, कि मैंने तो परस्पर एक शय्या पर विषय सेवने का त्याग करा है, पूर्वोक्त अनंगक्रीडा तो नहीं त्यागी है। परन्तु वो मूढमति यह नहीं जानता है, कि ऐसा काम करनेवाले का व्रत कदापि न रहेगा। तथा मन से उस जीव ने महापाप का उपार्जन कर लिया। निश्चय नय के मत से उसका व्रत भंग भी हो गया। तथा अपनी स्त्री से चौरासी आसनों से भोग करे, तथा पंदरा तिथि के हिसाब से स्त्री के अंगमर्द्दनादि करके काम जगावे। तथा परम कामाभिलाषी होने से जब अपनी स्त्री का भोग न मिले, तब हस्तकर्म करे; स्त्री भी काम व्याप्त होकर गुह्यस्थान में कोई वस्तु संचार करके हस्तकर्म करे, तब स्त्री को भी अतिचार है। तिस वास्ते श्रावक को जैसे तैसे करके भी कामेच्छा घटानी चाहिये। क्योंकि विषय के घटाने से अरु वीर्य के रखने से बुद्धि, आरोग्य, दीर्घायु, बल प्रमुख की वृद्धि होती है। अधिक काम के सेवन से मन मलिन, पापवृत्ति, राज्यक्ष्मा–क्षय,

भ्रम, मूर्च्छा, क्लम और स्वेदादि रोग उत्पन्न होते हैं। इस वास्ते श्रावक को अत्यंत विषय मग्न नहीं होना चाहिये। केवल जिस से वेदविकार शांत हो जावे, तितना ही मैथुन करना चाहिये। अरु जब काम उत्पन्न होवे, तब स्त्री सम्बंधी काम सेवन की जगे को जाजरू—टट्टी समान मल मूत्र से भरी हुई विचारे। मलिन वस्तु है, मुख में दुर्गंध भरी है, नाक में सिंघाण की दुर्गंध है, कानों में मैल है, पेट में विष्टा, मूत्र भरा है, नसों में खाये पीये का रस, रुधिर, हाड़, चाम, चर्बी, वात, पित्त, कफ, भरा है, यह महाअशुचि का पुतला है; जिस अंग में वास लेवेगा, वहां महा दुर्गंध उछलती है; अनित्य—अशाश्वत है, सड़न, पतन, विध्वंसन हो जाना इस का स्वभाव है। तो फिर हे मूढ जीव! स्त्री को देखकर क्यों कामाकुल होता है ? ऐसे विचार से काम को शांत करे।

चौथा परविवाहकरण अतिचार—अपने पुत्र पुत्री के विना, यश के वास्ते, पुण्य के वास्ते, और लोकों के विवाह करावे, सो चौथा अतिचार।

पांचमा तीव्रानुराग अतिचार—जो पुरुष स्त्री के ऊपर तीव्र अभिलाष धरे, पराई स्त्री को देख कर मन में बहुत चाहना धरे, उस स्त्री के देखे विना क्षणमात्र रह न सके; चलते फिरते उस स्त्री ही में चित्त रहे। अथवा देह में काम की वृद्धि के वास्ते अफयून, माजून, भांग, हड़ताल, पारा प्रमुख खावे, तीव्र काम से प्रीति करे। तब पांचमा अतिचार

लगे। अथवा स्त्री भी काम की वृद्धि करने के वास्ते अनेक उपाय करे, वहुत हाव भाव विपय लालसा करे, तव पांचमा अतिचार लगे। इन पांच अतिचारों को श्रावक जाने, परन्तु आदरे नहीं। इन पांचों अतिचारों का विशेप स्वरूप धर्मरत्न प्रकरण की टीका से जानना।

परिग्रहपरिमाण व्रत

पांचमा स्थूलपरिग्रहपरिमाण व्रत लिखते हैं—परिग्रह के दो भेद हैं, एक तो वाह्यपरिग्रह अधिकरण रूप, सो द्रव्यपरिग्रह नव प्रकार का है। दूसरा भावपरिग्रह, सो चौदह अभ्यंतर ग्रंथिरूप जो परभाव का ग्रहण समस्त प्रदेश सहित सकपायरूप से वंध, सो भावपरिग्रह है। अरु शास्त्र में मुख्य वृत्ति करके मूर्छा को भावपरिग्रह कहा है। तिन में से चौदह प्रकार का जो अभ्यंतर परिग्रह है, सो लिखते हैं। १. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. भय, ५. शोक, ६. जुगुप्सा, ७. क्रोध, ८. मान, ९. माया, १०. लोभ, ११. स्त्रीवेद, १२. पुरुषवेद, १३. नपुंसकवेद, १४. मिथ्यात्व यह चौदह प्रकार की अभ्यंतर ग्रन्थि है। संसार में इस जीव को केवल अविरति के वल से इच्छा आकाश के समान अनंती है, जो कि कदापि भरने में नहीं आती। अविरति के उदय से इच्छा अरु इच्छा से कर्मवंधन में पड़ा हुआ यह जीव चार गति में भ्रमण करता है। सो किसी पुण्य के उदय से मनुष्य भव आदि सकल सामग्री का योग पाकर,

सद्गुरु की संगति से जब श्री जिनवाणी को सुना, तब चेतना जागृत भई, तब विचार हुआ कि अहो मैं समस्त परभाव से अन्य हूं! अबन्धि, अछेद्य, अभेद्य, अदह्यधर्मी हूं! परन्तु इच्छा के वश होकर समस्त छेदन, भेदन, परिभ्रमणादि दुःखों को भोगने वाला परधर्मी बन रहा हूं? इस वास्ते समस्त परभाव का मूल जो इच्छा है, तिस को दूर करे। तब समस्त परभाव त्यागरूप चारित्र आदरे, साधुवृत्ति अंगीकार करे। तथा जिस जीव के इच्छा प्रबल होने से एक साथ सर्व परिग्रह त्यागने का सामर्थ्य न होवे, अरु दोष से डरे, तब गृहस्थ, धर्म के विषय में इच्छा परिमाण रूप व्रत को आदरे, सो इच्छा परिमाण व्रत नव प्रकार का है। सो कहते हैं:—

प्रथम धन-परिमाण व्रत—धन चार प्रकार का है। प्रथम गणिम धन—सो नारिकेल प्रमुख, जो गिनती से वेचने में आवे। दूसरा धरिम धन—सो गुड़ प्रमुख, जो तोल के वेचने में आवे। तीसरा परिछेद्य धन—सो सोना, रूपा, जवाहिर प्रमुख, जो परीक्षा से वेचने में आवे। चौथा मेयधन—सो दूध आदि वस्तु, जो माप के वेचने में आवे। यह चार प्रकार का धन है। इस का जो परिमाण करे, सो धन परिमाण व्रत है।

दूसरा धान्य-परिमाण व्रत—सो धान्य चौवीस प्रकार का है। १. शालि, २. गेहू, ३. जुवार, ४. बाजरी, ५. यव,

६. मूंग, ७. मोठ, ८. उड़द, ९. छूंट, १०. वोड़ा, ११. मटर, १२. तुअर, १३. किसारी, १४. कोद्रवा, १५. कंगणी, १६. चना, १७. वाल, १८. मेथी, १९. कुलथ, २०. मसूर, २१. तिल, २२. मंडवा, २३. कूरी, २४. वरटी, यह खाने तथा व्यवहार वास्ते उपयोगी हैं। तथा धनियां, भिंडी, सोवा, अजवायन, जीरा, यह भी धान्य की जाति में हैं। परंतु ये सब औषधि आदि में काम आते हैं। तथा सामक, मणकी, भुरट, चेकरीया, ये मारवाड़ देश में प्रसिद्ध हैं। और भी जो अड़क धान्य विना वोये उगता है, जिस को लोक काल दुकाल में खाते हैं, इस सर्व जाति के अन्न—का परिमाण करे।

तीसरा क्षेत्रपरिमाण व्रत—सो वोने का खेत, तथा वाग-वगीचा आदिक जानना। इस क्षेत्र के तीन भेद हैं, उस में एक क्षेत्र तो ऐसा है, कि जो वर्षा के पानी से होता है, दूसरा कूपादिक के जल सींचने से होता है, तीसरा पूर्वोक्त दोनों प्रकार से होता है। इन का परिमाण करे।

चौथा वास्तुक-परिमाण व्रत—सो घर, हाट, हवेली प्रमुख; तिन के भी तीन भेद हैं। एक तो भोरा प्रमुख; दूसरा उच्छ्रित–ऊंची हवेली, एक मंज़ली, दो मंज़ली, तीन मंज़ली, यावत् सातभूमि तक; तीसरी नीचे भोरा प्रमुख ऊपर एक दो आदि मंज़ल; तिन का परिमाण करे।

पांचमा रूप्यपरिग्रह-परिमाण व्रत—सो सिक्के विना का

कच्चा रूपा, तिस के तोल का परिमाण करे।

छट्ठा सुवर्णपरिग्रहपरिमाण व्रत—सो विना सिके का सोना, तिस के तोल का परिमाण करे।

सातमा कुप्यपरिग्रहपरिमाण व्रत—सो त्रांबा, पीतल, रांगा, कांसा, सीसा, भरत, लोहा प्रमुख सर्व धातु के वरतनों के तोला का परिमाण करे।

आठमा द्विपदपरिग्रहपरिमाण व्रत—सो दासी, दास, अथवा पगारदार—गुमास्ता प्रमुख रखना, तिन की गिनती का परिमाण करे।

नवमा चतुष्पदपरिग्रहपरिमाण व्रत—सो गाय, महिषी, घोड़ा, वलद, वकरी, भेड़ प्रमुख, तिन की गिनती का परिमाण करे।

अथ अपनी इच्छा परिमाण से परिग्रह किस तरे रक्खे? सो कहते हैं। रूपा घड़ा हुआ अरु अनघड़ा तथा नगद रूपक इतना रक्खूं, तथा सोना भी घड़ा अनघड़ा अशरफ़ी तथा जवाहिर इतना रक्खूं, इस रीति से परिमाण करे। उपरांत पुण्योदय से धन वधे, तो धर्मस्थान में लगावे। तथा वर्ष भर में इतने, इस भांत के वस्त्र पहिरूं। तथा एक वर्ष में इतना अन्न मैं घर के खरच के वास्ते रक्खूं, अरु इतना वणिज के वास्ते रक्खूं। तिस का स्वरूप सातमे व्रत में लिखेंगे। तथा क्षेत्रपरिमाण में क्षेत्र, वाड़ी, वगीचा प्रमुख सर्व मिल कर इतने वीघे धरती रक्खूंगा। तथा घर,

खिड़की बंद, अरु खुल्ली दुकान, तवेला, बुखारी, तथा परदेश, संबन्धी दुकान की जयणा, तथा इतना भाड़े देने के वास्ते घर को रखने की जयणा, तथा भाड़े लिये हुये घर को समराने की जयणा, तथा कुटुंब सम्बन्धी घर बनाने में उपदेश की जयणा, तथा अपना सम्बन्धी अरु गुमास्ता परदेश गया होवे, पीछे से तिस के घर प्रमुख समरावने की जयणा तथा आजीविका के वास्ते किसी की चाकरी करनी पड़े, तब उसके घर प्रमुख के समरावने की जयणा। तथा कुप्यपरिमाण में तांबा, पीतल रांग, लोहखण्ड, कांसी, भरत, सर्व मिल कर धातु के बरतन, तथा और घाट, तथा छूटा, इतने मन रखने की जयणा। तथा दुपद परिमाण में श्रावक ने दासी, दास को मोल दे कर नहीं लेना, परंतु पगारवाले नौकर गिनती में इतने रखने चाहियें, तथा गुमास्ता रखने की जयणा। तथा चौपद परिमाण में गाय, भैंस, बकरी प्रमुख रखने का परिमाण करे। अब इस इच्छा परिमाण व्रत के पांच अतिचार हैं, सो लिखते हैं।

प्रथम धनपरिणाम—अतिक्रम अतिचार—सो इस रीति से होता है। जब इच्छा परिमाण से धन अधिक हो जावे, तब लोभ संज्ञा से दिल में ऐसा मनसूबा करे, कि मेरा पुत्र जो बड़ा हो गया है, तिस को भी धन चाहिये, अरु मैंने भी पुत्र को धन देना ही है। ऐसा कुविकल्प करके पुत्र के नाम के पांच हज़ारादि रूपक जुदे रक्खे। तथा अन्न प्रमुख अपने

नियम परिमाण घर में पड़ा है, तब अधिक रखने की इच्छा से दूसरे के घर में रख छोड़े। जब चाहे तब ले आवे, अरु अज्ञान से ऐसा विचारे कि मैंने तो इच्छा परिमाण से अधिक रखने का नियम करा है, अरु यह तो दूसरों के घर में रक्खा है, इस वास्ते मेरे नियम में दूषण नहीं। तथा व्रत लेने के वक्त में कच्चे मन के हिसाब से अन्न रक्खा है। अरु जब परदेशांतर में गया, तब पक्के मन का वहां तोल जान कर अन्न भी पक्के मन के हिसाब से रक्खे। ऐसे विचार वाले को प्रथम अतिचार लगता है।

दूसरा क्षेत्र परिमाण-अतिक्रम अतिचार—सो जब इच्छा परिमाण से अधिक घर हाट आदिक हो आवे, तब विचली भींत तोड़ के दो तीन घर आदि का एक घर आदि बनावे। तथा दो तीन खेतों की विचली डौली तोड़ के एक बना लेवे। अरु मन में यह विचारे, कि मैंने तो गिनती रक्खी है, सो तो मेरा नियम अखंडित है, बड़ा कर लेने में क्या दूषण है? ऐसे करे, तो दूसरा अतिचार लगे।

तीसरा रूप्यसुवर्णपरिमाण-अतिक्रम अतिचार—सो जब इच्छा परिमाण से अधिक होवे, तब अपनी स्त्री के गहने भारी तोल के बनवावे, तथा अपने आभरण तोल में भारी बनवावे।

चौथा कुप्यपरिमाण-अतिक्रम अतिचार—तो त्रांबा, पीतल, कांसी प्रमुख के बरतन वगैरे जो गिनति में रक्खे

हैं, सो जब घर में संपदा होवे, तब गिनती में तो उतने ही रक्खे, परन्तु तोल में वज़नदार दुगने तिगुने बनवावे, अरु मन में ऐसा विचारे कि मेरा व्रत तो अखंडित है; क्योंकि बरतनों की गिनती तो मेरे उतनी ही है। तथा कच्चे तोल—परिमाण रक्खे थे, फिर पक्के तोल परिमाण रख लेवे।

पांचमा द्विपदचतुष्पद-परिमाणातिक्रम अतिचार—सो दास दासी, घोड़ा, गाय, बलद प्रमुख अपने परिमाण से जब अधिक हो जावें, तब बेच गेरे (डाले), अथवा गर्भ ग्रहण अवेरे (देर में) करावे, जितने गिनती में हैं, उनमें से प्रथम बेच के फिर गर्भ ग्रहण करावे, अथवा भाई पुत्र के नाम करके रक्खे, तो पांचमां अतिचार लगता है।

अथ छट्ठा, सातमा अरु आठमा, इन तीनों व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। तिन में छठे व्रत में दिशाओं का विचार है, इस वास्ते इसका नाम दिक्परिणाम व्रत है। अब तिस का स्वरूप लिखते हैं।

गुणव्रत

पूर्व जो पांच अणुव्रत कहे हैं, तिन को इन तीनों व्रतों करके गुण वृद्धि होती है, इस वास्ते इन का नाम गुणव्रत है। क्योंकि जब दिशा परिमाणव्रत किया, तब तिस क्षेत्र से बाहिर के सर्व जीवों को अभयदान दिया, यह पहिले प्राणातिपातविरमण व्रत में गुणपुष्टि भई। तथा बाहिर के जीवों के साथ झूठ बोलना मिट गया, इह मृषावादविरमण व्रत को पुष्टि भई। तथा

बाहिर के क्षेत्र की वस्तु की चोरी का त्याग हुआ, यह तीसरे व्रत को पुष्टि भई। तथा बाहिर के क्षेत्र की स्त्रियों के साथ मैथुन सेवने का त्याग हुआ, यह चौथे व्रत की पुष्टि भई। तथा नियम से बाहिर के क्षेत्र में क्रय विक्रय का निषेध भया, यह पांचमे व्रत की पुष्टि भई। इस वास्ते पांचों अणुव्रतों को यह तीनों व्रत गुणकारी हैं।

दिक्परिमाण व्रत

तहां दिक्परिमाण व्रत—सो चारों दिशा, तथा चारों विदिशा, तथा ऊर्ध्व अरु अधो, इन दश दिशाओं का परिमाण करे। तिस के दो भेद हैं। एक व्यवहार—सो अपनी काया से दशों दिशा में जाने का, तथा मनुष्य भेजने का, तथा व्यापार करने का परिमाण करे, उस को व्यवहार दिक्-परिमाण व्रत कहिये। दूसरा निश्चय—सो जो कुछ नरकादि गति में गमन है, सो सर्व कर्म का धर्म है। जिस के वश पड़ के यह जीव चारों गति में भटकता है; परानुयायी चेतना हो रही है, इसी वास्ते जीव परभावानुसारी गतिभ्रमण करता है। परन्तु जीव तो शुद्ध चैतन्य, अगतिस्वभाव, तथा निश्चल स्वभाव है। ऐसा श्री जिनवाणी के उपदेश से समझ कर चेतनाशुद्धस्वरूपानुयायी होवे। तब अपना अगति स्वभाव जान कर सर्व क्षेत्र से उदास रहे, समस्त क्षेत्र से अप्रतिबंधक भाव से वर्ते, सो निश्चय से दिक्परिमाण व्रत कहिये। इन दशों दिशा का जो परिमाण, तिस के दो भेद हैं।

प्रथम जलमार्ग—सो जहाज़ नावों करके इतने योजन अमुक दिशा में अमुक बंदर तथा अमुक द्वीप तक जाऊं, जेकर पवन, तथा वर्षा के वश से और दूर किसी बंदर में वह जावे तो आगार, अर्थात् व्रतभंग न होवे। अथवा अजानपने से—भूल चूक से किसी बंदर में चला जाऊं, उसका भी आगार है।

दूसरा स्थल का मार्ग—सो जिस जिस दिशा में जितने जितने योजन तक जाने का परिमाण करा है, तहां तक जाने की जयणा। जेकर चोर, म्लेच्छ, पकड़ के नियम—क्षेत्र से बाहिर ले जावें, तिस का आगार है। तथा ऊर्ध्व दिशा में बारां कोस तक जाने की जयणा रक्खे, तथा अधोदिशा में आठ कोस तक जाने की जयणा। परन्तु जो ऊंचा चढ़ के फिर नीचा उतरे, वो अधोदिशा में नहीं। तथा जितने क्षेत्र का परिमाण करा है, तिस से बाहिर का कोई पिछाणवाले पुरुष का पत्र आवे, सो वाच कर उसका उत्तर लिखना पड़े तिस का आगार है। परन्तु मैं अपनी तरफ से विना कारण पत्र प्रमुख नहीं लिखूंगा, तथा परदेश की विकथा सुनने का आगार। इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं, सो कहते हैं।

प्रथम ऊर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रम अतिचार—सो अनाभोग से अथवा बे सुरती—बे खबरी से अधिक चला जावे तो प्रथम अतिचार।

दूसरा अधोदिशापरिमाणातिक्रम अतिचार—पूर्ववत्।

तीसरा तिरछीदिशापरिमाणातिक्रम अतिचार—ऊपर-

वत्। जेकर नियम भंग के भय से गुमास्ता भेजे, तो भी अतिचार लगे।

चौथा क्षेत्रवृद्धि अतिचार—एक दिशा में सौ योजन रक्खे हैं, अरु एक दिशा में पचास योजन रक्खे हैं। पीछे जब एक ही दिशा में डेढ़ सौ योजन जाना पड़े तब दूसरी तरफ के पचास योजन भी उसी तरफ़ जोड़ लेवे, और अज्ञान से ऐसा विचारे कि मेरे नियम के ही पचास योजन हैं, इस वास्ते मेरे व्रत का भंग नहीं।

पांचमा स्मृत्यंतर्धान अतिचार—सो अपने नियम के योजन को भूल जावे, क्या जाने पूर्व दिशा के सौ योजन रक्खे हैं? कि पचास योजन रक्खे हैं? इत्यादि, ऐसे संशय के हुए फिर पचास योजन से अधिक जावे, तो पांचमा अतिचार लग जावे।

भोगोपभोग व्रत

अथ सातमे भोगोपभोग व्रत का स्वरूप लिखते हैं। यह दूसरा गुणव्रत है। इस व्रत के अंगीकार करने से सचित्त वस्तु खाने का त्याग करे, अथवा परिमाण करे। तथा जिस में बहुत हिंसा होवे, ऐसा व्यापार न करे। तथा जिस काम में अवश्य हिंसा बहुत करनी पड़े तिस का त्याग करे। अभक्ष्य त्यागे, अरु चौदह नियम भी इस व्रत में गिने जाते हैं। इस वास्ते यह व्रत पूर्वोक्त पांच ही अणुव्रतों को गुणकारी है। इस व्रत के दो भेद हैं, सो कहते हैं।

प्रथम व्यवहार—सो भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान करके त्यागे, दूसरा आश्रव संवर का ज्ञान करके खानपानादिक जो इन्द्रिय सुख का कारण है, उस में अपनी शक्ति प्रमाण वहुत आरंभ को छोड़ के अल्पारंभी होना, सो व्यवहार भोगोपभोग-विरमण व्रत है।

दूसरा निश्चय— सो श्रीजिनवाणी को सुन कर वस्तु तत्त्व के स्वरूप को जान कर विचारे, कि जगत् में जो पर वस्तु है, सो सर्व हेय है; इस वास्ते तत्त्ववेत्ता पुरुष परवस्तु को न खावे, न अपने पास रक्खे। तब शुद्ध चैतन्यभाव को धार कर परम शांतिरूप हो कर जो वस्तु सड़े, पड़े, गिरे, जाती रहे; तब परवस्तु जान कर ऐसा विचार करे, कि यह पुद्गल की पर्याय है, सर्व जगत् की जूठ है, ऐसी वस्तु का भोगोपभोग करना सो तत्त्ववेत्ता को उचित नहीं। ऐसे ज्ञान से परभाव को त्यागे, स्वगुण की वृद्धि करे, ऐसा ज्ञान पा कर आत्मा को स्वस्वरूपानंदी करे, चिद्विलास का अनुभवी होवे। सो निश्चय भोगोपभोगविरमण व्रत कहिये।

अथ भोगोपभोग शब्द का अर्थ कहते हैं। जो आहार, पुष्प, विलेपनादि, एक वार भोगने में आवे, सो भोग कहिये। जो भुवन, वस्त्र, स्त्री आदि वार वार भोगने में आवे, सो उपभोग कहिये, तथा कर्माश्रय से इस व्रत के अनेक भेद है, सो आगे लिखेंगे।

तथा श्रावक को उत्सर्ग मार्ग में तो निरवद्य आहार लेना लिखा है। जेकर शक्ति न होवे, तब सचित्त

बाईस अभक्ष्य

का त्यागी होवे, जेकर यह भी न कर सके, तो बाईस अभक्ष्य अरु बत्तीस अनंतकाय, इन का तो ज़रूर त्याग करे, तिन में प्रथम बाईस अभक्ष्य वस्तुका नाम लिखते हैं:—

१. वड़ के फल, २. पीपल के फल, ३. पिलखण के फल, ४. कठंबर के फल, ५. गूलर के फल, यह पांच तो फल अभक्ष्य हैं। क्योंकि इन पांचों फलों में बहुत सूक्ष्म कीड़े त्रस जीव भरे हुए होते हैं, जिनों की गिनती नहीं हो सकती है। इस वास्ते धर्मात्मा जीव, इन पांचों फलों को न खावे। जेकर दुर्भिक्ष में अन्न न मिले, तो भी विवेकी पूर्वोक्त फल भक्षण न करे।

६. मदिरा, ७. मांस, ८. मधु, ९. माखन, इन चारों में तद्वर्ण असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं, अरु यह चारों विगय महाविगय हैं, सो महाविकार की करने वाली हैं। तिन में प्रथम मदिरा त्यागने योग्य है, क्योंकि मदिरा के पीने में जो दूषण है, सो श्री हेमचंद्रसूरिकृत योगशास्त्र के *दश श्लोकों के अर्थ से लिखते हैं।

* प्र० ३ श्लो० ८—१७।

मदिरापान के दोप

१. मदिरा पीने से चतुर पुरुष की बुद्धि नष्ट हो जाती है, जैसे दुर्भागी पुरुष को सुंदर स्त्री छोड़ जाती है, तैसे इस पुरुष को बुद्धि छोड़ जाती है। २. मदिरापायी पुरुष अपनी माता, वहिन, बेटी को अपनी भार्या की तरे समझ के जोराजोरी से विषय भी सेवन कर लेता है, अरु अपनी भार्या को अपनी माता समझता है, मदिरा पीनेवाला ऐसा निर्लज्ज और महापाप के करनेवाला होता है। ३. मदिरापायी अपने अरु पर को भी नहीं जानता। ४. मदिरापायी अपने स्वामी को अपना किंकर जानता है, अरु अपने को स्वामी जानता है, एसी निर्लज्जबुद्धिवाला होता है। ५. मदिरा पीनेवाले पुरुष को चौक में लेटा हुआ देखकर, मुरदा जान कर कुत्ते उसके मुंह में मूत जाते हैं। ६. मदिरा के रस में मग्न पुरुष चौक में नंगा–मादरजात, निर्लज्ज हो कर सो जाता है। ७. मदिरा पीनेवाले ने जो गम्यागम्य, चोरी, यारी, खून प्रमुख कुकर्म करे हैं, वो सर्व लोगों के आगे प्रकाश कर देता है। ८. मदिरा पीने से शरीर का तेज, कीर्त्ति, यश, तात्कालिकी बुद्धि, यह सब नष्ट हो जाते हैं। ९. मदिरापायी भूत लगे की तरे नाचता है। १०. मदिरा पीनेवाला कीचड़ और गंदकी में लोटता है। ११. मदिरा पीने से अंग शिथिल हो जाते हैं। १२. मदिरा पीने से इन्द्रियों की तेज़ी घट जाती है। १३. मदिरा पीने से बड़ी मूर्च्छा आ जाती है।

१४. मदिरा पीनेवाले का विवेक नष्ट हो जाता है। १५. संयम नष्ट हो जाता हैं। १६. ज्ञान नष्ट हो जाता है। १७. सत्य नष्ट हो जाता है। १८ शौच नष्ट हो जाता है। १९. दया नष्ट हो जाती है। २०. क्षमा नष्ट हो जाती है। जैसे अग्नि से तृण भस्म हो जाते हैं, तैसे पूर्वोक्त गुण भी उस का नष्ट हो जाते हैं। २१. मदिरा, चोरी अरु परस्त्रीगमन आदिक का कारण है। क्योंकि मदिरा पीनेवाला कौन सा कुकर्म नहीं कर सकता है? २२. मदिरा आपदा तथा वध, बंधनादिकों का कारण है। २३. मदिरा के रस में बहुत जीव उत्पन्न होते हैं, इस वास्ते दया धर्मी को मदिरा न पीनी चाहिये। २४. मद्य पीनेवाला दिये को अनदिया कहता है। २५. लिये को नहीं लिया कहता है। २६. करे को न करा कहता है। २७. मद्यपी घर में तथा बाहिर पराये धन को निर्भय हो कर लूट लेता है। २८ मदिरे के उन्माद से बालिका, यौवनवती, वृद्धा, ब्राह्मणी, चण्डालिनी प्रमुख स्त्रियो से भोग कर लेता है। २९. मद्यप अरराट शब्द करता है। ३०. गीत गाता है। ३१. लोटता है। ३२. दौड़ता है। ३३. क्रोध करता है। ३४ रोता है। ३५. हंसता है। ३६. स्तंभवत् हो जाता है। ३७. नमस्कार करता है। ३८. भ्रमता है। ३९. खड़ा रहता है। ४० नट की तरें अनेक नाटक करता है। ४१. ऐसी वो कौनसी दुर्दशा है, जो मदिरा पीनेवाले को नहीं होती है? शास्त्रों में सुनते हैं, कि साम्बकुमार ने

मदिरा पी कर द्वैपायन ऋषि को सताया, तब द्वैपायन ने द्वारका को दग्ध किया। ४२. मदिरा पीना सर्व पापों का मूल है। ४३. मदिरा पीनेवाला निश्चय नरक गति में जावेगा। ४४. मदिरा सर्व आपदा का स्थान है। ४५. मदिरा अकीर्त्ति का कारण है। ४६. मदिरा नीच म्लेच्छ लोक पीते हैं। ४७. गुणी जन जो हैं, सो मदिरा पीने वाले की निंदा करते हैं। ४८. मदिरा पट्ठे में लग जाने से तत्काल मर जाता है। ४९. मदिरा पीनेवाले के मुख से महा दुर्गन्ध आती है। ५०. मदिरा सर्व शास्त्रों में निंदित है। ५१. मदिरा पीनेवाला ईश्वर का भक्त नहीं। इत्यादि मदिरा पीने में अनेक दोष हैं, इस वास्ते श्रावक मदिरा न पीवे।

मांसभक्षण का निषेध

सातमा अभक्ष्य मांस है। मांस भक्षण करने में जो दूषण है, सो लिखते हैं। जो पुरुष मांस खाने की इच्छा करता है, वो पुरुष, दया-धर्मरूपी वृक्ष की जड़ काटता है। क्योंकि जीव के मारे विना मांस कदापि नहीं हो सकता है। जेकर कोई कहे कि हम मांस भी खा लेवेंगे, अरु प्राणियों की दया भी करेंगे। एसे कहनेवाले को हम उत्तर देते हैं, कि सर्वदा जो मांस के खानेवाले हैं अरु अपने मन में दयाधर्मी बनना चाहते हैं, वो पुरुष अग्नि में कमल लगाना चाहते हैं। क्योंकि जब उनोंने मांस खाया तब प्राणियों की दया उन के मन में कदापि नहीं हो सकती है। जैसे अंब

का खानेवाला आम्रफल देखता है, तब उस की मनशा अंब खाने ही को दौड़ती है, तैसे मांसाहारी किसी गौ, भेड, बकरी, प्रमुख को देखता है, तब उन जीवों का मांस खाने की तर्फ़ उसकी सुरती दौड़ती है, ऐसे पुरुष को दया धर्म, क्योंकर संभवे ? जेकर कोई कहे कि जीव के मारनेवाला तो सौकरिक अर्थात् कसाई है, तिस के पासों बना बनाया मांस लाकर खावे, तो क्या दोष है ? ऐसे मूढ़-मति को उत्तर देते हैं, कि जो मांस खानेवाला है, वो भी जीव का हिंसक है, क्योंकि भगवंत ने शास्त्रों में सात जनों को घातक—हिंसक अर्थात् कसाई ही कहा है। उन के नाम कहते हैंः—एक जीव के मारनेवाला, दूसरा मांस वेचने वाला, तीसरा मांस रांधनेवाला, चौथा मांस भक्षण करने-वाला, पांचमा मांस खरीदनेवाला, छट्ठा मांस की अनु-मोदना करनेवाला, सातमा पितरों को, देवताओं को, अतिथियों को मांस देनेवाला। यह सात साक्षात् और परं-परा करके घातक अर्थात् जीव वध के करनेवाले हैं। मनुजी भी मनुस्मृति में कहते हैं।

अनुमंता विशसिता, निहंता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः॥

[अ० ५, श्लो० ५१

अर्थः—१. अनुमोदक–अनुमोदन करनेवाला, २. विश-

सिता—मारे हुए जीव के अंग का विभाग करनेवाला, ३. निहंता–मारनेवाला, ४. मांस का वेचनेवाला, ५. मांस को रांधनेवाला, ६. मांस को परोसनेवाला, ७. मांस को खानेवाला, यह सातों घातकी हैं, अर्थात् जीव के वध करनेवाले हैं। दूसरा श्लोक भी मनुस्मृति का लिखते हैं:—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥
[अ० ५०, श्लो० ४८]

अर्थः—जितना चिर जीव को न मारे, तहां तक मांस नहीं होता है, अरु जीव वध से स्वर्ग नहीं अपितु नरक गति होती हैं; इस वास्ते मांस खाना वर्जे।

अव मांस खानेवाले को ही वधकपना है, यह वात कहते हैं। दूसरे जीवों का मांस जो अपने मांस की पुष्टता के वास्ते खाते हैं, वास्तव में वे ही कसाई हैं। क्योंकि जेकर खानेवाले न होवें, तो कोई जीव को भी काहे को मारे? जो प्राणियों को मार करके अपने को सप्राण करते हैं, वे जीव थोड़ी सी ज़िंदगी के वास्ते अपना नाश करते हैं। एक अपने जीवन के वास्ते क्रोड़ों जीवों को जो दुःख देता है, तो वो क्या सदा काल जीता रहेगा? जिस शरीर में सुन्दर मिष्टान्न विष्टा हो जाता है, अरु दूध प्रमुख अमृत वस्तुएं मूत्र हो जाती हैं, तिस शरीर के वास्ते कौन बुद्धिमान्

जीववध अरु मांस भक्षण करे।

जो कोई महामूढ़, निर्विवेकी यह लिख गये हैं, कि मांस भक्षण करने में दूषण नहीं, वे भी म्लेच्छ थे, क्योंकि वे लिखते हैं:—

न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला॥
[मनु० अ० ५, श्लो० ५६]

इस श्लोक के कहनेवालों ने व्याघ, गृध्र, भेड़िये, श्वान-कुत्ते, व्याघ्र, गीदड़, काग प्रमुख हिंसक जीवों को अपना धर्मगुरु माना है, क्योंकि जेकर ये पूर्वोक्त गुरु न होते तो इन को मांस खाना कौन सिखाता? बिना गुरु के उपदेश के पूज्यजन उपदेश नहीं देते हैं। इस श्लोक के बनाने वालों की अज्ञानता देखिये, वे कहते हैं, कि मांस खाने में, मदिरा पीने में अरु मैथुन सेवने में पाप नहीं, परन्तु 'निवृत्तिस्तु महाफला'—इन से जो निवृत्ति करे, तो महाफल है। यह स्ववचन विरोध है, क्योंकि जिस के करने में पाप नहीं, उस के त्यागने में धर्मफल कदापि नहीं हो सकता है।

अथ निरुक्ति के बल से भी मांस त्यागने योग्य है। सो कहते हैं:—

*मांस भक्षयितामुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वे, निरुक्तं मनुरब्रवीत् ॥

[यो० शा०, प्र० ३ श्लो० २६]

अर्थः—जिस का मांस मैं खाता हूं, वो जीव मुझ को परभव में भक्षण करेगा, इस निरुक्त से *मनु जी मांस का अर्थ कहते हैं । मांसभक्षणवाले को महापाप लगता है। जो पुरुष मांस भक्षण में लंपट है, वो पुरुष जिस जिस जीव को–जलचर मत्स्यादि को, स्थलचर–मृग, सूअर प्रमुख को, खेचर–तित्तर, लाव, बटेरे प्रमुख को देखता है, तिस तिस को मार के खाने की बुद्धि करता है । डाकन की तरें सर्व को खाया चाहता है । मांस खानेवाला उत्तम पदार्थों का परिहार करके नीच पदार्थ के लेने में उद्यत होता है । जैसे काग पंचामृत छोड़ कर विष्टे में चोंच देता है, उसी तरे जान लेना । इसी का नाम निर्विवेकता है ।

ये भक्षयंति पिशितं, दिव्यभोज्येषु सत्स्वपि ।
सुधारसं परित्यज्य, भुंजते ते हलाहलम् ॥

[यो० शा०, प्र० ३ श्लो० २८]

* मनु० अ० ५, श्लो० ५५ में नीचे का आधा भाग इस प्रकार है–
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

अर्थः—सकल धातुओं की वृद्धि करने वाला दिव्य भोजन विद्यमान हुए अर्थात् सर्व इन्द्रियों के आह्लादजनक दूध, क्षीर, किलाट, कूर्चिका, रसाल, दधि आदिक, मोदक, मंदक मंडिका, खाजे, पापड़, घेउर, इंडरिका, खंडवड़े, पूरणवड़े, गुड़पापड़ी, इक्षुरस, गुड़, मिसरी, द्राक्षा, अंब, केले, अनार, नारियल, नारंगी, संतरे, खजूर, अक्षोट, राजादनखिरणी, फनस, अलूचे, बादाम, पिस्ता, इत्यादि अनेक दिव्यभोजनों को छोड़ के मूढ़मति विस्रगंधि, सूगवाला, वमन का करने वाला, ऐसे वीभत्स मांस का भक्षण करता है, वो जीव जीवितव्य की वृद्धि के वास्ते अमृत रस को छोड़ कर जीवितांतकारी हलाहल-विष को भक्षण करता है। बालक जो होता है, वो भी पत्थर को छोड़ कर सुवर्ण को ग्रहण करता है। परन्तु जो मांसाहारी पुरुष है, वो तो मांस से भी अधिक पुष्टता को देने वाला जो दिव्य भोजन, तिस को छोड़ कर मांस खाता है, वो तो बालक से भीअज्ञानी है।

अब और तरे से मांसभक्षण में दूषण लिखते हैं। जो निर्दय पुरुष हैं, उस में धर्म नही, क्योंकि धर्म का मूल दया है। ये बात सर्व संत जन मानते हैं। अरु मांसाहारी को दया तो है नहीं, मांस खाने वाले को पूर्व में कसाई कहा है, इस वास्ते मांसाहारी में धर्म नहीं।

प्रश्नः—मांसाहारी अपने आप को अधर्मी क्यों बनाता है?

उत्तरः—मांस के स्वाद में लुब्ध हुआ वो धर्म दया कुछ नहीं जानता है, जेकर कदाचित् जान भी जाता है, तो भी आप मांसलुब्ध है, इस से मांस त्याग करने को समर्थ नहीं। इस वास्ते वो मन में विचार करता है, कि मेरे समान ही सर्व हो जावें, ऐसा जान कर औरों को भी मांसभक्षण न करने का उपदेश नहीं करता है।

अब मांसभक्षण करने वाले महामूढ हैं, यह बात कहते हैं। कितनेक मूढ़मति आप तो मांस नहीं खाते हैं, परन्तु देवता, पितर, अतिथि, इन को मांस चढ़ाते हैं, क्योंकि उन के शास्त्रकार कहते हैं:—

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य, *परोपहृतमेव वा।
देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य, खादन् मांसं न दुष्यति ॥
[यो॰ शा॰, प्र॰ ३, श्लो॰ ३१]

यह श्लोक मृग पक्षियों के विषय में है, इस का अर्थ यह है। कसाई की दुकान विना व्याघ्र, शकुनिकादिकों से अर्थात् शिकारी और जानवरों के मारने वालों से मांस मोल से लेकर देवता, अतिथि, पितरों को देने चाहिये। क्योंकि वे लिखते हैं, कि कसाई की दुकान के मांस से देवता, पितरों की पूजा नही होती है, तांते आप मांस उत्पन्न करके

---

* मनुस्मृति अ॰ ५, श्लो॰ ३२ में "परोपकृतमेव वा" ऐसा पाठ है।

पितृ आदिकों को देवे, तो पितृ आदि प्रसन्न होते हैं। सो इस प्रकार से मांस उत्पन्न करे, कि ब्राह्मण तो मांग कर मांस लावे, और क्षत्रिय शिकार मारके मांस लावे, अथवा किसी ने मांस भेट करा होवे, उस मांस से देवता पितरों की पूजा करके मांस खावे, तो दूषण नही, परन्तु यह सर्व महामूढ और मिथ्यादृष्टियों का कहना है। क्योंकि दयाधर्मी आस्तिक-मत वालों को तो मांस दृष्टि से भी देखना योग्य नहीं। तो फिर देवता, पितरों की पूजा मांस से करनी, यह भावना तो धर्मी को स्वप्न में भी न होवेगी। इस वास्ते देवताओं को मांस चढ़ाना यह बुद्धिमानों का काम नहीं, कारण कि देवता तो बड़े पुण्यवान् हैं, कवल का आहार करते नहीं हैं; तो फिर जुगुप्सनीय मांस क्योंकर खावेंगे? जो कहते हैं कि देवता मांस खाते हैं, वे महा अज्ञानी हैं। अरु पितर जो हैं, वे तो अपने अपने पुण्य पाप के प्रभाव से अच्छी बुरी गति को प्राप्त हो गये हैं, अपने करे हुए कर्मों का फल भोगते हैं, पुत्र के करे हुए कर्म का उनको कुछ भी फल नहीं लगता है। तब मांस देने रूप पाप का तो कया कहना है! पुत्रादिकों का सुकृत करा हुआ भी तिन को नहीं मिलता है, क्योंकि अंब के सींचने से केले में फल नहीं फलता है। अरु अतिथि की भक्ति के वास्ते जो मांस देना है, सो तो नरकपात का हेतु अरु महा अधर्म का कारण है। यहां कोई ऐसे कहे कि जो बात श्रुति स्मृति में है, वो

माननी चाहिये, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्यों कि जो बात श्रुति में अप्रमाणिक लिखी है, वो बुद्धिमान् कदापि नहीं मानेंगे। तथापि:—

* "श्रूयन्ते हि श्रुतिवचांसि—यथा पापघ्नो गोस्पर्शः, द्रुमाणां च पूजा, छागादीनां वधः स्वर्ग्यः, ब्राह्मण-भोजनं पितृप्रीणनं, मायावीन्यधिदैवतानि, वह्नौ हुतं देवप्रीतिपदम्"।

ऐसा कथन जो श्रुतियों में है, तिस को युक्ति कुशल पुरुष कदापि नहीं मानेंगे। तिस वास्ते यही महा अज्ञान है, जो कि मांस करके देवताओं की पूजा करनी। कितनेक कहते हैं, कि जैसे मन्त्रों करके संस्कृत अग्नि दाह नहीं करती है, वैसे ही मन्त्रों करके संस्कार करा हुआ मांस भी दोष के वास्ते नहीं होता है, यह कथन मनुजी का है। यथा—

असंस्कृतान् पशून्मंत्रैर्नाद्याद्विप्रः कथंचन।
मंत्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः॥ १॥
[अ० ५, श्लो० ३६]

अर्थः—मन्त्रों करके असंस्कृत पशुओं के मांस को वैदिक

---

* यो० शा०, प्र० ३, श्लो० ३१ के स्वोपज्ञ विवरण का पाठ।

विधि में स्थित हुआ ब्राह्मण न खावे, अरु जो मन्त्रों करके संस्कृत पशु हैं, तिन का मांस खावे।

परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। मन्त्र करके जो मांस पवित्र किया है, उस मांस को धर्मी पुरुष कदापि भक्षण न करे, क्योंकि मन्त्र जैसे अग्नि की दाह शक्ति को रोकते हैं, तैसे मांस की नरकादि प्रापण-शक्ति को दूर नहीं कर सकते। जेकर दूर कर देवें, तब तो सर्व पाप करके, पीछे पाप हननेवाले मन्त्र के स्मरण मात्र से ही सर्व पाप दूर हो जाने चाहियें। तो फिर जो वेदों में पाप का निषेध करा है, सो सर्व निरर्थक हो जावेगा; क्योंकि सर्व पापों का मन्त्र के स्मरण से ही नाश हो जायगा। इस वास्ते यह भी अज्ञों ही का कहना है।

तथा कोई कहते हैं, कि जैसे थोड़ा सा मद्य पीने से नशा नहीं चढ़ता हैं, तैसे थोड़ा सा मांस खाने में भी पाप नहीं लगता है। यह भी ठीक नहीं। अतः बुद्धिमान् यवमात्र भी मांस न खावे, क्योंकि थोड़ा भी विष जैसे दुःखदायी होता है, तैसे थोड़ा भी मांस खाना दोष के तांइ है।

अब मांस खाने में अनुत्तर दूषण कहते हैं। तत्काल ही इस मांस में संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते है, अरु अनंत निगोद रूप जीवों का संतान—वारंवार होना, तिस करके दूषित है। यदाहुः—

*आमासु अ पक्कासु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
सययं चिय उववाओ, भणिओ उनिगोयजीवाणं ॥
[संवो० स० गा० ९६]

अर्थः—कच्ची तथा अपक्क ऐसी जो मांस की पेशी-बोटी रंधती हैं, तिस में निरन्तर निगोद के जीव उत्पन्न होते हैं। इस वास्ते मांस का खाना जो है, सो नरक में जानेवालों को पूरी खरची है, इस लिये बुद्धिमान् पुरुष मांस कदापि न खावे।

अथ जिन्होंने यह मांस खाना कथन करा है, तिन के नाम लिखते हैं—१. मांस खाने के लोभियों ने, २. मर्यादारहितों ने, ३. नास्तिकों ने, ४. थोड़ी बुद्धिवालों ने, ५. खोटे शास्त्रों के बनानेवालों ने, ६. वैरियों ने मांस खाना कहा है। तथा मांसाहारी से अधिक कोई निर्दयी नहीं। तथा मांसाहारी से अधिक कोई नरक की अग्नि का इन्धन नहीं। गन्दगी खा कर जो सूअर अपने शरीर को पुष्ट करता है, सो अच्छा है; परन्तु जीव को मार के जो निर्दयी हो कर मांस खाता है, सो अच्छा नहीं है।

प्रश्नः—सर्व जीवों का मांस खाना तो सर्व कुशास्त्रों में लिख दिया है, परन्तु मनुष्य का मांस खाना तो कहीं

---

* छायाः—आमासु च पक्कासु च विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सततमेव उपपातो भणितस्तु निगोदजीवानाम् ॥

किसी शास्त्र में नहीं लिखा है; इस का क्या हेतु होगा।

उत्तरः—अपने मांस की रक्षा के वास्ते मनुष्य का मांस खाना नहीं लिखा। क्योंकि वे कुशास्त्रों के बनानेवाले जानते थे, कि यदि मनुष्य का मांस खाना लिखेंगे, तो मनुष्य कभी हम को ही न खा लेवें। इस शङ्का से नहीं लिखा। अतः जो व्यक्ति पुरुषमांस में अरु पशुमांस में विशेष नहीं मानता है, तिस के समान कोई धर्मी नहीं। अरु तिन में जो भेद मान के मांस खाते हैं, इनके समान कोई पापी भी नहीं। तथा मांस जो है, तिस की रुधिर से उत्पत्ति होती है, अरु विष्टे के रस से वृद्धि होती है, तथा लहू जिसमें भरा रहता है, अरु कृमि जिसमें उत्पन्न होते हैं; ऐसे मांस को कौन वुद्धिमान् खा सकता है? आश्चर्य तो यह है, कि ब्राह्मण लोक शुचिमूलक तो धर्म कहते हैं, अरु सप्त धातु से जो मांस, हाड़ बनते हैं, तिस मांस हाड़ को मुख में दांतों से चवाते हैं। अब उनको कुत्तों के समान समझें कि शुचि धर्मवाले मानें? जिन दुष्टों की ऐसी समझ है, कि अन्न और मांस यह दोनों एक सरीखे हैं, तिन की वुद्धि में जीवन अरु मृत्यु के देनेवाले अमृत और विष भी तुल्य ही हैं।

अरु जो जड़-वुद्धि ऐसा अनुमान करते हैं, कि मांस खाने योग्य है, प्राणी का अंग होने से, ओदनादिवत्। इस दृष्टांत से यह मांस भी प्राणी का अंग है; इस वास्ते मांस भी

खाने योग्य है। तब तो गौ का मूत तथा माता, पिता, भार्या, बेटी, इनका मूत पुरुष भी क्यों नहीं पीते खाते हैं? क्योंकि यह प्राणी के अंग हैं। तथा अपनी भार्या की तरें अपनी माता, बहिन, बेटी को क्यों नहीं गमन करते हैं? स्त्रीत्व अरु प्राणी का अंगत्व सर्व जगे बराबर है। तथा जैसे गौ का दूध पीते हैं, तैसे गौ का रुधिर तथा माता पितादिकों का रुधिर भी क्यों नहीं पीते हैं? क्योंकि 'प्राणी का अंग'—हेतु तो सर्व जगह तुल्य हैं। इन वास्ते जो अन्न और मांस इन दोनों को तुल्य जानते हैं, वे भी महा पापियों के सरदार हैं।

तथा शङ्ख को शुचि मानते हैं, परन्तु पशु के हाड़ को कोई शुचि नहीं मानता; इस वास्ते अन्न और मांस यद्यपि प्राणी के अङ्ग हैं, तो भी अन्न भक्ष्य है, अरु मांस अभक्ष्य है। एक पञ्चेन्द्रिय जीव का वध करके जो मांस खाता है, जैसी तिस को नरक गति होती है, तैसी खोटी गति अन्न खाने-वाले को नहीं होती है क्योंकि अन्न मांस नहीं हो सकता है, मांस की तसीरों से अन्न की तसीरें और तरें की हैं। जैसा मांस महाविकार का करनेवाला है, तैसा अन्न नहीं। इत्यादि कारणों से विलक्षण स्वभाव है। इस वास्ते मांस खानेवालों की नरकगति को जान कर संत पुरुष अन्न के भोजन से तृप्ति मानते हैं, सरस पद प्राप्त को होते हैं। ये मांस के दूषण श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र के अनुसार लिखे हैं। तथा इस काल में भी युरोपियन लोग जो बुद्धि-

मान् हैं। उनोंने भी मांस खाने में चौवीस दूषण प्रगट करे हैं। अरु मदिरा पीने से जो ख़रावियां होती हैं, तिन की तो गिनती भी नहीं है। इस वास्ते मदिरा अरु मांस इन दोनों प्रकार के अभक्ष्य को श्रावक त्यागे।

मक्खन खाने का निषेध

८. माखन अभक्ष्य है क्योंकि जैन मत के शास्त्रानुसार छाछ से वाहिर काढ़े माख़न को जब अंतर-मुहूर्त्त अर्थात् दो घड़ी के लगभग काल व्यतीत हो जाता है, तब उस माखन में सूक्ष्म जीव तद्वर्ण के उत्पन्न हो जाते हैं, इस वास्ते माखन खाना वर्जित है। जैन लोगों को छाछ से वाहिर माखन निकाल के तत्काल अग्नि के संयोग से घी बना के, छान के, देख के, पीछे से खाना चाहिये। क्योंकि एक तो इस रीति से शास्त्रोक्त जीव उत्पन्न नहीं होते हैं, तिन की हिंसा भी नहीं होती हैं; अरु मकड़ी, कंसारी, मच्छरादि जानवरों के अवयव—टांग प्रमुख भी घी छानने से निकल जाते हैं। अरु माखन काम की भी वृद्धि करता है, तव मन में खोटे विकल्प उत्पन्न होते हैं; इस वास्ते भी श्रावक को माखन न खाना चाहिये। तथा एक जीव के वध करने से भी जब पाप होता है, तब तो पूर्वोक्त रीति से माखन तो जीवों का ही पिंड हो जाता है, तब माखन के खाने में पाप की क्या गिनती है?

प्रश्नः—माखन में तो दो घड़ी पीछे कोई भी जीव उत्पन्न हुआ हम नहीं देखते हैं, तो फिर माखन में दो घड़ी

पीछे हम क्योंकर जीव मान लेवें ?

उत्तरः—जो जैनमत के शास्त्रों को सत्य मानेगा, वो तो शास्त्रकारों के कथन को सत्य सत्य ही मानेगा, अरु जो जैन के शास्त्रों को सत्य नहीं मानता; वो चाहे सत्य माने, चाहे न माने। परन्तु हम आगम प्रमाण के विना इस वात में और प्रमाण नहीं दे सकते हैं, क्योंकि वस्तु दो तरें की होती है—एक हेतुगम्य, दूसरी आगमगम्य। तो माखन, द्विदलादि में जो जीव उत्पन्न होते हैं; वे हेतुगम्य नहीं, किंतु आगमगम्य हैं। इस वास्ते जो आगम सर्वज्ञ, जिन, अर्हंत वीतराग का कहा हुआ है, उसीका कहा मानना चाहिये। जेकर कोई पुरुष किसी भी शास्त्र को न माने, किन्तु आंखों से देखी वस्तु ही माने; तव तो नरक, स्वर्गादि जो अदृष्ट हैं, उनको भी न मानना चाहिये तथा परमेश्वर चौदवें तथा सातवें आसमान पर रहता है; तथा पुण्य पाप करने से जीव स्वर्ग और नरक में जाता है; यह भी न मानना पड़ेगा। इस वास्ते आगम प्रमाण भी मानना चाहिये; क्योंकि सर्व वस्तु हमारी दृष्टि में नहीं आती है।

मधुभक्षण का निषेध

९. मधु अर्थात् सहत अभक्ष्य है। सहत जो है, सो अनेक जीवों का घात होने से उत्पन्न होता है, यह तो परलोक विरोध दोष है। अरु मधु जुगुप्सनीय—निंदने योग्य है। मुख की लालवत् यह इहलोक विरुद्ध दोष है। इस

वास्ते श्रावक धर्मी को मधु न खाना चाहिये। अब मधु खाने वाले में पापीपना दिखाते हैं। यथाः—

भक्षयन् माक्षिकं क्षुद्रं, जंतुलक्षक्षयोद्भवम्।
स्तोकजंतुनिहंतृभ्यः, शौनिकेभ्योऽतिरिच्यते॥
[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ३७]

अर्थः—लाखों क्षुद्र जन्तु—छोटे जीवों अथवा हाड़ रहित जीवों, उपलक्षण से बहुत जीवों का जब विनाश होता है, तब मधु उत्पन्न होता है। जब मधु भक्षण करता है, तब थोड़े पशु मारनेवाले कसाई से भी उसको अधिक पाप लगता है। क्योंकि जो भक्षक है, सो भी घातक है, यह बात ऊपर लिख आये हैं। तथा लोक में यह व्यवहार है, कि जूठा भोजन नहीं खाना। परन्तु यह जो मधु है, सो तो महा-जूठ है। क्योंकि एक एक फूल से रस—मकरन्द पी करके मक्खियें वमन करती हैं, सो मधु है। इस वास्ते धर्मी पुरुष को जूठ न खानी चाहिये। यह लौकिक व्यवहार में प्रसिद्ध है।

यदि कोई कहे कि मधु तो त्रिदोष का दूर करने वाला है, इस लिये रोग दूर करने के वास्ते औषधि में भक्षण करे तो क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैंः—

अप्यौषधकृते जग्धं, मधु श्वभ्रनिबंधनम् ।
भक्षितः प्राणनाशाय, कालकूटकणोऽपि हि ॥
[यो० शा०, प्र० ३, श्लो० ३९]

अर्थः—जो कोई रस की लंपटता से मधु खावे, उसकी बात तो दूर रही, परन्तु जो औषधि के वास्ते भी मधु खावे, सो यद्यपि रोगादि अपहारक है, तो भी नरक का कारण है। क्योंकि प्रमाद के उदय से जीवन का अर्थी हो कर जो कोई कालकूट विष का एक कण भी खायगा, सो ज़रूर प्राण नाश के वास्ते होवेगा।

प्रश्नः—मधु तो खजूर, द्राक्षादि रस की तरे मीठा है, सर्व इन्द्रियों को सुखकारी है, तो फिर इसको त्यागने योग्य क्यों कहते हो ?

उत्तरः—सत्य है! मधु मीठा है, यह व्यवहार से है, परंतु परमार्थ से तो नरक की वेदना का हेतु होने से अत्यंत कडुआ है।

अब जो मंद बुद्धि जीव, मधु को पवित्र मान कर उस को देवस्नान में उपयोगी समझते हैं, तिन का उपहास्य शास्त्रकार करते हैं:—

मक्षिकामुखनिष्ठ्यूतं, जंतुघातोद्भवं मधु ।
अहो पवित्रं मन्वाना, देवस्नाने प्रयुञ्जते ॥
[यो० शा०, प्र० ३, श्लो० ४१]

अर्थः—मक्खियों के मुख की जूठ, अरु जीवघात से अर्थात् हज़ारों बच्चों अरु अण्डों के मारने से उत्पन्न होता है; वो बच्चे, अण्डे जब मरते हैं, तब तिन के शरीर का लहू पानी भी मधु के बीच मिल जाते हैं। तब तो मधु महा अशुचिरूप है। अहो यह शब्द उपहास्यार्थ में है। क्योंकि जैसे वे देवता हैं, तैसी तिन को पवित्र वस्तु चढ़ायी जाती है, यह उपहास्य है। 'अहो शब्द उपहासे' यथाः—

करभाणां विवाहे तु, रासभास्तत्र गायनाः।
परस्परं प्रशंसंति, अहो रूपमहो ध्वनिः ॥

१०. पानी की बनी हुई बरफ़ अभक्ष्य है, क्योंकि यह असंख्य अप्काय जीवों का पिण्ड है। इसके खाने से चेतना मंद होती है, अरु तत्काल सरदी करती है, कुछ बलवृद्धि भी नहीं करती है, अरु वीतराग अर्हंत सर्वज्ञ परमेश्वर ने इसका निषेध करा है; इस वास्ते यह अभक्ष्य है।

११. अफीम प्रमुख विष वस्तु के खाने से पेट में कृमि, गंडोलादिक जीव होते हैं, सो मर जाते हैं। विष खाने से चेतना मुरझा जाती है। अरु जेकर खाने का ढब पड़ जाता है, तो फिर छूटना मुश्किल होता है। वक्त पर अमल न मिले तो क्रोध उत्पन्न होता है। शरीर शिथिल हो जाता है। अरु जो अमली हो जाता है, उसको व्रत नियम अंगी-

कार करना दुष्कर है। अमली का स्वभाव बदल जाता है। जब अमल खाता है, तब एक रंग होता है, अरु जब अमल उतर जाता है, तब दूसरा रंग हो जाता है। तथा स्वतंत्रता छोड़ कर पराधीन होना पड़ता है। इसका खाने में स्वाद भी बुरा है। तथा विष खानेवाला जहां लघुनीति, वड़ी-नीति करता है, तिस क्षेत्र में त्रस थावर जीवों की हिंसा होती है। सोमल, वच्छनाग, मीठा तेलिया, संखिया, हरताल प्रमुख ये सर्व विष ही में जानने, इसके खाने का त्याग करना।

१२. करक—ओले-गड़े जो आकाश से गिरते हैं, यह भी अभक्ष्य हैं।

१३. सर्व जात की कच्ची मट्टी अभक्ष्य है। कच्ची-सचित्त मट्टी नाना प्रकार की असंख्य जीवात्मक जाननी। मट्टी खाने से पेट में बहुत जीव उत्पन्न हो जाते हैं। तथा पांडु रोग, आंब, वात, पित्त, पथरी प्रमुख बहुत रोग उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत मट्टी खानेवाले का पीला रङ्ग हो जाता है। तथा कितनीक जात की मट्टी में मेंडक प्रमुख जीवों की योनि है, इस वास्ते अभक्ष्य है।

रात्रिभोजन का निषेध

१४. रात्रिभोजन अभक्ष्य है। रात्रिभोजन में तो प्रत्यक्ष से दूषण इस लोक में है, अरु परलोक में दुःख का हेतु है। रात्रि में चारों आहार अभक्ष्य हैं, रात्रि में जो जैसे रंग का आहार होता है, तिस में तैसे रंग के जीव जिनका नाम

तमस्काय जीव हैं, उत्पन्न होते हैं। तथा आश्रित जीव भी बहुत होते हैं। तथा रात्रि में उचित अनुचित वस्तु का मेल संमेल हो जाता है। तथा रात्रिभोजन करने से प्रसंग दोष बहुत लगते हैं। सो किस तरे? कि जब रात्रि को खावेगा तब नित्य रसोई भी रात्रि को करनी पड़ेगी, तिस में जीवों का अवश्य संहार होवेगा। इस प्रकार करने से श्रावक के कुल का आचार भ्रष्ट हो जाता है। सूक्ष्म त्रस जीव नज़र में नहीं आते हैं; कदापि दीख भी जावें तो भी यत्न नहीं होता। जब अग्नि बलती है, तब पास की भीत में रात्रि को जो जीव आश्रित हैं, वो तप्त से आकुल व्याकुल होकर अग्नि में गिर पडते हैं। सर्पादिकों के मुख से जेकर भोजन में लाल गिरे, तब कुटुम्ब का तथा अपनी आत्मा का विनाश होवेगा। तथा पतंगियें प्रमुख पड़ेंगे। छत में अरु छप्पर में रात्रि को सर्प, किरली, छपकली, मकड़ी, मच्छरादि बहुत जीव वसते हैं। जेकर ये जीव भोजन में खाये जावें तो भारी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यदुक्तं योगशास्त्रे—

मेधां पिपीलिका हंति, यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वांतिं, कुष्टरोगं च कोलिकः॥
कंटको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनांतर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः॥

चिलग्रश्च गले वालः, स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशिभोजने ॥
[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ५०-५२]

अर्थः—कीड़ी अन्नादि में खाई जावे, तो बुद्धि को मंद करती है, तथा यूका—जूं खाने से जलोदर करती है; मक्षी वमन करती है, मकड़ी कुष्ठ रोग करती है; अरु वेरी प्रमुख का कांटा तथा काष्ठ का टुकड़ा गले में पीड़ा करता है; तथा बटेरे आदि के व्यञ्जन में जेकर विच्छु खाया जावे तो तालु को वींधता है, इत्यादि रात्रिभोजन करने में दृष्ट दोष—सर्व लोगों के देखने में आते हैं। तथा रात्रिभोजन करने पर अवश्य पाक अर्थात् रसोई रात्रि को करनी पड़ेगी। तिस में अवश्य षट्काय के जीवों का वध होवेगा। भाजन धोने से जलगत जीवों का विनाश होता है। जल गेरने से भूमि में कुंथु, कीड़ा प्रमुख जीवों का घात होता है। इस वास्ते जिस को जीव रक्षण की आकांक्षा होवे, वो रात्रिभोजन न करे।

जहां अन्न भी रांधना न पड़े, भाजन भी धोने न पड़े ऐसे जो वने वनाये लड्डू, खजूर, द्राक्षादि भक्ष्य हैं; तिन के खाने में क्या दोष है? सो कहते हैं—

नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजंतूनि, निश्यद्यात्प्राशुकान्यपि ।
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशासनम् ॥
[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ५३]

अर्थः—मोदकादि, फलादि, यद्यपि प्राशुक अर्थात् अचेतन भी हैं, तो भी रात को न खाने चाहियें; क्योंकि सूक्ष्म जीव—कुंथ्वादि देखे नहीं जाते हैं। केवली भी जिन को सदा सर्व कुछ दीखता है, रात्रि में भोजन नहीं करते हैं। केवली सूक्ष्म जीवों की रक्षा के वास्ते अरु अशुद्ध व्यवहार को दूर करने के वास्ते रात्रि को नहीं खाते हैं। यद्यपि दीवे के चांदने से कीड़ी प्रमुख दीख जाती हैं, तो भी मूलगुण की विराधना को टालने के वास्ते रात्रिभोजन अनाचीर्ण है।

अब लौकिक मतवालों की सम्मति देकर रात्रिभोजन का निषेध करते हैं:—

> धर्मविन्नैव भुंजीत, कदाचन दिनात्यये।
> बाह्या अपि निशाभोज्यं, यदभोज्यं प्रचक्षते॥
> [यो० शा० प्र० ३, श्लो० ५४]

अर्थः—श्रुत धर्म का जाननेवाला कदाचित् रात्रिभोजन न करे, क्योंकि जो जिनशासन से बाहिर के मतवाले हैं, वे भी रात्रिभोजन को अभक्ष्य कहते हैं:—

> त्रयीतेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदुः।
> तत्करैः पूतमखिलं, शुभं कर्म समाचरेत्॥
> [यो० शा० प्र० ३, श्लो० ५५]

अर्थः—ऋग्, यजु, साम लक्षण तीनों वेद, तिन का तेज

जिस में है सो सूर्य है, 'त्रयीतनु' ऐसा सूर्य का नाम है। ऐसा वेदों के जानने वाले जानते हैं। तिस सूर्य की किरणों करके पूत–पवित्र संपूर्ण शुभ कर्म अंगीकार करे। जब सूर्योदय न होवे, तब शुभ कर्म न करे। तिन शुभ कर्मों का नाम लिखते हैं:—

नैवाहूतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥
[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ५६]

अर्थः—आहुति—अग्नि में घृतादि प्रक्षेप करना, स्नान–अंग प्रत्यंग का प्रक्षाल करना, श्राद्ध—पितृकर्म, देवपूजा, दान देना और भोजन तो विशेष करके रात्रि में न करना। तथा परमत के यह भी दो श्लोक हैं:—

देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा।
अपराह्णे तु पितृभिः, सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥ १ ॥
संध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वह !।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥ २ ॥
[यो० शा० प्र० ३, ५८, ५९]

अर्थः—सवेरे तो देवता भोजन करते हैं, मध्याह्न अर्थात् दो पहर दिन चढ़े ऋषि भोजन करते हैं, अपराह्न अर्थात्

दिन के पिछले भाग में पितर भोजन करते है, अरु [सायान्ह—विकाल वेला में दैत्य दानव भोजन करते हैं, संध्या में—रात दिन की संधि में यक्ष, गुह्यक, राक्षस खाते हैं। "कुलोद्वहेति युधिष्ठिरस्यामंत्रणम्"—हे युधिष्ठिर! सर्व देवतादि के वक्त का उल्लंघन करके रात्रि को जो खाना है, सो अभक्ष्य है। यह इन पुराणों के श्लोकों करके रात्रिभोजन के निषेध का संवाद कहा।

अब वैद्यक शास्त्र का भी रात्रिभोजन के निषेध का संवाद कहते हैंः—

हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चंडरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि॥

[योगशा० प्र० ३, श्लोक० ६०]

अर्थः—इस शरीर में दो पद्म अर्थात् कमल हैं। एक तो हृदय पद्म, सो अधोमुख है, दूसरा नाभिपद्म, सो ऊर्ध्वमुख है। इन दोनों कमलों का रात्रि में संकोच हो जाता है। किस कारण से संकोच हो जाता है? सूर्य के अस्त हो जाने से संकोच हो जाता हैं। इस वास्ते रात्रि को न खाना चाहिये। तथा रात्रि को सूक्ष्म जीव खाये जाते हैं, इस से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। यह परपक्ष का संवाद कहा। अब फिर स्वमत से रात्रिभोजन का निषेध कहते हैंः—

संसज्जज्जीवसंघातं, भुञ्जाना निशिभोजनम् ।
राक्षसेभ्यो विशिष्यंते, मूढात्मानः कथं न ते ? ॥
[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ६१]

अर्थः—जब रात्रि में खाता है, तब जीवों का समूह भोजन में पड़ जाता है। ऐसे अंधरूप, रात्रि के भोजन के खाने वालों को राक्षसों से भी क्योंकर विशेष नहीं कहना ? जब पुरुष जिनधर्म से रहित हो कर विरति नहीं करता है, तब शृंग पुच्छ से रहित पशु रूप ही है। यदुक्तं—

वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति ।
शृंगपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥
[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ६२]

अब रात्रिभोजन निवृत्ति के वास्ते पुण्यवंतो को अभ्यास विशेष दिखाते हैं।

अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥
[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ६३]

अर्थः—दिन उदय में अरु अस्त समय में दो दो घड़ी वर्जनी चाहिये, क्योंकि रात्रि निकट होती है। इसी वास्ते आगम में सर्व जघन्य प्रत्याख्यान मुहूर्त्त प्रमाण

नमस्कार सहित कहा है। रात्रिभोजन के दूषणों का जानकार श्रावक दो घड़ी जब शेष दिन रहे, तब भोजन करे। जेकर दो घड़ी से थोड़ा दिन रहे भोजन करे, तो रात्रिभोजन के प्रत्याख्यान का उस को फल नहीं होता है। जेकर कोई रात्रि को न भी खावे, परंतु जो उसने रात्रिभोजन का प्रत्याख्यान नहीं करा; तो उसको भी कुछ फल नहीं मिलता है। क्योंकि उसने प्रतिज्ञा नहीं करी है। जैसे कि कोई पुरुष रुपये जमा करावे अरु व्याज का करार न करे। उस को व्याज नहीं मिलता है। इस वास्ते नियम ज़रूर करना चाहिये।

अब रात्रिभोजन करने का परलोक में होनेवाला कुफल कहते हैं:—

उलूककाकमार्जारगृध्रशंबरशूकराः ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायंते रात्रिभोजनात् ॥

[यो० शा० प्र० ३, श्लो० ६७]

अर्थः—उल्लू, काग, बिल्ली, गृध्र-चील, बारासिंगा, सूअर, सर्प, बिच्छू, गोह इत्यादि तिर्यंच योनि में रात्रिभोजन करनेवाले मर के जाते हैं। अरु जो रात्रिभोजन न करें, उनको एक वर्ष में छ महीने के तप का फल होता है।

१५. बहुबीजा फल भी अभक्ष्य है। जिस में गिरु थोड़ा अरु बीज बहुत होवे, सो बैंगण, पटोल, खसखस, पंपोटा

प्रमुख फल। जिस में जितने वीज हैं, उस में उतने पर्याप्त जीव हैं। जो कि खाने में तो थोड़ा आता है, अरु जीवघात वहुत होता है। तथा वहुवीजा फल खाने से पित्त प्रमुख रोगों की अधिकता होती है, अरु जिनाज्ञा के विरुद्ध है।

१६. संधान—अथाणा—आचार तीन दिन से उपरांत का अभक्ष्य है। सो आचार अंब का, निंवु का, पत्र का, कर्मदा का, आदे का, जिमीकंद का, गिरमिर का, इत्यादि अनेक वस्तु का आचार वनता है। वह चाहे घी का होवे वा तेल का होवे वा पानी का होवे, सर्व तीन दिन उपरांत का अभक्ष्य है। परंतु इतना विशेष है, कि जो फल आप खट्टे हैं अथवा दूसरी वस्तु में खट्टा—अंबादिक जो मेल देवें, वे तो तीन दिन उपरांत अभक्ष्य है, अरु जिस वस्तु में खटाई नहीं है उसका आचार एक रात्रि से उपरांत अभक्ष्य है। क्योंकि इस आचार में त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अरु विल्ल प्रमुख तो प्रथम ही अभक्ष्य हैं, तो फिर उनके आचार का तो क्या ही कहना है! आचार में चौथे दिन निश्चय दो इंद्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं। तथा जूठा हाथ लग जावे तो पंचेंद्रिय जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरे मतवालों के शास्त्रों में भी आचार नरक का हेतु लिखा हैं।

१७. द्विदल—जिस की दो दाल हो जावें, अरु घाणी में पीलें, तो जिस में से तेल न निकले, ऐसे सर्व अन्न को द्विदल कहते हैं। तिस द्विदल के साथ जो गोरस अग्नि ऊपर नहीं

चढ़ा है, ऐसा कच्चा दही, कच्चा दूध, छाछ इन के साथ नहीं जीमना। अरु जेकर दही, दूध, छाछ गरम करी होवे फिर पीछे चाहे ठण्डा हो जावे, उसमें जो द्विदल मिला कर खावे तो दोष नहीं है।

१८. सर्व जात के बैंगण एक तो बहुवीज हैं, इस वास्ते अभक्ष्य हैं। तिस के वीट में सूक्ष्म त्रस जीव रहते हैं। तथा बैंगण काम की वृद्धि करते हैं, नीन्द अधिक करते हैं, कुछक बुद्धि को भी ढीठ करते हैं। इनका नाम भी बुरा है। इन का आकार भी अच्छा नहीं है। तथा कफ रोग को करता है। इनके अधिक खाने से चौथैया तप और खई रोगादि हो जाते हैं। और सब जात के फल तो सूखे भी खाने में आते हैं परन्तु यह तो सूखा भी खाने योग्य नहीं हैं। क्योंकि सूखे पीछे ये ऐसे हो जाते हैं, कि मानों चूहों की खलड़ी है। ताते यह द्रव्य अशुद्ध है, इस वास्ते अभक्ष्य है।

१९. तुच्छ फल—जो ढींडु, पीलुं, पेंचु तथा अत्यंत कोमल फल सो भी अभक्ष्य हैं। क्योंकि ऐसी वस्तु बहुत भी खावे, तो भी तृप्ति नहीं होती है। अरु खाने में थोड़ा आता है और गेरना बहुत पड़ता है। तथा फल खाया पीछे तिन की गुठली जो मुख में चबोल के गेरते हैं, उस में असंख्य पंचेंद्रिय संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। तथा जो पुरुष बहुत तुच्छ फल खाता है, तिस को तत्काल ही रोग हो जाता है।

२०. अजाणा—अज्ञात फल—जिस का नाम कोई न जानता

होवे, तथा न किसी ने खाया होवे, सो फल भी अभक्ष्य है। क्योंकि क्या जाने कभी जहर फल खाया जावे, तो मरण हो जावे तथा बावला हो जावे।

२१. चलित रस—सो जिस वस्तु का काल पूरा हो गया होवे अरु स्वाद बदल गया होवे—सो जब स्वाद बदल जाता है, तब तिस का काल भी पूरा हो जाता है; जिस में से दुर्गंध आने लगे, तार पड़ जावें, सो चलितरस वस्तु है। यह भी अभक्ष्य है। रोटी, तरकारी, खिचड़ी, बड़ा, नरमपूरी, सीरा, हलवा, इत्यादि रसोई की अनेक वस्तु जिन में पानी की सरसाई है, ऐसी वस्तु एक रात के उपरांत अभक्ष्य है। तथा द्विदल–दाल बड़े, गुलगले, भुजिये जिन में पानी की सरसाई है, वे चार पहर के उपरांत अभक्ष्य हैं। जूगली की राब–घेंस जो बिना विदल के और ओदन छाछ में रांधा है, सो आठ पहर उपरांत अभक्ष्य है। तथा वर्षाकाल में अच्छी रीति से जो मिठाई बनी होवे, तो पंदरह दिन उपरांत अभक्ष्य है। जेकर पंदरह दिन से पहिले बिगड़ जावे, तो पहिले ही अभक्ष्य है। इसी तरे सर्वत्र जान लेना। तथा उष्णकाल में मिठाई की स्थिति बीस दिन की है, अरु शीत काल में मिठाई की स्थिति एक मास की है; उपरांत अभक्ष्य है। तथा दही सोलां पहर उपरांत अभक्ष्य है, छाछ भी दहीवत् जान लेनी। इस चलित रस में दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, इस वास्ते यह अभक्ष्य है।

अनंतकाय का स्वरूप

२२. बत्तीस अनंतकाय सर्व अभक्ष्य हैं। क्योंकि सूई के अग्रभाग पर जितना टुकड़ा अनंतकाय का आता है, उस टुकड़े में भी अनंत जीव हैं, इस वास्ते अभक्ष्य है। तिस का नाम लिखते हैं:—१. भूमि के अंदर जितना कंद उत्पन्न होता है, सो सर्व अनंतकाय है, २. सूरणकंद, ३. वज्रकंद, ४. हरी हलदी, ५. अद्रक, ६. हरा कचूर, ७. सौंफ की जड़, तिस का नाम विराली कंद है, ८. सतावरवेल औषधि, ९. कुआर, १०. थोहर कंद, ११. गिलो, १२. लसन, १३. बांस का करेला, १४. गाजर, १५. लाणा, जिसकी सज्जी बनती है, १६. लोढी पद्मनी सो लोढाकंद, १७. गिरमिर–गिरिकरनी कच्छ देश में प्रसिद्ध है। १८. किसलयपत्र—कोमल पत्र—जो नवा अंकुर उगता है। सर्व वनस्पति के उगते वक्त के अंकुर प्रथम अनन्तकाय होते हैं। पीछे जब बढ़ते हैं, तब प्रत्येक भी हो जाते हैं, अरु अनंतकाय भी रहते हैं। १९. खरसूयाकंद-कसेरु, २०. थेग कंद विशेष है, तथा थेग नामक भाजी, २१. हरे मोथ, २२. लवण वृक्ष की छाल, २३. खिलोड़ी, २४. अमृतवेल, २५. मूली, २६. भूमिरुहा सो भूमिफोड़ा छत्राकार, जिनको बालक पद्बहेड़े कहते हैं, तथा खुंभ्भां कहते है, २७. वथुवे की प्रथम उगते की भाजी, २८. करुहार, २९ सूयरवल्ली–जो जंगल में बड़ी वेलडी हो जाती है, ३० पलक की भाजी, ३१. कोमल आंबली, जहां

तक उसमें वीज नहीं पड़ा है, तहां तक अनंतकाय है, ३२. आलु, रतालु, पिंडालु, यह वत्तीस अनंतकाय का नाम सामान्य प्रकार से कहा है, अरु विशेप नाम तो अनेक हैं। क्योंकि कोई एक वनस्पति तो पञ्चांग अनंतकाय है, कोई का मूल अनंतकाय है, कोई का पत्र, कोई का फूल, कोई की छाल, कोई का काष्ठ; ऐसे कोई के एक अंग, कोई के दो अंग, कोई के तीन अंग, कोई के चार अंग, कोई के पांच अंग अनंतकाय हैं।

अब इस अनंतकायके जानने के वास्ते लक्षण लिखते हैं। जिसके पत्ते, फूल, फल, प्रमुख की नसें गूढ होवें—दीखे नहीं, तथा जिसकी संधि गुप्त होवे, जो तोड़ने से बराबर टूटे, अरु जो जड़ से काटी हुई फिर हरी हो जावे, जिसके पत्ते मोटे दलदार चीकने होवें, जिसके पत्ते अरु फल बहुत कोमल होवे, वे सर्व अनंतकाय जाननी।

इन अभक्ष्यों में अफीम, भांग प्रमुख का जिसको पहिला अमल लगा होवे, तो तिस के रखने की जयणा करे। तथा रात्रिभोजन में चउविहार, तिविहार, दुविहार एक मास में इतने करूं, ऐसा नियम करे। तथा रोगादिक के कारण किसी औषधि में कोई अभक्ष्य खाना पड़े, तिस की जयणा रक्खे। तथा बत्तीस अनंतकाय तो सर्वथा निषिद्ध हैं, तो भी रोगादि के कारण से औषधि में खानी पड़े, तिस की जयणा रक्खे। तथा अजानपने किसी वस्तु में मिली हुई खाने

में आ जावे, तो तिस की भी जयणा रक्खे।

अथ चौदह नियम का विवरण लिखते हैंः—

सचित्त दव्व विगइ, वाणह तंबोल वत्थ कुसुमेसु।
वाहण सयण विलेवण, वंभ दिसि न्हाणभत्तेसु ॥

चौदह नियम

श्रावक के जावजीव पांच अणुव्रत में इच्छा परिमाण अर्थात् आगे की अनेक तरे की कर्म परिणति का संभव जान कर अपने निर्वाह और सामर्थ्य के अति दुस्तर उदय का विचार करके, इच्छा परिमाण में वहुत वस्तु खुली रक्खी हैं, तिन में से फिर नित्य के आश्रव का निवारण करने के वास्ते संक्षेप करणार्थ चौदह नियम का धारण प्रतिदिन करना चाहिये। तिस का स्वरूप कहते हैंः—

१. सचित्त परिमाण—सो मुख्य वृत्ति से तो श्रावक को सचित्त का त्याग करना चाहिये, क्योंकि अचित्त वस्तु के खाने में चार गुण हैं—१. अप्राशुक जलादिक का पीना वर्जने से, सर्व सचित्त वस्तु का त्याग हो जाता है। जहां तक अचित्त वस्तु न होवे, तहां तक मुख में प्रक्षेप न करे। २. जिह्वा इन्द्रिय जीती जाती है। क्योंकि कितनीक वस्तु विना रांधे स्वादवाली होती हैं, तिन का त्याग हुआ। ३. अचित्त जलादि पीने से कामचेष्टा मंद हो जाती है, अरु चित्त में ऐसा खटका दरहमेश रहता है कि, मेरे

को कभी सचित्त वस्तु खाने में न आ जावे। ४. जलादिक द्रव्य अचेतन करने में जो जीवहिंसा हुई है, सो तो कर्म-बन्धन का कारण बन चूकी; परंतु जो क्षण क्षण में असंख्य-अनंत जीवों की उत्पत्ति होती थी, सो तो मिट गई, तिन की हिंसा न होवेगी। अरु जो कोई मूढमति अपनी मनः-कल्पना से ऐसा विचार करे कि, अचित्त करने में षट्काय के जीवों की हिंसा होती है, अरु सचित्त जलादिक पीने में तो एक जलादिक की हिंसा है; इस वास्ते सचित्त का त्याग न करना चाहिये; और ऐसा विचार कर सचित्त त्यागे नहीं सो मूर्ख जिनमत के रहस्य को नही जानता। क्योंकि सचित्त के त्यागने से आत्मदमनता, औत्सुक्य निवारणता, विषयकषाय की मंदता होती है। अरु इसमें स्वदयागुण बहुत है, यह भी वो नहीं जानते। इस वास्ते सचित्त त्यागने में बहुत लाभ है।

२. द्रव्य नियम—सो धातु वा शिला, काष्ठ, मट्टी का पात्र प्रमुख तथा अपनी अंगुली प्रमुख विना, मुख से खाने में जो आवे सो द्रव्य कहते हैं—"परिणामांतरापन्नं द्रव्यमुच्यते"—तिन में खिचड़ी, मोदक, पापड़, बड़ा प्रमुख तो बहुत द्रव्यों से बनते हैं, तो भी परिणामांतर से एक ही द्रव्य है। तथा एक ही गेहूं की बनी रोटी, पोली, गूगरी, बाटी प्रमुख है, तो भी यह सर्व भिन्न द्रव्य हैं; क्योंकि नामांतर, स्वादांतर, रूपांतर, परिणामांतर से द्रव्यांतर हो

जाते हैं। तथा कईएक आचार्य और तरे भी द्रव्य का स्वरूप कहते है; परन्तु जो ऊपर लिखा है, सो ही बहुत से वृद्ध आचार्यों को सम्मत है। इस वास्ते द्रव्यों का परिमाण करे कि आज मैं इतने द्रव्य खाऊंगा।

३. विगय नियम—सो विगय दश प्रकार का है, तिन में—१. मधु, २. मांस, ३. माखन, ४. मदिरा, यह चार तो महाविगय हैं, इन चारों का त्याग तो बावीस अभक्ष्य में लिख आये हैं, शेष छ विगय रहीं; तिन का नाम कहते है—१. दूध, २. दही, ३. घृत, ४. तैल, ५. गुड़, ६. सर्वजात का पकान्न। इन छ विगय में से नित्य एक, दो, तीनादि विगय का त्याग करे, अरु एक एक विगय के पांच पांच निवीता भी विगय के साथ त्यागना चाहिये। जेकर निवीता त्यागने की मन में न होवे, तब प्रत्याख्यान करने के अवसर में मन में धारे कि मेरे विगय का त्याग हैं; परन्तु निवीता का त्याग नहीं।

४. उपानह—जूता पहिरने का नियम करे। पगरखी, खड़ावां, मौजा, बूट प्रमुख सर्व का नियम करे, क्योंकि यह सर्व जीवहिंसा के अधिकरण हैं। तिन में श्रावक ने जिनपूजादि कारण विना खड़ावां तो कदापि नहीं पहरनी, क्योंकि इन के हेठ जो जीव आ जाता है, वो जीता नहीं रहता है। अरु गृहस्थ लोगों को जूते के विना सरता नहीं, इस वास्ते मर्यादा कर लेवे। फिर दूसरे के जूते में पग न देवे,

भूलचूक हो जावे तो आगार।

५. तंबोल—सो चौथा स्वादिम नामा आहार है, उस का नियम करे। उस में पान, सोपारी, लवंग, इलायची, तज, दारचीनी, जातिफल, जावत्री, पीपलामूल, पीपर, प्रमुख करियाने की चीजें, जिन से मुख शुद्ध हो जावे, परन्तु उदर भरण न होवे, तिस को तंबोल कहते हैं। तिस का परिमाण करे।

६. वस्त्र नियम—सो पुरुष के पांचों अंगो के वस्त्रों का वेष पहरने की संख्या करे कि, आज के दिन में मेरे को इतने वेष रखने हैं, तथा इतने खुल्ले वस्त्र ओढ़ने हैं। तथा रात्रि को पहिरने के वस्त्र तथा स्नान समय पहिरने के वस्त्र की वेष में गिनती नहीं। समुच्चय वस्त्र की संख्या रख लेवे। अजान-पने भेल, संभेल हो जावे तो आगार।

७. फूलों के भोग का नियम करे—सो मस्तक में रखने-वाले, अरु गले में पहिरनेवाले, तथा फूलों की शय्या, फूलों का तकिया, फूलों का पंखा, फूलों का चंद्रवा, जाली प्रमुख जो जो वस्तु भोग में आवें, फूल की छड़ी, सेहरा, कलगी, अरु जो सूंघने में आवे तिन का तोल-परिमाण रखना।

८. वाहन का नियम करे—सो रथ, गाड़ी, घोड़ा, पालखी, ऊंट, बलद, नाव प्रमुख, जिस के ऊपर बैठ के जहां जांना होवे, तहां जावे। सो वाहन सर्व तीन तरें का है—१. तरता, २. फिरता, ३. उड़ता. तिन की संख्या का नियम करे कि

इस तरें की सवारी में आज चढ़ना।

९. शयन-शय्या का नियम करे—सो खाट, चौकी, पाट, तखत, कुरसी, पालकी, सुखासन प्रमुख जितने रखने होवें, सो मन में धार लेवे।

१०. विलेपन का नियम करे—सो भोग के वास्ते केसर, चंदन, चोवा, अतर, फुलेल, गुलावादिक जो वस्तु अंग में लगानी होवे, तिस का नाम मन में धार लेवे; तथा अंगलूहणा भी इसी में रख लेना। इस में इतना विशेष है कि, देवपूजा, देवदर्शन, इत्यादि धर्म करनी करते समय हाथ में धूप, अगरवत्ती लेनी पड़े, तथा अपने मस्तक में तिलक करना पड़े, तिस का श्रावक को नियम नहीं है।

११. ब्रह्मचर्य का नियम करे—सो दिन में अरु रात्रि में इतनी वार स्वस्त्री से मैथुन सेवना, उपरांत स्वस्त्री से भी नहीं सेवना; अरु हास्य, विनोद, आलिंगन, चुंबनादिक करने का भांगा रक्खे।

१२. दिशा का नियम करे—अमुक दिशा में आज मैंने इतने कोस उपरांत नहीं जाना। इसमें आदेश, उपदेश, माणस भेजना, चिट्ठी लिखनी ए सर्व नियम आ गये। जैसे पाल सके, तैसे नियम करे।

१३. स्नान का नियम करे—सो आज के दिन तैल मर्दनपूर्वक तथा विन मर्दनपूर्वक कितनी वक्त स्नान करना, सो धार लेवे। इसमें देवपूजा के वास्ते नियम से अधिक स्नान

करना पड़े, तो व्रत भंग नहीं ।

१४. भात पानी का नियम—सो चार आहार में से स्वादिम का तो तंबोल के नियम में परिमाण रक्खा है, शेष तीन आहार हैं । तिन में प्रथम अशन—सो भात, रोटी, कचौरी, सीरा प्रमुख; तिस का परिमाण करे कि, आज के दिन में इतना सेर मेरे को खाना है, उपरांत का त्याग है । जहां घर में वहुत परिवार होवे, तिस के वास्ते वहुत अशनादि कराने पड़े, तिस की जयणा रक्खे । तथा औरों के घरों में पंचायत जीमे, तहां जाना पड़े, वहां वहुत आदमियों की रसोई वना रक्खी है, उसका दूषण नियमधारी को नहीं । क्योंकि नियमधारी ने तो अपने ही खाने की मर्यादा करी है, परन्तु न्याति के खाने की मर्यादा नहीं करी है । इस वास्ते अपने खाने का परिमाण करे कि, इतने सेर के उपरान्त मैं आज नहीं खाऊंगा । तथा दूसरा पानी—तिसके पीने का परिमाण करे कि, इतने कलसों के उपरांत पानी मैं ने आज नहीं पीना । तथा तीसरा खादिम—सो मिठाई अथवा मिष्टान्न-मोदकादिक, तिनका परिमाण करे । यह चौदह नियम हैं । इहां अधिक भाववाला श्रावक होवे, सो सचित्तादि परिमाण में द्रव्य का परिमाण जुदा जुदा नाम लेकर रक्खे, तो वहुत निर्जरा होवे ।

अथ पंदरा कर्मादान का स्वरूप लिखते हैं। इन पंदरह व्यापार का श्रावक को निषेध है, सो करना

पंदरह कर्मादान

नहीं। क्योंकि इन के करने से बहुत पाप लगता है। जेकर श्रावक की आजीविका न चलती होवे तो परिमाण कर लेवे। सो अत्र पंदरा कर्मादान का नाम कहते हैं:—

१. इंगालकर्म-सो कोयले बना कर बेचने, ईंटें बनाकर बेचनी; भांडे, खिलौने बना पका करके बेचे। लोहार का कर्म, सोनार का कर्म, वंगड़ीकार, सीसकार, कलाल, भठियारा, भड़भूंजा, हलवाई, धातुगालक, इत्यादि जो व्यापार अग्नि के द्वारा होवें, सो सर्व इंगालकर्म हैं। इस में पाप बहुत लगता है, अरु लाभ थोड़ा होता है, इस वास्ते यह कर्म श्रावक न करे।

२. वनकर्म—सो छेधा अनछेधा वन बेचे, वगीचे के फल पत्र बेचे, फल, फूल, कंदमूल, तृण, काष्ठ, लकड़ी, वंशादिक बेचे, तथा जो हरी वनस्पति बेचे। यह सर्व वनकर्म है।

३. साड़ीकर्म—गाड़ी, वहिल तथा सवारी का रथ, नावा, जहाज़, तथा हल, दंताल, चरखा, घाणी का अंग, तथा धूंसरा, चक्की, उखली, मूसल प्रमुख बना करके बेचे; यह सर्व साड़ी-शकटकर्म हैं।

४. भाड़ीकर्म—गाड़ा, बलद, ऊंट, भैंस, गधा, खच्चर,

घोड़ा, नाव, रथ प्रमुख से दूसरों का बोझ वहे–ढोवे, भाड़े से आजीविका करे ।

५. फोड़ीकर्म—आजीविका के वास्ते कूप, बावड़ी, तालाव खोदावे, हल चलावे, पत्थर फोड़ावे, खान खोदावे, इत्यादिक स्फोटिक कर्म है । इन पांचों कर्मों में बहुत जीवों की हिंसा होती है, इस वास्ते इन पांचों को कुकर्म कहते हैं ।

अब पांच कुवाणिज्य लिखते हैं:—

६. प्रथम दंतकुवाणिज्य—हाथी का दांत, उल्लु के नख, जीभ, कलेजा, पक्षियों के रोम, तथा गाय का चमर, हरण के सींग, बारासिंगे के सींग, कृमि—जिस से रेशम रंगते हैं, इत्यादिक जो त्रस जीव के अंगोपांग बेचना है; सो सर्व दन्तकुवाणिज्य है । जब इन उक्त वस्तुओं को लेने के वास्ते आगर में जावेंगे, तब भिल्लादिक लोग तत्काल ही हाथी, गैंडा प्रमुख जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होवेंगे, और महा-पाप अनर्थ करेंगे । तथा, वहां जाने से अपने परिणाम भी मलिन हो जाते हैं । कदाचित् लोभ पीड़ित हो कर भिल्ल व्याधों को कहना भी पड़े कि, हम को मोटा भारी दांत चाहिये, तब वो लोग तत्काल हाथी को मार के वैसा दांत लावेंगे । इस वास्ते जेकर वस्तु लेनी भी पडे, तो व्यापारी के पास से लेवे, परन्तु आगर में जाकर न लेवे । क्योंकि आगर में जाकर एक चमर लेवे, तो एक गाय मरे इस वास्ते विचार करके वाणिज्य करे ।

७. दूसरा लाखकुवाणिज्य—लोहा, धावड़ी, नील, सज्जीखार, सावन, मनसिल, सोहागा तथा लाख, इत्यादि, ये सर्व लाखकुवाणिज्य हैं। प्रथम तो त्रस जीवों के समूह ही से लाख बनती है, अरु पीछे जब रंग काढ़ते हैं, तब तिस को अन्न से सड़ाते हैं, तब त्रस जीव की उत्पत्ति होती है, अरु महादुर्गन्ध युक्त रुधिर सरीखा वर्ण दीखाता है। तथा धावड़ी में त्रस जीव उपजते हैं, कुंथुये भी बहुत होते हैं, अरु यह मदिरा के अंग हैं। तथा नील को जब प्रथम सड़ाते हैं. तब त्रस जीव उत्पन्न होते हैं, पीछे भी नील के कुण्ड में त्रस जीव बहुत उत्पन्न होते हैं, अरु नीला वस्त्र पहिरने से उस में जूं, लीखादि त्रस जीव उत्पन्न होते हैं। तथा हरताल, मनसिल को पीसती वक्त यत्न न करे; तो मक्खी प्रमुख अनेक जीव मर जाते हैं।

८. तीसरा रसकुवाणिज्य—मदिरा, मांस, इत्यादि वस्तु का व्यापार महा पापरूप है, तथा दूध, दही, घृत, तेल, गुड़, खांड प्रमुख जो ढीली वस्तु है, इसका जो व्यापार करना सो रसकुवाणिज्य है। इस में अनेक जीवों का घात होता है। इस वास्ते यह व्यापार श्रावक न करे।

९. चौथा केशकुवाणिज्य है—द्विपद जो मनुष्य, दास, दासी प्रमुख खरीद कर वेचते। तथा चौपद जो गाय, घोड़ा, भैंस प्रमुख खरीद के वेचते। तथा पक्षियों में तीतर, मोर, तोता, मैना, वटेरा प्रमुख वेचते। इस वाणिज्य में पाप

बहुत है, इस वास्ते यह व्यापार श्रावक न करे।

१०. पांचमा विषकुवाणिज्य—संखिया-सोमल, वच्छ-नाग, अफीम, मनसिल, हरताल, चरस, गांजा प्रमुख तथा शस्त्र—धनुष, तलवार, कटारी, छुरी, बरछी, फरसी, कुहाड़ी, कुशी, कुद्दाल, पेशकबज़, बंदूक, ढाल, गोली, दारु, बक्तर, पाखर, जिलम, तोप प्रमुख, जिन के द्वारा संग्राम करते हैं, तथा हल, मूसल, ऊखल, दंताली, कर्वत, दात्री, गोला, हवाई, पकाटा, कुहक, शतघ्नी प्रमुख सर्व हिंसा ही के अधिकरण है। इन का जो व्यापार करना, सो सब विषवाणिज्य हैं। इस में बहुत हिंसा होती हैं। ये पांच कुवाणिज्य हैं।

अब पांच सामान्य कर्म कहते हैं—

११. प्रथम यन्त्रपीलन कर्म—तिल, सरसों, इक्षु आदि पीलाय करके वेचना, यह सर्व जीवहिंसा के निमित्त रूप यन्त्रपीलन कर्म है।

१२. दूसरा निर्लांछन कर्म—बैल, घोड़ों को खस्सी करना, घोड़े, बलद, ऊंट प्रमुख को दाग देना, कोतवाल की नौकरी, जेलखाने का दरोगा, ठेका लेना, मसूल इजारे लेना, चोरों के गाम में वास करना, इत्यादि जो निर्दयपने का काम है, सो सर्व निर्लांछन कर्म है।

१३. तीसरा दावाग्निदान कर्म—कितनेक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव धर्म मान के वन में आग लगा देते हैं, वो अपने मन में जानते हैं कि, नवा घास उत्पन्न होवेगा, तब गौएं

चरेंगी, भिल्लादिक लोग सुख से रहेंगे, अन्न उपजेगा, इत्यादि कार्य अज्ञानपने से धर्म जान के करे। आग लगाने से लाखों जीव मर जाते हैं, इस वास्ते आग नहीं लगानी चाहिये।

१४. चौथा शोषणकर्म—वावड़ी, तलाव, सरोवर, इन का जल अपने खेत में देवे। जब पानी को बहार काढ़े, तब लाखों जीव जल रहित तड़फ २ कर मर जाते हैं, इस वास्ते सर्व पानी शोषण न करना।

१५. पांचमा असतीपोषण कर्म—कुतुहल के वास्ते कुत्ते, विल्ले, हिंसक जीवों को पोषे। तथा दुष्ट भार्या अरु दुराचारी पुत्र का मोह से पोषण करे। साचा झूठा जाने नहीं, जो मन में आवे सो करे, तिन को राज़ी रक्खे। तथा वेचने के वास्ते दुराचारी दास दासी को पोषे। सो असतीकर्म कहिये। तथा माछी, कसाई, वागुरी, चमार प्रमुख बहु आरंभी जीवों के साथ व्यापार करे, तिन को द्रव्य तथा खरची प्रमुख देवे, यह भी दुष्ट जीवों का पोषण है। जेकर अनुकंपा करके श्वान–कुत्ते प्रमुख किसी जीव को पुण्य जान कर देवे, तो उसका निषेध नहीं। तथा अपने महल्ले में जो जीव होय, तिस की खबर लेनी पड़े, तथा अपने कुटुंब का पोषण करना पड़े, इस में पूर्वोक्त दोष नहीं। क्योंकि यह लोकनीति राजनीति का रास्ता है।

अब इस सातमे भोगोपभोग व्रत के पांच अतिचार लिखते हैं:—

प्रथम सचित्त आहार अतिचार–मूल भांगे में तो श्रावक सर्व सचित्त का त्याग करे। जेकर नहीं करे, तो परिमाण कर लेवे। तहां सर्व सचित्त के त्यागी तथा सचित्त के परि-माणवाले जो अनाभोगादिक से सचित्त आहार करे। तथा जल तीन उकाली आ जाने से शुद्ध प्राशुक होता है, तिन में एक उकाला, दो उकाला का पानी तो मिश्र उदक कहा जाता है, तिस पानी को अचित्त जान के पीवे। तथा सचित्त वस्तु अचित्त होने में देर है, उस वस्तु को अचित्त जान कर खावे। तो प्रथम अतिचार लगे।

दूसरा सचित्त प्रतिबद्धाहार अतिचार–जिस के सचित्त वस्तु का नियम है, सो तत्काल खैर की गांठ से गूंद उखेड़ के खावे। गूंद तो अचित्त है, परन्तु सचित्त के साथ मिला हुआ था, सो दूषण लगता है। तथा पके हुए अंब, खिरनी, बेर प्रमुख को मुख से खावे, अरु मन में जानता है कि, मैं तो अचित्त खाता हुं, सचित्त गुठली को तो गेर दूंगा, इस में क्या दोष है? ऐसा विचार करके खावे तब दूसरा अतिचार लगे।

तीसरा अपक्वौषधिभक्षण अतिचार–विना छाना आटा, अग्नि संस्कार जिस को करा नहीं, ऐसा कच्चा आटा खावे। क्योंकि श्री सिद्धांत में आटा पीसे पीछे विना छाने कितने ही दिन तक मिश्र रहता है, सो कहते हैं। श्रावण अरु भाद्रपद मास में अनछाना आटा पीसे पीछे पांच दिन मिश्र

रहता है, आश्विन और कार्त्तिक मास में चार दिन मिश्र रहता है, मागसिर और पौष मास में तीन दिन मिश्र रहता है, माघ अरु फागुण मास में पांच प्रहर तक मिश्र रहता है, चैत्र अरु वैशाख मास में चार प्रहर तक मिश्र रहता है, ज्येष्ठ अरु आषाढ़ मास में तीन प्रहर मिश्र रहता है; पीछे अचित्त हो जाता है। सो मिश्र खावे, तो तीसरा अतिचार लगे।

चौथा दुष्पक्वौषधिभक्षण अतिचार—कछुक कच्चा, कछुक पक्का, जैसे सर्व जात के पोंख अर्थात् सिट्टे जो मक्की, जवार, बाजरे, गेहूं प्रमुख के बीजों से भरे हुए होते हैं; इन को अग्नि का संस्कार करने पर कछुक कच्चे पक्के हो जाने से अचित्त जान कर खावे, तो चौथा अतिचार लगे।

पांचमा तुच्छौषधिभक्षण अतिचार–तुच्छ नाम इहां असार का है। जिस के खाने से तृप्ति न होवे, तिस के खाने में पाप बहुत है; जैसे चना का फूल खावे, तथा बेर की गुठली में से गिरी निकाल के खावे। तथा वाल, समा, मूंग, चवला की फली खावे। इस के खानेसे प्रसंग दूषण भी लग जाते हैं, क्योंकि कोई वनस्पति अतिकोमल अवस्था में अनंतकाय भी होती है, तिस के खाने से अनंतकाय का व्रतभंग हो जाता है।

आठमे अनर्थदण्डविरमण व्रत का स्वरूप लिखते हैं:—

१. अर्थदण्ड उसको कहते हैं कि, जो अपने प्रयोजन के वास्ते

अनर्थदण्ड विरमण व्रत

करे। सो धन, धान्य, क्षेत्रादि नवविध परिग्रह में हानि वृद्धि होवे; तब करे। क्योंकि धन-वृद्धि के निमित्त संसारी जीव को वहुत पाप के कारण सेवने पड़ते हैं, सत्य झूठ वोले विना रहा नहीं जाता है, पाप के उपकरण भी मेलने पड़ते हैं। जब कोई मनसूवा करना पड़ता है, तव अनेक विकल्प रूप—आर्त्तध्यान करना पड़ता है। क्योंकि धनादि का परिग्रह आजीविका के वास्ते हैं। अतः धन की वृद्धि के वास्ते जो जो पाप करता है, सो २ सर्व अर्थदण्ड है। २. जब धन की हानि होती है, तव धन-हानि के दूर करने वास्ते अनेक विकल्परूप पाप करता है; सो भी अर्थदण्ड है। क्योंकि संसार के सुख का कारण-रूप धन व्यवहार हैं। तिस व्यवहार के वास्ते जो पाप करना पडे, सो अर्थदण्ड है। ३. अपने स्वजन, कुटुंब परिवारादिक के वास्ते अवश्य जो जो पाप सेवना पड़े, सो सो सब अर्थदण्ड है। ४. पांच प्रकार की इन्द्रियों के भोग के वास्ते जो पाप करे, सो भी अर्थदण्ड है। इन पूर्वोक्त चारों प्रयोजनों के बिना जो पाप करे, सो अनर्थदण्ड जानना। तिस के चार भेद हैं, सो कहते हैं—प्रथम अपध्यान अनर्थदण्ड, दूसरा पापोपदेश अनर्थदण्ड, तीसरा हिंस्रप्रदान अनर्थ-दण्ड, चौथा प्रमादाचरित अनर्थदण्ड है। इन में से प्रथम जो अपध्यान अनर्थदण्ड है, उसके फिर दो भेद है—एक आर्त्तध्यान, दूसरा रौद्रध्यान। तिन में फिर आर्त्तध्यान के चार भेद हैं।

सो पृथक् पृथक् कहते हैं।

१. अनिष्टार्थसंयोगार्त्तध्यान—इन्द्रिय सुख के विघ्नकारी-ऐसे अनिष्ट शब्दादि के संयोग होने की चिंता करे कि, मेरे को अनिष्ट शब्द न मिले। २. इष्टवियोगार्त्तध्यान—हम को नवविध परिग्रह अरु परिवार जो मिला है, इस का वियोग मत होवे; ऐसी चिंता करे। अथवा इष्ट जो माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र प्रमुख हैं, इनके विदेशगमन से तथा मरण होने से वहुत चिंता करे, खावे पीवे नहीं, वियोग के दुःख से आत्मघात करने का विचार करे, अथवा सर्व दिन क्रोध ही में रहे। तथा घर में यह कुपूत है, यह भाई वेदिल है, मेरे पिता का मेरे ऊपर मोह नहीं है, यह स्त्री मुझ को वहुत खराव मिली है, मेरे ऊपर दिल नहीं देती है, इस का कोई उपाय होवे तो अच्छा है। अरु स्त्री मन में विचारे कि, मुझे सौकन ख़राव करती है, मेरे पति को भुलाती है, क्या जाने किसी दिन पति से मुझे दूर कर देगी? इस वास्ते इस रांड का कुछ उपाय करना चाहिये। तथा सेवक ऐसा विचार करे कि, मेरे स्वामी के आगे फलाना मेरा दुश्मन गया है, सो ज़रूर मेरी खोटी कहेगा, मेरी रीतभांत को अदल-वदल कर देवेगा, मेरे स्वामी को झूठ सच कह कर मेरी नौकरी छुड़ा देवेगा, तव मैं क्या करूंगा? इस का कुछ उपाय करना चाहिये। तिस के निग्रह के वास्ते यन्त्र, मन्त्र,

आर्त्तध्यान के चार भेद

कामन, मोहन, वशीकरण करे, तिस को झूठा कलंक देवे, बलिदान देने के वास्ते त्रस जीव को मारे, यह सब कुछ अपने शत्रु के निग्रह के वास्ते करे तथा मूठ चला के मारा चाहे। परन्तु वो मूर्ख यह नहीं विचारता कि—जेकर तूं अपने दिल से सच्चा है, तो तुझे क्या फिकर है? अरु जहां तक अगले के पुण्य का उदय है, तहां तक तूं यंत्र मन्त्र से उसका कुछ भी बुरा नहीं कर सकता है। ये सर्व संसारी जीव की मूर्खता है। यह सर्व अनर्थदण्ड हैं। तथा प्रथम अपनी आतुरता से मन में कुविकल्प करे कि, मेरे वैरी के कुल में अमुक ज़बरदस्त उत्पन्न हुआ है, सो मेरे को दुःख देवेगा। इस की राजदरबार में आबरू जावे, अरु दण्ड होवे, तो ठीक है। तथा इसका कोई छिद्र मिले तो सरकार में कह कर इस को गाम से निकलवा देउं, तो ठीक है। ऐसा विचार मूढ अज्ञानी करता है। तथा यहां चोर बहुत पड़ते हैं सो पकड़े जांय, फांसी दिये जांय, तो बड़ा अच्छा काम होवे। तथा अमुक पुरुष मेरे ऊपर हो कर चलता है, इस हरामज़ादे का कुछ बन्दोबस्त करना चाहिये, ताकि फिर कदापि सिर न उठावे। इत्यादि खोटे विकल्पों करके अनर्थदण्ड करे। क्योंकि किसी की चिंतवना से दूसरों का विगाड़ नहीं होता है। जो कुछ होता है, सो तो सब पुण्य पाप के अधीन है। तो फिर तूं काहे को बिल्लीवत् मनोरथ करता है? क्योंकि यह बिना प्रयोजन के पाप लगता है,

सो अनर्थदण्ड है।

३. रोगनिदानार्त्तध्यान—मेरे शरीर में किसी वक्त रोग होता है, वो न होवे तो अच्छा है। लोगों को पूछे कि अमुक रोग क्योंकर न होवे? जब कोई कहे कि, अमुक अमुक अभक्ष्य वस्तु खाने से नहीं होता है, तब अभक्ष्य भी खा लेवे। तथा जब शरीर में रोग होवे, तब बहुत हाय २ शब्द करे, बहुत आरम्भ करे, घड़ी घड़ी में ज्योतिषी को पूछे कि मेरा रोग कब जायगा? तथा वैद्य को बार बार पूछे। तथा मेरे ऊपर किसी ने जादू करा है, ऐसी शंका करे। अरु रोग दूर करने के वास्ते कुलविरुद्ध, धर्मविरुद्ध आचरण करे, तथा अभक्ष्य खाने में तत्पर होवे। रोग दूर करने के वास्ते औषधि, जड़ी, बूटी, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र सीखे तथा सीखे हुए किसी वक्त मेरे काम आवेंगे।

४. अग्रशोच नामा आर्त्तध्यान—अनागत काल की चिंता करे कि, आवता वर्ष में यह विवाह करूंगा तथा ऐसी हाट, हवेली बनाऊंगा कि, जिस को देख कर सर्व लोग आश्चर्य करें। तथा अमुक क्षेत्र में बगीचा लगाना है, जिसके आगे सर्व बाग निकम्मे हो जावें, सर्व दुश्मनों की छाती जले। तथा अमुक वस्तु का मैंने सौदा करा है, सो वस्तु आगे को महंगी होजावे तो ठीक है, ताकि मुझे बहुत नफा मिल जावे। इत्यादि अनागत काल की अपेक्षा अनेक कुविकल्प शेखचिल्ली की

तरें चिंते इसका नाम अग्रशोच नामा आर्त्तध्यान है।

अब रौद्रध्यान का स्वरूप कहते हैं। १. हिंसानंद रौद्र—

रौद्रध्यान के चार भेद

त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करके मन में आनंद माने। तथा बहुत पाप करके सुंदर हाट, हवेली, वाग प्रमुख बनावे। उसको देख के जब लोक प्रशंसा करें, तब मन में सुख माने कि, मैंने कैसी हिकमत से बनाया है, मेरे समान अक्कल किसी में भी नहीं। तथा जब रसोई प्रमुख खाने की वस्तु बनावे, तब बहुत मसाले डाले, भक्ष्य वस्तु को अभक्ष्य सदृश बना के खावे। तथा मान के उदय से ऐसी जमणवार-ज्योनार करे कि, जिस को सर्व लोक सराहें। तथा राजाओं की लड़ाई सुन कर खुशी माने। एक राजा का पक्षी बन कर महिमा करे, दूसरे की निंदा करे। तथा अमुक योधा ने एक तलवार से सिंहादि को मारा है, वाह रे सुभट! ऐसी प्रशंसा करे। तथा अपने दुश्मन को मरा सुन कर राजी होवे, मुख मरोड़े, मूंछ पर हाथ फेरे, हाथ घसे, अरु मुख से कहे कि, यह हरामखोर मेरे पुण्य से मर गया; ऐसी ऐसी खोटी चिंतवना करके कर्म बांधे। परन्तु ऐसा न विचारे कि दूसरा कोई किसी का मारनेवाला नहीं है, उसकी आयु पूरी हो गई, इस वास्ते मर गया। एक दिन इसी तरे तूं भी मर जायगा, झूठा अभिमान करना ठीक नहीं। ऐसा विचार न करे।

२. मृषानंद रौद्रध्यान—सो झूठ बोल के खुशी होवे अरु मन में ऐसा चिंते कि मैं ने कैसी बात बना के करी, किसी को भी खबर न पड़ी। मैं बड़ा अक्लमंद हूं, मेरे समान कौन है, मेरे सन्मुख कौन जवाब करने को समर्थ है। बोलना है, सो तो करामत है, बोलना किसी को ही आता है। इस अवसर में जेकर मैं न होता, तो देखते क्या होता। इस प्रकार मन में फूले और अपने दुश्मन को संकट में गेर कर मन में आनंद माने अरु कहे कि, देखा, मैं ने कैसी हिक्मत करी। राज दरबार में लोगों की चुगली करके स्थानभ्रष्ट करे, मन में खुशी माने।

३. चौर्यानंद रौद्र—भद्रक जीवों से कूड़कपट की बातें बना कर बहुमूल की वस्तु थोड़े दाम में ले लेवे, तथा पराया धन लेखे से अधिक लेवे। तथा चोरी करके किसी की वही में अधिक कमती लिख देवे, और आप पैसा खा जावे। अनेक कपट की कला से सेठ को राजी कर देवे, और पीछे से विचारे कि मैं कैसा चतुर हूं कि, पैसा भी खाया अरु सेठ के आगे सच्चा भी बन गया। तथा जब व्यापार करे, तब खोटी—झूठी सौगंद खावे, मीठा बोल कर दूसरों को विश्वास उपजा कर न्यून अधिक देवे लेवे, अरु मन में राजी होके कहे कि. मेरे समान कमाऊ कौन है। तथा चोरी करके मन में आनंद माने कि मैं ने कैसी चोरी करी कि, जिस की किसी को खबर भी नहीं पड़ी। तथा झूठ खतपत्र बनाकर

सरकार से फते पावे, तब मन में बड़ा आनंदित होवे कि, मैं बड़ा चालाक हूं, मैं ने हाकम को भी धोखा दिया ।

४. संरक्षणानंद रौद्र—परिग्रह-धन, धान्य, बहुत बढ़ावे; पीछे और भी इच्छा करे, कुटुंब के पोषण के वास्ते परिग्रह की वृद्धि करे; बहुत कुबुद्धि करे; जैसे तैसे काम को अंगीकार करे; लोकविरुद्ध, राजविरुद्ध, कुलविरुद्ध, धर्मविरुद्धादि काम की उपेक्षा न करे। ऐसे करते हुए पूर्व पुण्योदय से पाप परिग्रह पावे, धन बहुत हो जावे; तब मन में बहुत खुशी माने कि इतना धन मैं ने अकेले ने पैदा किया है; ऐसा और कौन होशयार है, जो पैदा कर सके। ऐसा अहंकार करे, अहं-कार में मग्न रहे। रात दिन मन में चिंता रहे कि, मत कभी मेरा धन नष्ट हो जावे। रात को पूरा सोवे भी नहीं, हाट हवेली के ताले टटोलता रहे, सगे पुत्र का भी विश्वास न करे। लोगों को कुबुद्धि सिखावे। ये आर्त्त अरु रौद्र मिल कर प्रथम अपध्यानानर्थदण्ड के भेद हैं। सो नहीं करने चाहिये।

अब दूसरा पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड कहते हैं—हरेक अवसर में घर सम्बंधी दाक्षिण्य वर्ज के पापोपदेश करे। जैसे कि तुमारे घर में बछड़े बड़े हो गये हैं, इन को बधिया करके समारो, नाक में नाथ गेरो। घोड़े को चाबुकसवार के सुपुर्द करो वो इस को फेर कर सिखावे। तथा तुमारे क्षेत्र में सूड़ बहुत हो रहा है, उसको काटना तथा जलाना चाहिये।

इत्यादि जो पापकारी काम है, तिन का विना प्रयोजन अज्ञानपने से उपदेश करे, यह दूसरा पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड है।

तीसरा हिंस्रप्रदान अनर्थदंड—हिंसाकारी वस्तु–गाड़ी, हल, शस्त्र, तलवारादि। अग्नि, मूसल, ऊखल, धनुष, तरकश, चाकू, छुरी, दात्री प्रमुख दूसरों को दक्षिणता विना देवे सो हिंस्रप्रदान अनर्थदण्ड है।

चौथा प्रमादाचरण अनर्थदण्ड—कुतूहल से गीत, नाटक, तमाशा, मेला प्रमुख सुनने देखने जाना; इन्द्रियों के विषय का पोषण करना। यहां कुतूहल कहने से जिनयात्रा, संघ, अठाईमहोत्सव, रथयात्रा, तीर्थयात्रा, इन के देखने के वास्ते जावे, तो प्रमादाचरण नहीं। किंतु ये तो सम्यक्त्व पुष्टि के कारण हैं। तथा वात्स्यायनादिकों के कामशास्त्रों में अत्यन्त गृद्धि—उनका वार २ अभ्यास करना। तथा जूआ खेलना, मद्य पीना, शिकार मारने जाना। तथा जलक्रीडा–तलाव प्रमुख में कूदना, जल उछालना। तथा वृक्ष की शाखा के साथ रस्सा बांध कर झूलना, हिंडोले झुलाना। तथा लाल, तीतर, वटेरे, कुक्कड़, मींढे, भैंसें, हाथी, बुलबुल, इन को आपस में लड़ाना। तथा अपने शत्रु के वेटे–पोते से वैर रखना, वैर लेना। तथा भक्तकथा—मांस, कुलमाष, मोदक, ओदनादि बहुत अच्छा भोजन है, जो खाते हैं, उनको बड़ा स्वाद आता है, अतः यह हम भी खायेंगे; इत्यादि कहना। तथा स्त्री कथा—स्त्रियों के पहनने तथा रूप और अंगप्रत्यंग

हावभावादि का कथन यथा—"कर्णाटी सुरतोपचारकुशला, लाटी विदग्धा प्रिये" इत्यादि। तथा स्त्री के रूपोत्पादन, कुचकठिनकरण और योनिसंकोच, इत्यादि स्त्री सम्बन्धी विषयों का विचार करना स्त्रीकथा है। तथा देशकथा जैसे दक्षिण देश में अन्न, पानी अरु स्त्रियों से सम्भोग करना बहुत अच्छा है, इत्यादि। तथा पूर्वदेश में विचित्र वस्तु—गुड़, खाण्ड, शालि, मद्यादि प्रधान चीजें होती हैं। तथा उत्तर देश के लोग सूरमे हैं। वहां घोड़े बड़े शीघ्र चलनेवाले अरु दृढ़ होते हैं। और गेहूं प्रमुख धान्य बहुत होता है। तथा केसर, मीठी दाख, दाडिमादि वहां सुलभ है, इत्यादि। तथा पश्चिम देश में इंद्रियों को सुखकारी सुख स्पर्शवाले वस्त्र हैं, इत्यादि। तथा राजकथा—जैसे हमारा राजा बड़ा सूरमा है, बड़ा धनवान है, अश्वपति है, इत्यादि। जैसे यह चार अनुकूल कथा कही हैं; ऐसे ही चारों प्रतिकूल कथा भी जान लेनी। तथा ज्वरादि रोग अरु मार्ग का थकेवां, इन दोनों के विना संपूर्ण रात्रि सो रहना–निद्रा लेनी। इस पूर्वोक्त प्रमादाचरण को श्रावक वर्जे। तथा देशविशेष में भी प्रमाद न करना। तथा जिनमन्दिर में कामचेष्टा, हांसी, लड़ाई, हसना, थूकना, नींद लेना, चोर परदारिकादि की खोटी कथा करनी, चार प्रकार का आहार खाना, यह चौथा अनर्थदण्ड है। इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं, सो कहते हैं।

प्रथम कंदर्पचेष्टा—मुखविकार, भ्रूविकार, नेत्रविकार, हाथ की संज्ञा बतावे, पग को विकार की चेष्टा करके औरों को हसावे। किसी को क्रोध उत्पन्न हो जावे, कुछ का कुछ हो जावे, अपनी लघुता होवे, धर्म की निन्दा होवे, ऐसी कुचेष्टा करे।

दूसरा मुखारिवचन अतिचार—मुख से मुखरता करे, असंबद्ध वचन बोले, जिससे दूसरों का मर्म प्रगट होवे, कष्ट में गेरे, अपनी लघुता करे, वैर वधे, ढीठ, लबाड, चुगलखोर, इत्यादि नाम धरावे, लोगों में लज्जनीय होवे, इसी तरे बहुत वाचालपना करना।

तीसरा भोगोपभोगातिरिक्त अतिचार—यहां स्नान, पान, भोजन, चन्दन, कुंकुम, कस्तूरी, वस्त्र, आभरणादिक अपने शरीर के भोग से अधिक करने, सो अनर्थदण्ड है। इहां वृद्ध आचार्यों की यह संप्रदाय है कि, तेल, आमले, दही प्रमुख, जेकर स्नान के वास्ते अधिक ले जावे, तो लौल्यता करके स्नान वास्ते बहुत से लोग तालाव आदि में जायंगे। तहां पानी के पूरे, तथा अप्काय के जीवों की बहुत विराधना होवेगी। इस वास्ते श्रावक को इस प्रकार से स्नान न करना चाहिये। क्योंकि श्रावक के स्नान की यह विधि है—श्रावक को प्रथम तो घर में ही स्नान करना चाहिये, तिस के अभाव से तेल, आमले, आकादि से घर में ही सिर घिस करके, मैल गेर करके तालाव के कांठे पर बैठ के

अंजलि से पानी सिर में डाल करके स्नान करना। तथा जिस फूलादिक में जीवों की संसक्ति का ज्ञान होवे तिन को परिहरे। ऐसे सर्व जगे जान लेना।

चौथा कौकुच्य अतिचार—जिस के बोलने-करने से अपनी तथा औरों की चेतना काम क्रोधरूप हो जावे, तथा विरह की बात संयुक्त कथा, दोहा, साखी, बैंत, झूलना, कवित्त, छन्द, परजराग, श्लोक, शृंगाररस की भरी हुई कथा कहनी। यह चौथा काममर्मकथन अतिचार है।

पांचमा संयुक्ताधिकरण अतिचार—ऊखल के साथ मूसल, हल के साथ फाला, गाड़ी से युग, धनुष से तीर इत्यादि। इहां श्रावक ने संयुक्त अधिकरण नहीं रखना, क्योंकि संयुक्त रखने से कोई ले लेवे, तो फिर ना नहीं करी जाती है, अरु जब अलग अलग होवे, तब उसको सुख से उत्तर दे सकेगा।

सामायिकव्रत

अथ नवमे सामायिकव्रत का स्वरूप लिखते हैं। इन पूर्वोक्त आठों व्रतों को तथा आत्मगुणों को पुष्टिकारक अविरति कषाय में तादात्म्यभाव से मिली हुई अनादि अशुद्धता रूप विभाव परिणति, तिस के अभ्यास को मिटाने के वास्ते अरु आत्मा का अनुभव करने के वास्ते तथा सहजानंद-स्वरूपरस को प्रगट करने के वास्ते यह नवमा शिक्षाव्रत है; अर्थात् शुद्ध अभ्यासरूप नवमा सामायिक व्रत लिखते हैं। दो घड़ी काल

प्रमाण समता में रहना, राग द्वेष रूप हेतुओं में मध्यस्थ रहना, तिस को पण्डित जन सामायिक व्रत कहते हैं। 'सम' नाम है रागद्वेष रहित परिणाम होने से ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्ष मार्ग, तिस का 'आय' नाम लाभ–प्रशमसुखरूप; इनका जो इक भाव सो सामायिक है। मन, वचन और काय की खोटी चेष्टा–एतावता आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान त्याग के तथा सावद्य मन, वचन, काया, पाप चिंतन, पापोपदेश, पाप करणरूप वर्ज के श्रावक सामायिक करे। इहां * आवश्यक शास्त्र में लिखा है कि, जब श्रावक सामायिक करता है, तब साधु की तरे हो जाता है। इस वास्ते श्रावक सामायिक में देवस्नात्र, पूजादिक न करे। क्योंकि भावस्तव के वास्ते ही द्रव्यस्तव करना है, सो भावस्तव सामायिक में प्राप्त हो जाता है। इस वास्ते श्रावक सामायिक में द्रव्यस्तवरूप जिन-पूजा न करे।

सामायिक करनेवाला मनुष्य बत्तीस दूषण वर्ज के सामायिक करे, सो बत्तीस दूषण में प्रथम काया के बारां दूषण कहते हैं।

१. सामायिक में पग पर पग चढ़ा करके ऊंचा आसन (पलांठी) लगा कर बैठे, सो प्रथम दूषण है। कारण कि

---

* सामाइअंमि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा॥

[अ० ६, श्रावकव्रताधिकार]

गुरुविनय की हानि का हेतु होने से यह अभिमान का आसन है। इस वास्ते जिस बैठने से विनयगुण रहे, और उद्धताई न होवे, तथा अजयणा न होवे, ऐसे आसन पर बैठे।

२. चलासन दोष—आसन स्थिर न रक्खे, बार बार आगे पीछे हिलावे, चपलाई करे। मुख्य मार्ग तो यह है कि, श्रावक एक जगे एक ही आसन पर सामायिक पूरा करे, अडिगपने से रहे। कदापि रोग निर्बलतादि के कारण से एक आसन पर टिका न जाय, फिरना पड़े, तो उपयोग संयुक्त जयणापूर्वक चरवला से जहां तहां पूंजना प्रमार्जना करके आसन फिरावे। यह पूर्वोक्त विधि न करे, तो दूसरा दूषण लगे।

३. चलदृष्टि दोष—सामायिक करे पीछे नासिका ऊपर दृष्टि रक्खे, अरु मन में शुद्ध उपयोग रक्खे, मौनपने से ध्यान करे। यदि सामायिक में शास्त्राभ्यास करना होवे, तो यत्न पूर्वक मुख के आगे मुखवस्त्रिका देकर, दृष्टि पुस्तक पर रख कर पढ़े, अरु सुने। तथा जब कायोत्सर्ग करे, तब चार अंगुल पीछे पग चौड़ा राखे, ऐसी योग मुद्रा से खड़ा हो कर दोनों बाहु प्रलंबित करे, दृष्टि नासिका पर रक्खे, अथवा सज्जे—दहिने पग के अंगूठे पर रक्खे। यह शुद्ध सामायिक करने की विधि है। इस विधि को छोड़ के चपल-पने से चकितमृग की तरे चारों दिशा में आंखे फिरावे, सो तीसरा दोष है।

४. सावद्यक्रियादोष—क्रिया तो करे, परन्तु तिस में कछुक सावद्य क्रिया करे, अथवा सावद्य क्रिया की संज्ञा करे, सो चौथा दोष।

५. आलंवन दोष—सामायिक में भींतादिक का आलंबन, अर्थात् पीठ लगा कर बैठे। क्योंकि विना पूंजी भींत में अनेक जीव बैठे हुए होते हैं, सो मर जाते हैं, तथा आलंबन से नींद भी आ जाती है।

६. आकुंचन प्रसारण दोष—सामायिक करके विना प्रयोजन हाथ, पग, संकोचे, लंबा करे। क्योंकि सामायिक में तो किसी मोटे कारण के विना हिलना नहीं, ज़रूरी काम में चरवला से पूंजन प्रमार्जन करके हिलावे।

७. आलस दोष—सामायिक में आलस से अंग मोडे, अंगुलियों के कड़ाके काढ़े, कमर वांकी करे। ऐसी प्रमाद की वहुलता से व्रत में अनादर होता है, काया में अरति उत्पन्न हो जाती है। जव उठे, तव आलस मोड़ कर अति अशोभनिक रूप से उठे। यह सातमा आलस दोष है।

८. मोटन दोष—सामायिक में अंगुली प्रमुख टेढ़ी करी कड़ाका काढे, ए पण प्रमाद की प्रवलता से होता है।

९. मल दोष—सामायिक ले करके खाज करे। मुख्यवृत्ति से तो सामायिक में खाज नहीं करनी, परन्तु जव लाचार होवे, तव चरवला प्रमुख से पूंजन प्रमार्जन करके हलुवे हलुवे खाज करे, यह शैली है।

१०. विषमासन दोष–सामायिक में गले में हाथ देकर बैठे।

११. निद्रा दोष–सामायिक में नींद लेवे।

१२. शीत प्रमुख की प्रबलता से अपने समस्त अङ्गोपांग को वस्त्र से ढांके।

यह बारां दोष काया से उत्पन्न होते हैं, इन को सामायिक में वर्जे। अब वचन के जो दश दोष हैं, सो लिखते हैं—

१. कुबोल दोष—सामायिक में कुवचन बोले।

२. सहसात्कार दोष—सामायिक ले करके बिना विचारे बोले।

३. असदारोपण दोष—सामायिक में दूसरों को खोटी मति देवे।

४. निरपेक्ष वाक्य दोष—सामायिक में शास्त्र की अपेक्षा बिना बोले।

५. संक्षेप दोष—सामायिक में सूत्र, पाठ, संक्षेप करे, अक्षर पाठ ही न कहे, यथार्थ कहे नहीं।

६. कलह दोष—सामायिक में साधर्मियों से क्लेश करे। सामायिक में तो कोई मिथ्यात्वी गालियां देवे, उपसर्ग करे, कुवचन बोले, तो भी तिस के साथ लडाई नहीं करनी चाहिये, तो फिर अपने साधर्मी के साथ तो विशेष करके लडाई करनी ही नहीं।

७. विकथा दोष—सामायिक में बैठ के देशकथादि चार विकथा करे। सामायिक में तो स्वाध्याय अरु ध्यान ही

करना चाहिये।

८. हास्य दोष—सामायिक में दूसरों की हंसी करे, मश्करी करे।

९. अशुद्ध पाठ दोष—सामायिक में सामायिक का सूत्र-पाठ शुद्ध न उच्चारे, हीनाधिक उच्चारे, यद्वा तद्वा सूत्र पढ़े।

१०. मुनमुन दोष—सामायिक में प्रगट स्पष्ट अक्षर न उच्चारे, दूसरों को तो जैसा मच्छर भिनभिनाट करता होवे, ऐसा पाठ मालूम पड़े, पद अरु गाथा का कुछ ठिकाना मालूम न पड़े, गड़बड़ करके उतावल से पाठ पूरा करे।

अब मन के दश दोष लिखते हैं:—

१. अविवेक दोष—सामायिक करके सर्व क्रिया करे, परन्तु मन में विवेक नहीं, निर्विवेकता से करे। मन में ऐसा विचारे कि सामायिक करने से कौन तरा है? इस में क्या फल है? इत्यादि विकल्प करे।

२. यशोवांछा दोष—सामायिक करके यशः कीर्त्ति की इच्छा करे।

३. धनवांछा दोष—सामायिक करने से मुझे धन मिलेगा।

४. गर्वदोष—सामायिक करके मन में गर्व करे कि, मुझे लोग धर्मी कहेंगे। मैं कैसे सामायिक करता हूं, ये मूर्ख लोग क्या समझें?

५. भय दोष—लोगों की निंदा से डरता हुआ सामायिक करे। क्योंकि लोग कहेंगे कि, देखो, श्रावक के कुल में उत्पन्न

हुआ है, बड़ा पुरुष कहने में आता है, परन्तु धर्मकर्म का नाम भी नहीं जानता, धर्म तो दूर रहा, परन्तु हररोज़ सामायिक भी नहीं करता। ऐसी निंदा से डरता हुआ करे।

६. निदान दोष—सामायिक करके निदान करे कि, इस सामायिक के फल से मुझे धन, स्त्री, पुत्र, राज्य, भोग, इन्द्र, चक्रवर्त्ती का पद मिले।

७. संशय दोष—क्या जाने सामायिक का फल होवेगा कि नहीं होवेगा ? जिस को तत्त्व की प्रतीत न होवे, सो यह विकल्प करे।

८. कषाय दोष—सामायिक में कषाय करे, अथवा क्रोध में तुरत सामायिक करके बैठ जाय। सामायिक में तो कषाय को त्यागना चाहिये।

९. अविनय दोष—विनयहीन सामायिक करे।

१०. अबहुमान दोष—सामायिक बहुमान भक्तिभाव, उत्साहपूर्वक न करे।

यह दश मन के दोष कहे, और पूर्वोक्त बारह काया के तथा दश वचन के मिला कर बत्तीस दूषण रहित सामायिक करे। इस सामायिक व्रत के पांच अतिचार टाले। सो अब पांच अतिचार कहते हैं।

प्रथम कायदुष्प्रणिधान अतिचार—सो शरीर के अवयव हाथ, पग प्रमुख विना पूंजे प्रमार्जे हिलावे, भींत से पीठ लगा कर बैठे।

दूसरा मनोदुष्प्रणिधान अतिचार—सो मन में कुव्यापार, चिंतन, क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या, व्यासंग, संभ्रमचित्त सहित सामायिक करे।

तीसरा वचनदुष्प्रणिधान अतिचार—सो सामायिक में सावद्य वचन बोले, सूत्राक्षर हीन पढ़े, सूत्र का स्पष्ट उच्चार न करे।

चौथा अनवस्था दोषरूप अतिचार—सो सामायिक वक्त-सर न करे। जेकर करे तो भी वे मर्यादा से आदर बिना उतावल से करे।

पांचमा स्मृतिविहीन अतिचार—सो सामायिक करी कि नहीं? सामायिक पारी कि नहीं? ऐसी भूल करे।

अब दशमा दिशावकाशिक व्रत लिखते हैं:—

छट्ठे व्रत में जो दिशाओं का परिमाण करा है, सो जहां तक जीवे तहां तक है। उसमें तो क्षेत्र बहुत छूटा रक्खा है, तिस का तो रोज़ काम पड़ता नहीं; इस वास्ते दिन दिन के प्रति संक्षेप करे। जैसे आज के दिन दश कोस वा पन्दरां कोस वा पांच कोस, अथवा नगर के दरवाजे तक, कोस वा अर्द्धकोस, बाग बगीचे तक, घर की हद तक जाना आना है, उपरांत नियम करना; सो दिशावकाशिक व्रत है। ए छट्ठे व्रत का संक्षेप रूप है। उपलक्षण से पांच अणुव्रतादिक का संक्षेप थोड़े काल का, सो भी इसी व्रत

दिशावकाशिक

में जान लेना। यह व्रत चार मास, एक मास, वीस दिन, पांच दिन, अहोरात्र, अथवा एक दिन, एक रात्रि, तथा एक मुहूर्त्तमात्र भी हो सकता है। इस का नियम ऐसे करे कि मैं अमुक ग्रामादिक में काया करके जाऊंगा, उपरांत जाने का निषेध है। इस व्रतवाले जिस प्राणी के देश परदेश का व्यापार होवे, सो ऐसे कहे कि–मुझ को काय करके इतने क्षेत्र उपरांत जाना नहीं। परन्तु दूर देश का कागज प्रमुख लिखा हुआ आवे, सो वांचूं, अथवा कोई मनुष्य भेजना पड़े, उसका आगार है। परदेश की वात सुनने का आगार है। अरु जिसका दूर का व्यापार नहीं होवे, सो चिट्ठी—खतपत्र भी न वांचे, अरु आदमी भी न भेजे, तथा चित्त की वृत्ति से जेकर संकल्पविकल्प न होवे, तो परदेश की वात भी न सुने। जेकर नहीं रहा जावे, तो आगार रक्खे। परन्तु जान करके दोष न लगावे। यह देशावकाशिक व्रत सदा सवेरे के वक्त चौदह नियम की यादगीरी में उपयोग से रक्खे, अरु रात्रि को जुदा रक्खे। यह व्रत गुरुमुख से जैसे धारे तैसे पाले, अरु इस व्रत के पांच अतिचार टाले। सो कहते हैं:—

प्रथम आणवण प्रयोग अतिचार—नियम की भूमिका से वाहिर की कोई वस्तु होवे, तिसकी गरज पड़े, तव विचारे कि, मेरे तो नियम की भूमिका से वाहिर जाने का नियम है, परन्तु कोई जाता होवे, तो तिसको कह करके वो वस्तु

मंगवा लेवे, अरु मन में यह विचारे कि, मेरा व्रत भी भंग नहीं हुआ, अरु वस्तु भी आगई, यह प्रथम अतिचार है।

दूसरा पेसवण प्रयोग अतिचार—दूसरे आदमी के हाथ नियम से बाहिरली भूमिका में कोई वस्तु भेजे, सो दूसरा अतिचार है।

तीसरा सद्दाणुवाय अतिचार—नियम की भूमिका से बाहिर, कोई आदमी जाता है, तिस से कोई काम है, तब तिस को खुंखारादि शब्द करके बोलावे, फिर कहे कि, अमुक वस्तु ले आना, तब तीसरा अतिचार लगे।

चौथा रूपानुपाती अतिचार—कोई एक पुरुष उसके नियम की भूमिका से बाहिर जाता है। तिस के साथ कोई काम है, तब हाट हवेली पर चढ़ के उसको अपना रूप दिखावे। तब वो आदमी उसके पास आवे, पीछे अपने मतलब की बातें करे, तब चौथा अतिचार लगे।

पांचमा पुद्गलक्षेप अतिचार—नियम की भूमिका से बाहिर कोई पुरुष जाता है। तिसके साथ कोई काम है, तब तिसको कंकरा मारे। जब वो देखे, तब तिसके पास आवे, तब उसके साथ बातचीत करे। यह पांचमा अतिचार है।

अथ ग्यारहवा पौषधोपवास नामा व्रत लिखते हैं। इस पौषधव्रत के चार भेद हैं, उसमें प्रथम आहार पौषध है, तिसके भी दो भेद हैं, एक देशतः दूसरा सर्वतः। तहां देश से तो तिवि-

पौषधव्रत

हार उपवास करके पौषध करे, अथवा आचाम्ल करके पौषध करे, अथवा तिविहार एकाशना करके पौषध करे, यह तीन प्रकार से देश पौषध होता है। तिसकी विधि लिखते हैं:—

पौषध करने से पहिले अपने घर में कह रक्खे कि, मैं आज पौषध करूंगा, इस वास्ते आचाम्ल अथवा एकाशना करा है। भोजन के अवसर में आहार करने को आऊंगा, अथवा तुम ने पौषधशाला में ले आना। पीछे से पौषध करने को जावे। तहां पौषध करके देववंदन करके, पीछे चरवला, मुखवस्त्रिका, पूंछणा, ये तीन उपकरण साथ ले करके चादर ओढ़ करके साधु की तरे उपयोग संयुक्त मार्ग में यत्न से चल कर भोजन के स्थान में जा करके, इरियावहिया पडिक्कमे—गमनागमन की आलोचना करे। पीछे पूंछणा के ऊपर बैठ के आहार करने का भाजन प्रतिलेख के, पीछे अपने लेने योग्य आहार लेवे। साधु की तरे रसगृद्धि से रहित आहार करे। मुख से आहार को अच्छा बुरा न कहे। आहार की जूठ गेरें नहीं, किन्तु आहार करे पीछे उष्ण जल से आहार का बरतन धो कर पी जावे। बरतन शुद्ध करके, सुखा करके उपयोग संयुक्त पौषधशाला में आवे। पूर्वस्थान में जा कर बैठे, परन्तु मार्ग में जाते आते किसी के साथ बात न करे। इस रीत से स्वस्थानक में आवे। इरियावही पडिक्कम के, चैत्यवंदन करके धर्मक्रिया में प्रवर्त्ते, तथा

आहार अपना कोई सम्बन्धी अथवा सेवक ले आवे, तो भी पूर्वोक्त रीति से आहार करके बरतन पीछे दे देवे। पीछे धर्मक्रिया में प्रवर्त्ते। तिसको देश से पौषध कहते हैं। तथा जो चउविहार करके पौषध करे, सो सर्व से पौषध कहिये।

दूसरा शरीरसत्कार पौषध—सर्वथा शरीर का सत्कार-स्नान, धोवन, धावन, तैलमर्दन, वस्त्राभरणादि शृंगार प्रमुख कोई भी शुश्रूषा न करे। साधु की तरे अपरिकर्मित शरीर रहे। तिसको सर्वथा शरीरसत्कार पौषध कहते हैं। तथा पौषध में हाथ, पग प्रमुख की शुश्रूषा करनी, तिसका आगार रक्खे, उसको देशसत्कार पौषध कहते हैं।

तीसरा अब्रह्मपौषध—त्रिकरण शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत पाले, सो सर्वथा ब्रह्मचर्य पौषध है; अरु मन, वचन, दृष्टि प्रमुख का आगार रक्खे। अथवा परिमाण रक्खे, सो देश से ब्रह्मचर्य पौषध है।

चौथा सर्वथा सावद्य व्यापार का त्याग—सर्व से अव्यापार पौषध है। अरु जो एकादि व्यापार का आगार रक्खे, सो देश से अव्यापार पौषध जानना।

एवं चार प्रकार के पौषध के दो दो भेद हैं। सो प्रथम जब आगम व्यवहारी गुरु होते थे, अरु श्रावक भी शुद्ध उपयोगवाले होते थे। तब जो जो प्रतिज्ञा लेते थे, सो सो प्रतिज्ञा अखण्डित तैसी ही पालते थे, भूलते नहीं थे, अरु

न्यूनाधिक भी नहीं करते थे। और गुरु भी अतिशय ज्ञान के प्रभाव से योग्यता जान कर देश, सर्व पौषध का आदेश देते थे। तथा श्रावक कदाचित् भूल भी जाते थे, तो भी तत्काल प्रायश्चित्त ले लेते थे। परन्तु इस काल में तो ऐसे उपयोगी जीव हैं नहीं, दुषमकाल के प्रभाव से जड़बुद्धि जीव बहुत हैं। इस वास्ते पूर्वाचार्यों ने उपकार के वास्ते आहारपौषध तो दोनों करने, अरु शेष तीन पौषध जीत-व्यवहार के अनुसार निषेध कर दिये हैं। यही प्रवृत्ति वर्त्त-मान संघ में प्रचलित है। पौषध श्रावक को जरूर करना चाहिये, कारण कि कर्मरूप भावरोग की यह औषधि है, ताते जब पर्वदिन आवे, तब ज़रूर पौषध करे। इस के पांच अतिचार टाले, सो कहते हैं:—

प्रथम अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जासंथारक अति-चार—जिस स्थान में पौषध संस्थारक करा है, तिस भूमि की तथा संथारा की पडिलेहणा न करे, एतावता संथारे की जगा अच्छी तरे निगाह करके नेत्रों से देखे नहीं अरु कदापि देखे, तो भी प्रमाद के उदय से कुछ देखी कुछ न देखी जैसी करे।

दूसरा अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जासंथारक अति-चार—संथारा को रजोहरणादि करके पूंजे नहीं, कदापि पूंजे, तो भी यथार्थ न पूंजे, गड़बड़ कर देखे, जीवरक्षा न करे, तो दूसरा अतिचार लगे।

तीसरा अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमि अतिचार—सो लघुशंका, वड़ीशंका, परिठवने की भूमि का नेत्रों से अवलोकन न करे, अरु अवलोकन करे, तो भी अलखु-पलखु करके काम चलावे, जीवयत्ना विना करे परिठवे तो तीसरा अतिचार लगे।

चौथा अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवणभूमि अतिचार—सो जहां मूत्र, विष्ठा करे, उस भूमिका को उच्चार-प्रस्रवण करने से पहिले पूंजे नहीं, जेकर पूंजे, तो भी यद्वा-तद्वा पूंजे, परन्तु यत्न से न पूंजे।

पांचमा पोसहविहिविवरीए अतिचार—सो पौषध में क्षुधा लगे, तव पारणे की चिंता करे; जैसे कि प्रभात में अमुक रसोई अथवा अमुक वस्तु का आहार करूंगा। तथा अमुक कार्य करना है, तहां जाना पड़ेगा, अमुक पर तगादा करूंगा। तथा प्रभात में पौषध पार के अच्छी तरं तेल मर्दन कराऊंगा, अच्छे गरम पानी से स्नान करूंगा, तथा अमुक पोशाक पहरूंगा, स्त्री के साथ भोग करूंगा, इत्यादि सावद्य चिंतना करे। तथा संध्या समय में पौषध के मंडल शोधन न करे, सर्व रात्रि सोता रहे, विकथा करे। पौषध के अठारह दूषण हैं, सो वर्जे नहीं। सो अठारह दूषण लिखते हैं:—

१. विना पोसे वाले का लाया हुआ जल पीवे। २. पौषध

पौषध के दोष

के वास्ते सरस आहार करे। ३. पौषध के अगले दिन विविध प्रकार का संयोग मिलाय के आहार करे। ४. पौषध के निमित्त अथवा पौषध के अगले दिन में विभूषा करे। ५. पौषध के वास्ते वस्त्र धोवावे। ६. पौषध के वास्ते आभरण घड़ा कर पहिरे। स्त्री भी नथ, कंकणादि सोहाग के चिह्न वर्जे के दूसरा नवा गहना घड़ा के पहिरे। ७. पौषध के वास्ते वस्त्र रंगा कर पहिरे। ८. पौषध में शरीर की मैल उतारे। ९. पौषध में विना काल निद्रा करे। १०. पौषध में स्त्रीकथा करे-स्त्री को भली बुरी कहे। ११. पौषध में आहारकथा करे-भोजन को अच्छा बुरा कहे। १२. पौषध में राजकथा करे-युद्ध की बात सुने, वा कहे। १३. पौषध में देशकथा करे-अच्छा बुरा देश कहे। १४. पौषधमें लघुशंका अरु बड़ीशंका भूमिका पूंजे विना करे। १५. पौषध में दूसरों की निंदा करे। १६. पौषध में स्त्री, पिता, माता, पुत्र, भाई प्रमुख से वार्त्तालाप करे। १७. पौषध में चोर की कथा करे। १८. पौषधमें स्त्री के अंगोपांग, स्तन, जघनादि को देखे, यह अठारह दूषण पौषध में वर्जे, तो शुद्ध पौषध जानना। अन्यथा पांचमा अतिचार लगे।

अथ बारहवां अतिथिसंविभागव्रत लिखते हैं। अतिथि

अतिथिसंविभाग व्रत — उसको कहते हैं कि, जिसने लौकिक पर्वो-त्सवादि तिथियों को त्याग दिया है, सो अतिथि है। जैसे प्राहुणा विना तिथि आता है, एतावता तिथि देख के नहीं आता है। ऐसे ही जो साधु अनचिंत्या ही आ जावे, सो अतिथि जानना। ऐसे मधुकर वृत्तिवाले से जो विभाग करे, एता-वता शुद्ध व्यवहार न्यायोपार्जित धन करके अपने उदर पूरणे योग्य जो रसोई करी है, उत्तम कुल आचारपूर्वक पूर्वकर्म पश्चात्कर्मादि दोष रहित, ऐसा शुद्ध निर्दोष आहार भक्तिपूर्वक जो देवे, सो अतिथिसंविभाग व्रत है। तहां प्रथम दान देनेवाले में पांच गुण होवें, तो वो दाता शुद्ध होता है, सो पांच गुण लिखते हैः—

१. जैनमार्गी दाता को, शुद्ध पात्र की प्राप्ति पा करके, अपने घर में मुनि का दर्शन मात्र होने से, अंतरंग में बहुत दिन की चाहना के उल्लास से आनंद के आंसु आवें, जैसे अपना प्यारा, अति हितकारी वल्लभ विछड़ के परदेश में गया है, उसको मन से कभी विसारता नहीं, मिला ही चाहता है, उस मित्र के अकस्मात् मिलने से आनंद आंसु आवें, तैसे मुनि को घर में आया देख के आनंद आंसु लावे। अरु मन में विचारे कि मेरा वड़ा भाग्य है कि, ऐसा मुनि मेरे घर में आया है। अरु मैं कैसा हूं ? अनादि का भूला, द्रव्य संवल रहित, दरिद्र पीड़ित, ज्ञान लोचन रहित, अंधभाव करी

पीड़ित, अपार संसारचक्र में भटकता हुआ, बहुत अकथनीय दुःख संयुक्त देख कर, मेरे पर दयादृष्टि करके प्रथम मेरे को ज्ञानांजन शलाका से ज्ञान रूप—देखनेवाला नेत्र खोल दीना, अरु तीन तत्त्व–सेवा रूप व्यापार सिखलाया, तथा मुझ को रत्नत्रयीरूप पूंजी–रास दे कर मेरा अनादि दरिद्र दूर करा, मुझे भले आदमियों की गिनती में करा। ऐसे गुरु मुनिराज, बिना गरज के, परोपकारी मेरे घरांगन में आये। ऐसी पुष्ट भावना–प्रशस्त राग भाव के उल्लास से आनंद के आंसु आवे; यह दाता का प्रथम गुण है।

२. जैसे संसार में जीव को अत्यंत इष्ट वस्तु के संयोग से रोमावली खड़ी होती है, तैसे बड़ी भक्ति के प्रभाव से मुनि को देख के रोमावली विकस्वर होवे, हृदय में हर्ष समावे नहीं। यह दूसरा गुण है।

३. मुनि को देख के बहुमान करे, जैसे किसी गरीब के घर में राजा आप चल कर आवे, तब वो गरीब गृहस्थ जैसा राजा का आदर करे, अरु मन में विचारे कि, महाराज मेरे घर में आये हैं, तो मैं अच्छी वस्तु इन कों भेट करूं तो ठीक है, क्योंकि राजा का आना बारंबार मेरे घर में कहां है? ऐसा विचार के जैसे वस्तु भेट करे, तैसे श्रावक भी साधु को घर में आया देख के बहुत मान करे अरु मन में ऐसा विचारे कि, यह ऐसा निःस्पृहियों में शिरोमणि, जगद्बंधु,

जगत् हितकारी, जगद्वत्सल, निष्कामी, आत्मानंदी, करुणासागर, संसारजलधि उद्धरण, परोपकार करनी में चतुर, क्रोधादि कषाय निवारक, स्व और पर का तारक, ऐसा मुनिराज, मेरे घर में चल कर आया, इस से मेरा अहो भाग्य है ! ऐसा जान कर संभ्रम संयुक्त सन्मुख जावे, त्रिकरण शुद्ध परिणाम से कहे कि, हे स्वामी ! दीनदयाल ! पधारो, मेरे गृहांगन को पवित्र करो, ऐसे बहुमान दे कर घर में पधरावे। मन में विचारे कि, मेरा बड़ा पुण्योदय है कि, साधु आहार पानी का अनुग्रह करते हैं। क्योंकि साधु के आहार लेने में बड़ी विधि है। साधु शुद्ध भात पानी जाने, तो लेवे, इस वास्ते मत मेरे से कोई दोष उपजे ऐसा विचार कर त्रिकरण शुद्ध, बहुमानपूर्वक उपयोग संयुक्त, विधिपूर्वक आहार लावे, अरु मधुर स्वर से विनति करे कि, हे स्वामी ! यह शुद्ध आहार है, इस वास्ते सेवक पर परम कृपा करके, पात्र पसार के मेरा निस्तार करो, ऐसे वचन बोलता हुआ आहार देवे। मुनि भी उस आहार को योग्य जान कर ले लेवे, अरु श्रावक भी जितनी दान देने योग्य वस्तु है, उस सर्व की निमंत्रणा करे। इस विधि से दान देकर हाथ जोड़ के पृथ्वी पर मस्तक लगा कर नमस्कार करे। पीछे मीठे वचनों से विनति करे कि, हे कृपानिधान ! सेवक पर बड़ी कृपा करी, आज मेरा घर पवित्र हुआ, क्योंकि पुण्योदय विना मुनि का योग कहां

होता है ? फिर भी हे स्वामी ! कृपा करके अशन, पान, खादिम, स्वादिम, औषध, वस्त्र, पात्र, शय्या, संस्तारकादि से प्रयोजन होवे, तब अवश्य सेवक पर अनुग्रह करके पधारना। आप तो मुनिराज, गुणवान, वेपरवाह हो, आपको किसी वात की कमी नहीं, किसी के साथ प्रतिबन्ध नहीं, पवन की तरे प्रतिबन्ध से रहित हो, तो भी मेरे ऊपर जरूर कृपा करनी, ऐसे मुख से कहता हुआ अपने घर की सीमा तक पहुंचावे। यह तीसरा गुण है।

४. तहां से वन्दना करके पीछे आ कर भोजन करे, परंतु मन में आनंद समावे नहीं। विचारे कि, मेरा वड़ा भाग्योदय हुआ, आज कोई भली वात होवेगी, क्योंकि आज मुनि, निःस्पृही, सहज उदासी, स्वसुखविलासी को मैंने विनति करी, आहार दिया, अरु आहार देते वीच में कोई विघ्न नहीं हुआ, इस वास्ते मेरा वड़ा भाग्य है, क्या फिर भी कभी ऐसे मुनि का योग मिलेगा ? ऐसी अनुमोदना वारंवार करे। यह चौथ गुण है।

५. जैसे कोई मंदभाग्यवान व्यापार करते हुए थोड़ा थोड़ा कमाता है, तिस को किसी दिन कोई सौदे में लाख रुपये की प्राप्ति हो जावे, तब वो कैसा आनंदित होते है। अरु फिर उस व्यापार की कितनी चाहना रखता है। इस से भी अधिक साधु को दान देने की चाहना श्रावक रक्खे। यह

पांचमा गुण है। इन पांच गुणयुक्त शुद्ध दान देवे, तो अतिथिसंविभाग व्रत होवे।

इस व्रत के पांच अतिचार वर्जे, सो लिखते हैं:—

प्रथम सचित्तनिक्षेप अतिचार—सो सचित्त—सजीव पृथ्वी, जल, कुम्भ, चूल्हा, इन्धनादिकों के ऊपर न देने की बुद्धि से आहार को रख छोड़े। अरु मन में ऐसा विचारे कि, ए आहार साधु तो नहीं लेवेगा, परन्तु निमन्त्रणा करने से मेरा अतिथिसंविभाग व्रत पल जावेगा।

दूसरा सचित्तपीहण अतिचार—सो सचित्त करके ढक छोड़े। सूरणकंद, पत्र, पुष्प, फलादि करके, न देने की बुद्धि से ढक छोड़े।

तीसरा कालातिक्रम अतिचार—सो साधुओं के भिक्षा का काल लंघ करके अथवा भिक्षा के काल से पहिले अथवा साधु आहार कर चुके, तब आहार की निमन्त्रणा करे।

चौथा परव्यपदेशमत्सर अतिचार—सो जब साधु मांगे तब क्रोध करे। तथा वस्तु पास में है, तो भी मांगने पर न देवे, अथवा इस कंगाल ने ऐसा दान दिया, तो मैं क्या इस से हीन हूं जो न देऊं? इस भावना से देवे।

पांचमा—गुड़, खण्ड प्रमुख अपनी वस्तु है, सो न देने की बुद्धि से औरों की कहे।

यह सम्यक्त्व पूर्वक बारह व्रतरूप गृहस्थधर्म का स्वरूप धर्मरत्न प्रकरण तथा योगशास्त्रादि ग्रन्थों से संक्षेप में लिखा है। जेकर विशेष देखना होवे, तो धर्मरत्नशास्त्रवृत्ति तथा योगशास्त्र देख लेना।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनंदविजय-आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे अष्टमः परिच्छेदः संपूर्णः ॥

नवम परिच्छेद

इस परिच्छेद में श्रावक के छे कृत्यों [दिनकृत्य, रात्रिकृत्य, पर्वकृत्य, चातुर्मासिककृत्य, संवत्सरकृत्य, जन्मकृत्य, यह छ प्रकार के कृत्य हैं ।] में से प्रथम दिनकृत्य विधि, श्राद्धविधि ग्रन्थ तथा श्रावककौमुदी शास्त्र के अनुसार लिखते हैं ।

श्रावकदिनकृत्य

प्रथम तो श्रावक को निद्रा थोड़ी लेनी चाहिये । जब एक प्रहर रात्रि शेष रहे, तब निद्रा छोड़ के उठना चाहिये । जेकर किसी को बहुत नींद आती होवे, तब जघन्य चौदमे ब्राह्म मुहूर्त्त में तो ज़रूर उठना चाहिये; क्योंकि सवेरे उठने से इस लोक अरु परलोक के अनेक कार्य सिद्ध होते हैं । उस अवसर में बुद्धि टिकी हुई अरु निर्मल होती है । पूर्वापर का अच्छी तरे से विचार कर सकता है । तथा ग्रन्थकार ऐसे भी कहते हैं कि, जिस के नित्य सोते हुए के सूर्य उग जावे, तिसकी आयु अल्प होती है, इस वास्ते ब्राह्म मुहूर्त्त में अवश्य उठना चाहिये । जब सोता उठे, तब मन में विचारे कि—मैं श्रावक हूं, अपने घर में तथा परघर में, इन दोनों में से कहां सोया था ? तथा हेठले मकान में सोया था कि चोबारे प्रमुख में सोया था ? दिनमें सोया था कि रात्रि को सोया था ? इत्यादि विचार करते भी जेकर निद्रा का वेग न मिटे तो नाक

जागने की विधि

अरु मुख का उच्छ्वास रोके, उससे निद्रा तत्काल दूर हो जाती है। पीछे दरवाजा अच्छी तरे से देख के लघुशंकादि करे। तथा रात्रि में किसी को कुछ कहना पडे, तव मन्द स्वर से कहे, ऊंचे स्वर से न कहे। क्योंकि रात्रि में ऊंचा शब्द करने से छपकली प्रमुख हिंसक जीव जाग जाते हैं, फिर वो मक्खी आदिक जीवों की हिंसा करते हैं। तथा कसाई जाग जावे तो गौ, बकरी, भेड़ प्रमुख को मारने के वास्ते चला जावे। तथा माछी जाल ले कर मछली मारने को चला जावे। तथा वावरी, अहेडी, खून करनेवाला, मदिरा बनानेवाला, परस्त्रीगमन करनेवाला, तस्कर, लुटेरा, धोवी, धाडी, कुम्भार अरु जुआरी प्रमुख अनेक हिंसक जीव जाग कर अनेक तरें के पाप करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। रात्रि में ऊंचे शब्द से बोलनेवालों को यह सर्व पाप लगे, इस वास्ते रात्रि में ऊंचे शब्द से न बोलना चाहिये।

शुभाशुभ तत्त्व और स्वर

जव सवेर के वक्त निद्रा भंग होवे, तब तत्त्वों के जानने-वाले श्रावक को तत्त्वों का विचार करना चाहिये। सो तत्त्व पांच हैं, तिस का नाम कहते हैं—१. पृथ्वी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, ५. आकाश। निद्रा-छेद के समय में जेकर पृथ्वी, तत्त्व अरु जल तत्त्व वहे, तव तो शुभ है, अरु जेकर अग्नि, वायु तथा आकाश तत्त्व वहे, तो दुःखदायक है। शुक्ल पक्ष की पडवा के दिन जेकर वामी नासिका का स्वर

चले, तो पंदरा दिन तक आनंद आरोग्य रहे, अरु कृष्ण पक्ष की एकम के दिन जेकर दक्षिण नासिका का स्वर वहे, तो पंदरा दिन तक सुख आनन्द रहे। इस से विपर्यय हो, तो विपर्यय फल होवे।

तथा शुक्ल पक्ष के प्रथम तीन दिन वामी नासिका सवेरे उठते वहे, तो शुभ है, अगले तीन दिन दक्षिण स्वर चले तो शुभ है, फिर अगले तीन दिन वाम स्वर चले तो शुभ है, ऐसे ही क्रम से पंदरां दिन तक जान लेना। अरु कृष्ण पक्ष की पड़वा के दिन से ले कर जेकर तीन दिन तक दक्षिण स्वर चले तो शुभ है, अगले चौथे दिन से ले कर तीन दिन तक वाम स्वर चले तो शुभ है, फिर अगले तीन दिन दक्षिण स्वर चले तो शुभ है, ऐसे पंदरां दिन तक जान लेना। तथा चन्द्रस्वर में सूर्य उगे अरु सूर्यस्वर में सूर्य अस्त होवे तो शुभ है। तथा सूर्यनाड़ी में सूर्य उदय होवे अरु चन्द्रनाड़ी में अस्त होवे, तो भी शुभ है। किसी शास्त्र के मत में रवि, मंगल, गुरु, अरु शनि, इन चार वारों में दक्षिण स्वर में सूर्यनाड़ी दिन उगते चले, तो शुभ है; अरु सोम, बुध तथा शुक्र, इन तीनों वारों के दिन सोते, उठते चन्द्रस्वर–वामस्वर चले, तो शुभ है; विपर्यय चले, तो अशुभ है।

तथा किसी के मत में संक्रांति के क्रम से सूर्य, चन्द्र-नाड़ी वहे तो शुभ है। जैसे मेष संक्रांति के दिन सूर्यस्वर चले, अरु वृषसंक्रांति के दिन चन्द्रनाड़ी चले, तो शुभ जाननी,

इत्यादि। तथा किसी के मत में चन्द्रमा राशि पलटे तिस क्रम करके अढ़ाई घड़ी तक एक नाड़ी वहती है, इत्यादि। परन्तु जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रादिकों का तो प्रथम जो लिखा है, सो मत है। छत्तीस गुरु अक्षरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतना काल वायुनाड़ी को दूसरी नाड़ी में संचार करते लगता है।

अब पांच तत्त्वों की पहिचान कहते हैं। नासिका की पवन जेकर ऊंची जावे, तब तो अग्नि तत्त्व है; जेकर नीची जावे तो जल तत्त्व है; तिरछी जावे तो वायुतत्त्व; जेकर नासिका से निकल के सीधी, तिरछी जावे तो पृथ्वी तत्त्व है; जेकर नासिका के दोनों पुटों के अन्दर वहे, बाहर नहीं निकले तो आकाश तत्त्व जानना।

पहिले पवन तत्त्व वहता है, पीछे अग्नि तत्त्व वहता है, पीछे जल तत्त्व वहता है, पीछे पृथ्वी तत्त्व वहता है, पीछे आकाश तत्त्व वहता है, इनका क्रम सदा यही है। दोनों ही नाड़ियों में पांचों तत्त्व वहते हैं। उसमें पृथ्वी तत्त्व पचास पल प्रमाण वहता है, जल तत्त्व चालीस पल प्रमाण वहता है, अग्नितत्त्व तीस पल प्रमाण वहता है; वायुतत्त्व तीस पल प्रमाण वहता है, आकाश तत्त्व दश पल प्रमाण वहता है।

पृथ्वी अरु जलतत्त्व में शांति कार्य करना। अग्नि, वायु, तथा आकाश, इन तीन तत्त्व में दीप्तिमान् अरु स्थिरकार्य करना, तब फलोन्नति शुभ होते है। तथा जीवने का प्रश्न

पूछना, जय प्रश्न, लाभ प्रश्न, धन उत्पन्न करने का प्रश्न, मेघ वर्षने का प्रश्न, पुत्र होने का प्रश्न, युद्ध का प्रश्न, जाने आने का प्रश्न; इतने प्रश्न जेकर पृथ्वी अरु जल तत्त्व में करे, तो शुभ होवे। जेकर अग्नितत्त्व अरु वायु तत्त्वके वहते हुए ये प्रश्न करे, तो शुभ नहीं। पृथ्वी तत्त्व में प्रश्न करे तो कार्य की सिद्धि स्थिरपने होवे अरु जल तत्त्व में शीघ्र कार्य होवे।

जब पहल पहिले जिनपूजा करे, तथा धन कमाने के वास्ते जावे। पाणिग्रहण—विवाह की वेला, गढ़ लेने की वेला, नदी उतरने की वेला तथा जो गया है सो आवेगा कि नहीं? ऐसे प्रश्न करती वेला। जीवन के प्रश्न में तथा घर, क्षेत्रादि लेती वेला, करियाना लेते वेचते, वर्ष के प्रश्न में, नौकरी करने की वेला, खेती करने के वक्त, शत्रु के जीतने में, विद्यारम्भ में, राज्याभिषेक में, इत्यादि शुभ कार्य में चंद्रनाडी वहे, तो कल्याणकारी है।

प्रश्न के समय कार्य के आरम्भ में पूर्ण वामी नाडी प्रवेश करती होवे, तो निश्चय कार्य की सिद्धि जाननी; इस में संदेह नहीं। तथा कैद से कब छूटेगा? रोगी कब अच्छा होवेगा? अरु जो अपने स्थान से भ्रष्ट हुआ है, तिसके प्रश्न में तथा युद्ध करने के प्रश्न में, वरी को मिलती वक्त, अकस्मात् भय हुआ, स्नान करने लगे, भोजन पानी पीने लगे, सोने लगे, गई वस्तु के खोज करने में, मैथुन करने लगे, विवाद करने में, कष्ट में, इतने कार्यों में सूर्यनाडी शुभ है।

कोई एक आचार्य ऐसे भी कहते हैं कि, विद्यारम्भ में, दीक्षा में, शास्त्राभ्यास में, विवाद में, राजा के देखने में, मन्त्र यन्त्र के साधने में सूर्यनाड़ी शुभ है। अथवा जो चंद्रादि स्वर निरन्तर चलता होवे, तो तिस पासे का पग उठा के प्रथम चले तो कार्यसिद्धि होवे।

पापी जीवों के शत्रुओं के चोर प्रमुख जो क्लेश के करनेवाले हैं, तिन के सन्मुख जो नासिका बन्द होवे, सो पासा इन के सामने करे। जो सुख लाभ जयार्थी है, उस में प्रवेश करता हुआ पूरा स्वर, वामा पग शुक्ल पक्ष में, अरु, जमणा पग कृष्ण पक्ष में शय्या से उठते हुए धरती पर रक्खे। इस विधि से श्रावक नींद त्यागे।

नमस्कार मन्त्र और जपविधि

अरु श्रावक अत्यन्त बहुमानपूर्वक मंगल के वास्ते पंचपरमेष्ठी नमस्कार मन्त्र का स्मरण करे, शय्या में बैठा हुआ तो मन में पंचपरमेष्ठी नमस्कारमन्त्र का स्मरण करे, वचन से उच्चारण न करे। जेकर मुख से उच्चारण करे, तो शय्या छोड़ कर धरती पर बैठ कर नमस्कारमन्त्र को पढ़े। ऐसे नमस्कार मन्त्र का हृदय में स्मरण करता हुआ शय्या से उठे, पवित्र भूमि के ऊपर बैठे, तथा पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा रह कर चित्त की एकाग्रता के वास्ते कमलबंध कर जपादि से नमस्कार मन्त्र पढ़े। तहां आठ पांखड़ी के कमल की कल्पना करके उस

की कर्णिका में अरिहंत पद को स्थापन करे, पूर्व पांखडी में सिद्ध, दक्षिण पांखडी में आचार्य, पश्चिम पांखडी में उपाध्याय, उत्तर पांखडी में साधु पद को स्थापन करे। अरु वाकी चूलिका के जो चार पद हैं, सो अनुक्रम से अग्न्यादि चारों कोनों में स्थापन करे। "उक्तं चाष्टमप्रकाशे योगशास्त्रे श्रीहेमचन्द्रसूरिभिः—

अष्टपत्रे सितांभोजे, कर्णिकायां कृतस्थितिम्।
आद्यं सप्ताक्षरं मंत्रं, पवित्रं चिंतयेत्ततः॥ १॥

सिद्धादिकचतुष्कं च, दिक्पत्रेषु यथाक्रमम्।
चुलापादचतुष्कं च, विदिक्पत्रेषु चिंतयेत्॥ २॥

त्रिशुद्ध्या चिंतयंस्तस्य, शतमष्टोत्तरं मुनिः।
भुञ्जानोऽपि लभेतैव, चतुर्थतपसः फलम्॥ ३॥

[श्लो० २४, २५, २६]

हाथ के आवर्त्त से पञ्च मङ्गल मन्त्र का जो नित्य स्मरण करे, उसको पिशाचादिक नहीं छलते हैं। वन्धनादि कष्ट में विपरीत शङ्खावर्त्तकादि से अक्षरों करके अथवा विपरीत पदों करके जो पञ्चमङ्गल मंत्र का लक्षादि जाप करे, तो शीघ्र क्लेशादिकों का नाश होवे। जेकर हाथ पर जाप न कर सके तो सूत की, रत्न की, रुद्राक्षादि की माला पर जाप करे। मालावाला हाथ, हृदय के सामने रक्खे, शरीर से तथा

शरीर के वस्त्रों से तथा भूमिका से माला न लगने देनी। अंगूठे के ऊपर माला रख करके तर्जनी अंगुली से नख विना लगाये मनका फेरे और मेरु उल्लंघन न करे। शास्त्र-कार लिखते हैं कि, जो अंगुली के अग्र से जाप करे, अरु जो मेरु उल्लंघ के जाप करे, तथा जो विखरे हुए चित्त से जाप करे, यह तीनों जाप थोड़ा फल देते हैं। जाप करने-वाला बहुतों से एकला अच्छा, शब्द करके जाप करनें से मौन करके करे, सो अच्छा है। जेकर जप करते थक जावे, तो ध्यान करे, ध्यान करने से थक जावे, तो जप करे; दोनों से थक जावे, तो स्तोत्र पढ़े।

श्रीपादलिप्त आचार्यकृत प्रतिष्ठाकल्पपद्धति में लिखा है कि, जाप तीन तरे का है—एक मानस, दूसरा उपांशु, तीसरा भाष्य। इन तीन में मानस उसको कहते हैं कि जो मन की विचारणा से होवे, स्वसंवेद्य होवे। अरु उपांशु उसको कहते हैं कि जो दूसरा तो न सुने, परन्तु अन्तर्जल्प रूप होवे। तथा जो दूसरों को सुनाई देवे, सो भाष्य। यह तीनों क्रम करके उत्तम, मध्यम, अरु अधम जान लेने। उसमें मानस से शांति होती है, एतावता शांति के वास्ते मानस जाप करना अरु, पुष्टि के वास्ते उपांशु जाप करना, तथा आकर्षणादिक में भाष्य जाप करना।

नमस्कार मन्त्र के पांच पद, नवपद, अथवा अनानु-पूर्वी को चित्त की एकाग्रता के वास्ते गुणे। तथा इस

नवकार मन्त्र का एक अक्षर अथवा एक पद भी जपे, तो भी जाप हो सकता है योगशास्त्र के अष्टमप्रकाश में कहा है कि, पञ्चपरमेष्ठी मंत्र के "अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु" इन सोलां अक्षर का जाप करे, तथा "अरिहंत सिद्ध" इन षड् वर्ण का जाप करे, तथा "अरिहंत" इन चार अक्षर का जाप करे, तथा आकार जो वर्ण है, सो भी मन्त्र है; इस के जाप से स्वर्ग मोक्ष का फल होता है। व्यवहार फल ऐसे जानना कि, षड् वर्ण का जाप तीन सौ वार करे, तथा चार वर्ण का जाप चार सौ वार करे, अरु सोलां अक्षर का जाप दो सौ वार करे; तो एक उपवास का फल होता है। तथा नाभि कमल में स्थिर अकार को ध्यावे, अरु सि वर्ण को मस्तक-कमल में ध्यावे, तथा आकार को मुख-कमल में ध्यावे। हृदय-कमल में स्थित उकार को ध्यावे, तथा साकार को कण्ठ-पिंजर में ध्यावे। यह सर्व कल्याणकारी जाप है। "अ सि आ उ सा" यह पांच बीज हैं। इन पांचों बीजों का ओंकार बनता है।

तथा और बीज मन्त्रों का भी जाप करे, जैसे "नमः सिद्धेभ्यः" जेकर इस लोक के फल की इच्छा होवे, तब तो ओंकार पूर्वक पढ़ना चाहिये, अरु मोक्ष वास्ते जपे, तो ओंकार रहित पढना चाहिये। इस जापादि के करने से बहुत फल होता है। यतः—

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं, ध्यानकोटिसमो लयः ॥
[उप० त०, त० ३, श्लो० १६]

ध्यान की सिद्धि के वास्ते श्रीजिन-जन्म-दीक्षादि कल्याणक भूमिरूप तीर्थ में जावे, अथवा और कोई विविक्त स्थान होवे, तहां ध्यान करे। ध्यान का स्वरूप देखना होवे, तो आवश्यक सूत्रांतर्गत ध्यानशतक में देख लेना। नमस्कार मन्त्र का जो जाप है, सो इस लोक तथा परलोक में बहुत गुणकारी है। महानिशीथ में कहा है:—

नासेइ चोर सावय विसहर जल जलण बंधण भयाइं ।
चिंतिज्जंतो रक्खस रण राय भयाइं भावेण ॥

अर्थः—चोर, सिंह, सर्प, पानी, अग्नि, बंधन, संग्राम, राजभय, इतने भय पञ्चपरमेष्ठी मन्त्र के स्मरण से नष्ट हो जाते हैं। परन्तु एकाग्रता भाव से जपे, तो यह फल होता है। पञ्चपरमेष्ठी मन्त्र सर्व जगे पढ़ना चाहिये, नमस्कार मन्त्र का एक अक्षर जपे, तो सात सागरोपम का करा हुआ पाप नष्ट होता है। जेकर संपूर्ण पञ्चपरमेष्ठी मन्त्र को जपे, तो पांच सौ सागर का करा हुआ पाप नष्ट हो जाता है। तथा जो पुरुष एक लक्ष वार पञ्चपरमेष्ठी मन्त्र का जाप करे अरु तिस की विधि से पूजा करे, तो तीर्थंकरनामकर्म गोत्र का

बंध करे; इस बात में संदेह नहीं। तथा जो जीव आठ कोड़ी, अठ लाख, आठ हज़ार, आठ सौ, आठ वार; इस पंच-परमेष्ठी मन्त्र का जाप करे वो जीव तीसरे भव में सिद्ध हो जाता है। इस वास्ते सोते, उठते प्रथम नमस्कार मन्त्र का स्मरण करना। तिसके पीछे धर्मजागरणा करनी।

धर्मजागरणा

यथा—मैं कौन हूं, क्या मेरी जाति है, क्या मेरा कुल है, कौन मेरा इष्ट देव है, कौन मेरा गुरु है, क्या मेरा धर्म है, क्या मेरे अभिग्रह हैं, क्या मेरी अवस्था है, क्या मैंने सुकृतादि करा है, क्या मैंने दुष्कृतादि नहीं करा है, क्या मैं करने समर्थ हूं, क्या मैं नहीं कर सकता हूं, मुझ को कोई देखता है कि नहीं, अपनी भूल को आत्मा जानता है, फिर क्यों नहीं छोड़ता, तथा आज कौनसी तिथि है, क्या अर्हत का कल्याणक दिन है, आज मेरा क्या कृत्य है, मैं किस देश में तथा किस काल में हूं ? सवेरे उठ के एसे स्मरण करने से जीव सावधान हो जाता है। जो विरुद्ध कृत्य हैं; उनका परिहार करता है तथा अपने नियम का निर्वाह अरु नवीन गुण की प्राप्ति होती है। इसी धर्मजागरणा से प्रतिबुद्ध होकर आनंद, कामदेवादि श्रावकों ने प्रतिमादि विशेष धर्मकरनी का अनुष्ठान किया है।

स्वप्नविचार

तिस पीछे जो श्रावक प्रतिक्रमण करनेवाला होवे, तो प्रतिक्रमण करे। अरु जो प्रतिक्रमण न करे, सो भी रागादिमय कुस्वप्न प्रद्वेषादिमय अनिष्ट फल का सूचक, तिसके दूर करने

के वास्ते, तथा स्वप्न में स्त्री से प्रसंगादि करने के खोटे स्वप्न का उपलंभ हुआ होवे, तब एक सौ आठ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे, अन्यथा सौ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे। चार लोगस्स का काउस्सग्ग करे। यह कथन व्यवहार भाष्य में है। तथा *विवेकविलासादि ग्रन्थों में तो ऐसे लिखा है कि, स्वप्न देखने के पीछे फिर नहीं सोना, अरु स्वप्न को दिन में सद्गुरु के आगे कहना, जेकर खोटा स्वप्न आवे तो फिर सोना ठीक है, किसी के आगे कहना न चाहिये। तथा समधातुवाला, प्रशांतचित्तवाला, धर्मी और नीरोगी, जितेंद्रिय, इन को जो शुभाशुभ स्वप्न आवे, सो सत्य ही होता है। स्वप्न जो आता है, सो नव कारणों से आता है। सो नव कारण कहते हैं।

१. अनुभव करी हुई वस्तु का स्वप्न आता है, २. सुनी हुई बात का, ३. देखा हुआ, ४, प्रकृति—वात, पित्त अरु कफ के विकार से, ५. चिंतित वस्तु का, ६. सहज स्वभाव से, ७. देवता के उपदेश से, ८. पुण्य के प्रभाव से, ९. पाप

---

* सुस्वप्नं प्रेक्ष्य न स्वप्यं, कथ्यमह्नि च सद्गुरोः।
दुःस्वप्नं पुनरालोक्य, कार्यः प्रोक्तविपर्ययः॥
समधातोः प्रशान्तस्य, धार्मिकस्यापि नीरुजः।
स्यातां पुंसो जिताक्षस्य, स्वप्नौ सत्यौ शुभाशुभौ॥
[१ उल्लास श्लो० १४, १५]

के प्रभाव से । इन में आदि के छ कारणों से जो स्वप्न आवे, सो निरर्थक है, अरु अगले तीन कारणों से जो स्वप्न आवे तो सत्य होता है ।

रात्रि के पहिले पहर में स्वप्न आवे, तो एक वर्ष में फल देवे, अरु दूसरे पहर में स्वप्न आवे, तो छ महीने में फल देवे, तीसरे पहरमें स्वप्न आवे, तो तीसरे महिने में फल देवे, चौथे पहर में स्वप्न आवे, तो एक मास में फल देवे, सवेरो दो घड़ी रात्रि में स्वप्न आवे, तो दस दिन में फल देवे, सूर्योदय में स्वप्न आवे, तो तत्काल फल देवे ।

१. जो स्वप्न में वहुत आल जंजाल देखे, २. जो रोगोदय से स्वप्न आवे, तथा ३. जो मलमूत्र की बाधा से स्वप्न आवे, यह तीनों स्वप्न निरर्थक हैं । जेकर पहिले अशुभ स्वप्न आवे, अरु पीछे से शुभ स्वप्न आवे, तो शुभ फल देवे । तथा पहिले शुभ स्वप्न आवे, पीछे अशुभ आवे, तो अशुभ फल देवे । जेकर खोटा स्वप्न आवे, तो शांति अर्थात् देवपूजा दानादि करना । तथा स्वप्नचिंतामणि नामक ग्रन्थ में भी लिखा है कि, अनिष्ट स्वप्न देख कर सो जावे, अरु किसी को कहे नहीं; तो फिर वो स्वप्न, फल नहीं देता है । सोते उठ कर जिनेश्वरदेव की प्रतिमा को नमस्कार करके जिनेश्वर का ध्यान करे, स्तुति करे, स्मरण करे, पंचपरमेष्ठी मन्त्र पढ़े तो खोटा स्वप्न वितथ हो जाता है । अरु जो पुरुष देव, गुरु की पूजा करते हैं, तथा निजशक्ति के अनुसार

तप करते हैं, निरन्तर धर्म के रागी हैं, तिनों को खोटा स्वप्न भी अच्छा फल देता है। तथा जो पुरुष, देवगुरु का स्मरण करके अरु शत्रुंजय, समेतशिखर प्रमुख शुभ तीर्थों का नाम, तथा गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी प्रमुख आचार्यों का नाम स्मरण करके सोवे, उसको कदापि खोटा स्वप्न नहीं होता है।

थूकना होवे, तो राख में थूकना चाहिये, शरीर को दृढ कर के वास्ते हाथों करके वज्रीकरण करे, अग्नितत्त्व, अरु पवनतत्त्व, जब वहता होवे, तब धाप करके आकंठ-कंठ तांई दूध पीवे। कईएक आचार्य कहते हैं कि आठ पसली पानी की पीवे, इस का नाम वज्रीकरण है। तथा सवेरे उठ कर माता, पिता, पितामह, बड़ा भाई प्रमुख को नमस्कार करे, तो तीर्थयात्रा के समान फल होता है। इस वास्ते यह प्रतिदिन करनी चाहिये। तथा जिसने वृद्धों की सेवा नहीं करी है, उसको धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। वृद्ध उसको कहते हैं कि जो शील में, सन्तोष में, तथा ज्ञान, ध्यानादिक में बड़े होवें। तिनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। तथा जिसने राजा की सेवा नहीं करी है, अरु जिसने उत्पन्न होते हुए अपने शत्रु को बन्द नहीं करा, तिस पुरुष से धर्म अर्थ अरु सुख दूर हैं।

श्रावक को सवेरे उठ करके चौदह नियमों को धारण करना चाहिये। तिन का स्वरूप ऊपर लिख

व्रतभंग का विचार आये हैं। तथा विवेकी पुरुष प्रथम सम्यक्त्व पूर्वक द्वादश व्रत, विधिपूर्वक गुरु के मुख से धारण करे। अरु विरति जो पलती है, सो अभ्यास से पलती है। इस वास्ते धर्म का अभ्यास करना चाहिये। विना अभ्यास के कोई क्रिया भी अच्छी तरे नहीं करी जाती है। ध्यान मौनादि सर्व अभ्यास करने से दुःसाध्य नहीं। जो जीव इस जन्म में अच्छा वा बुरा जैसा अभ्यास करता है, सोई प्रायः अगले जन्म में पाता है। तथा पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी आदि के दिन में तप आदि नियम जो जो धर्मी पुरुषने अंगीकार किया है, उस में तिथ्यंतर की भ्रांत्यादि करके जो सचित्त जलादि पान, तंबोल–भक्षण, कितनाक भोजन भी कर लिया है, पीछे से ज्ञान हुआ कि आज तो तप का दिन था। तब जो कुछ मुख में होवे, उसको राखादिक में गेर देवे, और प्राशुक पानी से मुखशुद्धि कर तप करे हुए की तरे रहे, तो नियम भंग नहीं होता है। अरु जेकर संपूर्ण भोजन करा पीछे जान पड़े कि आज तप का दिन है, तब अगले दिन दंड के निमित्त वह तप करे। समाप्ति होने पर पोरिसी, एकाशनादि तप अधिक करे। अरु जेकर तप का दिन जान कर एक दाना भी खावे, तो व्रतभंग हो जाता है। जो व्रत का भंग जान करके करना है, सो नर-

कादिक का हेतु है। तथा जेकर तप करे पीछे गाढ़ा मांदा हो जावे, अथवा भूतादि दोष से परवश हो जावे, अथवा सर्पादिक काटे, ऐसी असमाधि में तप करने में समर्थ न होवे, तो भी चार आगार उच्चारण करने से व्रतभंग नहीं होता है। ऐसे सर्व नियमों में जान लेना। उक्तं चः—

वयभंगे गुरुदोसो, थोवस्सवि पालणा गुणकरी य।
गुरु लाघवं च नेयं, धम्मम्मि अओ अ आगारा॥
[पंचाशक ५-६५]

अर्थ—व्रत भंग करने से महा दूषण होता है, अरु जो पालन करे, तो थोड़ा व्रत भी गुणकारी है, इस वास्ते गुरु लघु जान कर ही धर्म में भगवान् ने आगार कहे हैं।

अत्र नियम ग्रहण करने की रीति कहते हैं। प्रथम तो मिथ्यात्व त्यागने योग्य है। तिस पीछे नित्य यथाशक्ति एक, दो, तीन वार जिनपूजा, जिनदर्शन, सम्पूर्ण देववंदन, चैत्यवंदन करे। ऐसे ही गुरु का योग मिले तो दीर्घ अथवा लघु वंदन करे। जेकर गुरु हाज़िर न होवे, तब धर्माचार्य का नाम लेके वंदना करे। तथा नित्य वर्षा ऋतु में—चौमासे में पांच पर्व के दिन अष्टप्रकरी पूजा करे। जहां लग जीवे, तहां लग नवा अन्न, नवा फल, पक्कान्नादिक देव को चढाये विना खावे नहीं। नित्य नैवेद्य, सोपारी, बदामादि देव के आगे चढ़ावे। तथा तीन चौमासे-संवत्सरी, दीवाली प्रमुख

में चावलों के अष्ट मंगल भर के ढोवे। नित्य अथवा पर्व के दिन तथा वर्ष में खादिम, स्वादिम आदि सर्व वस्तु देव, गुरु को दे कर भोजन करे। प्रतिमास, प्रतिवर्ष, महाध्वजादि को उत्सव आडंबर से चढ़ावे। स्नात्रमहोत्सव, अष्टोत्तरी पूजा, रात्रिजागरण करे। नित्य चौमासे आदिक में कितनीक वार जिनमन्दिर, धर्मशाला प्रमार्जन करे, देहरा समरावे, पौषधशाला लीपे। प्रतिवर्ष प्रतिमास जिनमन्दिर में अंगलूहना तथा दीपक के वास्ते पूनी देवे, दीवे के वास्ते तेल देवे, चन्दनखण्डादि मन्दिर में देवे। पौषधशाला में मुखवस्त्रिका, जपमाला पूंछना, चरवला, कितनेक वस्त्र, सूत, कंवली, ऊनादि देवे। वर्ष में श्रावकों के वैठने के वास्ते कितनेक पाट, चौकी प्रमुख देवे। जेकर निर्धन होवे, तो भी वर्ष दिन पीछे सूत डोरा, अट्टी प्रमुख दे कर संघपूजा करे। कितनेक साधर्मियों को शक्ति के अनुसार भोजन दे के साधर्मिवात्सल्यादि करे। दररोज कितनेक कायोत्सर्ग करे। स्वाध्याय करे। नित्य जघन्य नमस्कार सहित प्रत्याख्यान करे। रात्रि में दिवसचरम प्रत्याख्यान करे, दोनों वक्त प्रतिक्रमण करे। यह करनी प्रथम कर लेवे, तो पीछे से बारां व्रत स्वीकार करे। तिन व्रतों में सातमे व्रत में सचित्त, अचित्त अरु मिश्र वस्तु का स्वरूप अच्छी तरें जानना चाहिये।

जैसे प्रायः सर्व धान्य, अन्न, अरु धनिया, जीरा, अजवा

यन, सौंफ, सोआ, राई, खसखस प्रमुख सर्व कण, सर्व पत्र, सर्व हरे फल, तथा लूण, खारी, खारक अर्थात् छुहारे, रक्त—लाल रंग का सेंधा लूण, खान का सौंचल लूण, खारा, मट्टी, खरी, हिरमची, हरी दातन, इत्यादि, ये सर्व व्यवहार से सचित्त—सजीव हैं। तथा पानी में भिजोये हुए चने, गेहूं आदि अन्न, तथा चने, मूंग, उड़द, तुअर प्रमुख की दाल, जिस में नक्कू रह गया होवे, ये सर्व मिश्र हैं। तथा पहिले लूण लगाये विना, अग्नि की वाष्पादि दिये विना और तप्त वालु—रेत के गेरे विना चने, गेहूं, जुवारादि भूंजे, तथा खारादि दिये विना मसले हुये तिल, होलां, ऊंवियां, सिट्टे, पहुंक, ईषत् सेकी फली; मिरच, राई, हींग प्रमुख करके वघारे चिर्भटादि फल तथा जिसके अन्दर वीज सचित्त हैं, ऐसे पके हुये सर्व फल; यह सव मिश्र हैं। तथा तिलवट—तिलकूट जिस दिन करे उस दिन मिश्र है। अरु जेकर तिलों में अन्न—रोटी प्रमुख गेरके कूटे, तो एक मुहूर्त्त पीछे अचित्त होवे। तथा दक्षिण मालवादि देशों में वहुत गुड़ प्रक्षेप करने से उसी दिन अचित्त हो जाते हैं। तथा वृक्ष से तत्काल का उखड़ा हुआ गूंद, लाख, छिल्लक, तत्काल का फोड़ा हुआ नारियल तथा निंबू, दाडिम, अनार, अंव, नींव, ईख, इन का तत्काल का काढ़ा हुआ रस, तथा तत्काल का काढ़ा हुआ तिलादि का तेल, तत्काल का भांग्या हुआ वीज,

सचित्त और अचित्त वस्तु

तथा काटे हुए ललेर, सिंघाड़े, सोपारी आदि, तथा बीज रहित किया हुआ पक्क फल खरबूजादि, गाढ़ मर्दन से कणरहित किया हुआ जीरादि; ये सर्व अंतर्मुहूर्त लग मिश्र हैं। पीछे प्राशुक का व्यवहार है। तथा और भी प्रबल अग्नि के योग विना प्राशुक करे हुए अंतर्मुहूर्त तक मिश्र हैं, पीछे प्राशुक का व्यवहार है। तथा अप्राशुक पानी, कच्चा फल, कच्चा अन्न, इनको लेकर बहुत मर्दन भी करें, तो भी लवण अग्न्यादिक प्रबल शस्त्र विना ये प्राशुक नहीं होते हैं। क्योंकि श्रीपञ्चमांग भगवती सूत्र के उन्नीसमे शतक के तीसरे उद्देश में लिखा है कि, वज्रमयी शिला पर वज्रमयी लोढ़ा से आमले प्रमाण पृथ्वीकाय लेकर इक्कीस वार पींसे, तब कितनेक पृथ्वी के जीवों को लोढे का स्पर्श भी नहीं हुआ है. ऐसी उन जीवों की सूक्ष्मकाया है। तथा सौ योजन से उपरांत आये हुए हरड़ां, खारक, किसमिस, लाल द्राक्षा, मेवा, खजूर, काली मिरच, पीपर, जायफल, बदाम, अखरोट, न्योजा, जर-गोजा, पिस्ता, सीतलचीनी, स्फटिक समान उज्ज्वल सेंधालूण, सज्जी, भट्टी में पकाया हुआ लूण, बनावट का खार, कुंभार की कमाई हुई मट्टी, इलायची, लवंग, जावत्री, सूखी मोथ, कोकण देश प्रमुख के केले, कदलीफल, उबाले हुए संघाड़े, सोपारी–इन सर्व का प्राशुक व्यवहार है। साधु भी कारण पडे तो ले लेवे। यह बात कल्पभाष्य में भी लिखी है। यथा—

जोयणसयं तु गंतुं, अणहारेणं तु भंडसंकंती ।
वायागणिधूमेण य, विद्धत्थं होइ लोणाई ॥

इनमें से हरड, पीपल प्रमुख तो आचीर्ण हैं, इस वास्ते लेते हैं, अरु खर्जूर, द्राक्ष प्रमुख अनाचीर्ण हैं। तथा उत्पल-कमल, पद्मकमल, धूप में रक्खे हुए एक पहर के अभ्यंतर ही अचित्त हो जाते हैं। तथा मोगरे के फूल, जुहि के फूल, यह धूप में बहुत चिर भी पड़े रहें, तो भी अचित्त नहीं होते हैं। तथा मगदंति का पुष्प अर्थात् मोगरे के फूल पानी में गेरे रहें, तो एक पहर के अन्दर ही अचित्त हो जाते हैं। तथा उत्पल—नीलकमल अरु पद्मकमल, ये दोनों पानी में गेरे रखने से बहुत काल में अचित्त नहीं होते हैं। "शीत-योनिकत्वात्"। तथा पत्रों का, फूलों का, जिन फलों में अभी तक गुठली बनी नहीं है, तिन का तथा बथुआ प्रमुख हरित वनस्पति का, इन सब का वृन्त—डण्डी ही कुमलाय जावे, तब ये जीव रहित हुए जानने। यह कथन श्रीकल्पभाष्य-वृत्ति में है।

सचित्ताचित्त की कालमर्यादा

तथा श्रीपञ्चमांग के छट्ठे शतक के पांचमे उद्देश में सचित्ताचित्त वस्तु का स्वरूप ऐसा लिखा है—शालि, व्रीहि, गेहूं, जव, जवजव; ये पांच धान्य की जाति कोठार में, तथा ठेके पाले में तथा मंचा, माला, कोठार विशेषों में

मुख ढांक के रक्खे, लीपा होवे, तथा चारों तर्फ से लीपा होवे, ऊपर कोई और ढकना दिया होवे, मुद्रित, लांछित करके रक्खे, तो कितने काल तांई जीवयोनि रहे? ऐसा प्रश्न पूछने से भगवान् कहते हैं कि, हे गौतम! जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त रहे, अरु उत्कृष्ट तो तीन वर्ष रहे, फिर अचित्त हो जावे। तथा मटर, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, वाल, कुलथी, चवला, तुअर, गोल चणे, इत्यादि धान्य सर्व ऊपरवत् जानना। *नवरं उत्कृष्ट से पांच वर्ष उपरांत अचित्त होते हैं। तथा अलसी, कुसुंभे की करड, कोदुं, कंगुनी, चटरी, राल, कोरड़सक, सण, सरसों, मूली के वीज, इत्यादि धान्य भी ऊपरवत्, नवरं उत्कृष्ट से सात वर्ष उपरांत अचित्त हो जाते हैं। तथा कर्पास के बिनौले, उत्कृष्ट तीन वर्ष से उपरांत अचित्त—जीव रहित हो जाते हैं। यह कथन भी कल्पभाष्यवृत्ति में है। तथा बिना छना आटा श्रावण भादों के महीने में पांच दिन तक मिश्र रहता है, पीछे अचित्त होता है। आसोज, कार्त्तिक मास में चार दिन तक मिश्र रहता है, पीछे अचित्त हो जाता है। मगसिर, पौष मास में तीन दिन मिश्र रहता है, पीछे अचित्त होता है। माघ, फाल्गुन मास में पांच पहर मिश्र रहता है। चैत्र, वैशाख मास में चार पहर मिश्र रहता है। तथा ज्येष्ठ आषाढ़ में तीन पहर मिश्र रहता है, उपरांत अचित्त

* विशेष—अर्थात् प्रथम से इस में इतना विशेष है।

हो जाता है। जेकर तत्काल छान लेवे, तब अन्तर्मुहूर्त्त लग मिश्र रहे, पीछे अचित्त होवे।

शिष्य प्रश्न करता है कि, पीसा हुआ आटा कितने दिन का अचित्तभोजी श्रावक को खाना चाहिये?

उत्तर—सिद्धांत में हम ने आटे की मर्यादा का नियम नहीं देखा है, परन्तु बुद्धिमान् नवा, जीर्ण अन्न, तथा सरस नीरस क्षेत्र, तथा वर्षा, शीत, उष्णादि ऋतु, तिन में तिस आटे का पन्दरा दिन मासादि काल में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि विगड़ा देखे, तथा सुरसली प्रमुख जीव पड़ा देखे, तब न खावे, जेकर खावे, तो जीवहिंसा अरु रोगोत्पत्ति का कारण है।

तथा मिठाई की मर्यादा, अरु विदल का निषेध, ऊपर सातमे व्रत में लिख आये हैं, तहां से जान लेना। तथा दही में सोलां पहर उपरांत जीव उत्पन्न होते हैं। तथा विवेकी जीव को बैंगन, टीवरु, जामन, बिल्व, पीलूं, पक्क करमद, पक्का गूंदा, लसूड़ा, पेंचु, मधुक—महुवा, मोर, वालोल, वडे बोर, झाड़ी के बोर, कच्चा कौठफल, खसखस, तिल, इत्यादि न खाने चाहियें। इनमें त्रस जीव होते हैं। तथा जो फल रक्त—लालरंग देखने में बुरा लगे, पक्क, गोल, कंकोड़ा, फणस, कटेल प्रमुख भी बुरी भावना के हेतु होने से न खाने चाहियें। तथा जो फल जिस देश में खाना विरुद्ध होवे, जैसे कड़वा तूंबा, कूष्मांड अर्थात् कोहडा—हलुवा कदु, सो भी न खाना

चाहिये। अरु अभक्ष्य, अनन्तकाय, कंदमूल, परघर के अचित्त करे, रांधे हुये भी न खाने चाहियें; क्योंकि एक तो निःशूकता अरु दूसरी रसलंपटता तथा वृद्ध्यादि दोष का प्रसंग होता है, इस वास्ते न खाना चाहिये। तथा उकाला हुआ सेलरा, रांधा हुआ आर्द्रादि कंद, सूरण, वैंग-नादि, यद्यपि अचित्त हैं, तो भी श्रावक, प्रसंग दूषण त्यागने के वास्ते न खावे। तथा मूली तो पंचांग ही खाने योग्य नहीं, 'निषिद्धत्वात्'—निषिद्ध होने से। तथा सोंठ, हलदी, नाम अरु स्वाद के भेद होने से अभक्ष्य नहीं हैं। तथा उष्ण जल, तीन उबाले आ जावें, तब अचित्त होता है, यह कथन पिंडनिर्युक्ति में है। चावलों के धोवन का पानी जब नितर के निर्मल हो जावे, तब अचित्त होता है। तथा उष्ण जल की मर्यादा प्रवचनसारोद्धारादि ग्रन्थों में ऐसे लिखी है-त्रिदण्डोद्धृत उष्ण जल, उष्णकाल के चारों मास में पांच पहर अचित्त रहता है। यह चूल्हे से उतारे पीछे की मर्यादा है। तथा वर्षा के चारों मास में तीन पहर अचित्त अरु शीत काल के चारों मास में चार पहर अचित्त रहता है। पीछे सचित्त होता है। जेकर ग्लान, बाल, वृद्धादि साधु के वास्ते मर्यादा उपरांत रखना होवे, तब क्षारादि वस्तु का प्रक्षेप करके रखना। फिर सचित्त नहीं होता है। यह कथन प्रवचनसारोद्धार के १३६ द्वार में है। तथा कोकडु मोठ, मूंग अरु हरडादिक की मींजी—मिटक यह यद्यपि अचेतन हैं,

तो भी योनि रखने के वास्ते तथा निःशूकतादि के परिहार के वास्ते दांतों से तोड़ना-भांगना न चाहिये। इत्यादि सचित्त वस्तु का स्वरूप जान कर सातमा व्रत अंगीकार करना चाहिये।

प्रत्याख्यान विधि

श्रावक को प्रथम तो निरवद्य-दूषण रहित आहार खाना चाहिये। ऐसे न कर सके तो सर्व सचित्त खाने का त्याग करे। ऐसे भी न कर सके तो बावीस अभक्ष्य अरु बत्तीस अनंतकाय तो अवश्यमेव त्यागने चाहियें, तथा चौदह नियम धारने चाहियें। ऐसे सोता उठ कर यथाशक्ति नियम ग्रहण करे। पीछे यथाशक्ति प्रत्याख्यान करे। नमस्कार सहित पौरुष्यादि प्रत्याख्यान काल जो है, सो जेकर सूर्य उगने से पहिले उच्चारण करिये, तब तो शुद्ध है, अन्यथा शुद्ध नहीं। अरु शेष प्रत्याख्यान सूर्योदय से पीछे भी हो सकते हैं। तथा यह नमस्कार सहित प्रत्याख्यान जेकर सूर्योदय से पहिले उच्चारण करा हुआ होवे, तब तिसको पूर्व होने से तिसके बीच ही पौरुषी साढ़पौरुष्यादि काल प्रत्याख्यान हो सकता है। जेकर नमस्कार सहित सूर्योदय से पहिले उच्चारण न करिये, तब तो कोई भी काल प्रत्याख्यान करना शुद्ध नहीं। अरु जेकर प्रथम नमस्कारादि प्रत्याख्यान मुष्टिसहितादि करे, तब सर्व काल प्रत्याख्यान करे, तो शुद्ध है।

तथा रात्रि में चौविहार करे अरु दिन में एकासना करे, पीछे ग्रंथि सहित प्रत्याख्यान करे, तब तिसको प्रतिमास उनतीस उपवास का फल होता है। दो वार भोजन उक्त रीति से करे, तो अठावीस उपवास का फल होता है। क्योंकि दो घड़ी का काल भोजन करते लगता है, शेष काल तप में व्यतीत हुआ। यह कथन पद्मचरित्र में है। प्रत्याख्यान उपयोगपूर्वक पूरा हो जावे तब पारे।

चार प्रकार का आहार

चार प्रकार के आहार का विभाग ऐसे है। एक तो अन्न, पक्कान्न, मण्डक, सत्तू आदि जो क्षुधा दूर करने को समर्थ होवे, सो प्रथम अशन नामक आहार है। दूसरा छाछ का पानी, तथा उष्ण जलादि, यह सर्व पानक नामक आहार है। तीसरा फल, फूल, इक्षुरस, पहुंक, सूखडी आदिक, यह सर्व खादिम नामक आहार है। चौथा सूंठ, हरड़े, पिप्पली, काली मिरच, जीरा, अजमक, जायफल, जावत्री, असेलक, कत्था, खैरवड़ी, मधुयष्टि–मुलठी, तज, तमालपत्र, एलायची, कुठ, विडंग, विडलवण, अजमोद, कुलंजण, पिप्पलामूल, कबाबचीनी, कचूर, मुस्ता, कर्पूर, सौंचल, हरड़, बहेड़ा, बंबूल, धव, खदिर, खेज की छाल, पान, सोपारी, हिंगुलाष्टक, हिंगु, त्रेवीसओ पंचल, पुष्करमूल, जवासामूल, बावची, तुलसी, कपूरिकंदादिक जीरा; यह सर्व भाष्य अरु प्रवचनसारोद्धारादिक ग्रंथो के लेख से स्वादिम नामक आहार

है। अरु कल्प वृत्ति में इनको खादिम लिखा है। कोई एक अजवायन को भी खादिम कहते हैं। यह मतांतर है। यह सर्व स्वादिम नामक आहार है। तथा एलायची, कर्पूरादि वासित जल द्विविध आहार प्रत्याख्यान में पीना कल्पता है। तथा वेसण, सौंफ, सोय, कोठवड़ी, आमलागांठ, अंब की गुठली, निंबू के पत्र प्रमुख खादिम होने से द्विविध आहार प्रत्याख्यान में नहीं कल्पते हैं। त्रिविध आहार प्रत्याख्यान में तो जल ही पीना कल्पता है। तिसमें भी फूंकारा हुआ पानी, साकर, कर्पूर, एलायची, कत्था, खदिर, चूर्णक, सेलक, पाड़लादि वासित जल, जेकर नितार अरु छान के लेवे तो कल्पे, अन्यथा नहीं।

तथा शास्त्रों में मधु, गुड़, साकर, खांड आदि भी स्वादिम कहे हैं। अरु द्राक्षा, शर्करादि, जल, तक्र—छाछादि को पानक कहा है। तो भी द्विविध आहार प्रत्याख्यान में नहीं कल्पते हैं। नागपुरीय गच्छ प्रत्याख्यानभाष्य में कहा है—

दक्खा पाणाईयं, पाणं तह साइमं गुडाईयं।
पढियं सुयंमि तहवि हु, तित्तो जणगंति नायरिअं॥

स्त्री के साथ भोग करने से चौविहार भंग नहीं होता है, परन्तु बालक तथा स्त्री के होठ मुख में लेकर चर्वण करे, तो भङ्ग होवे। अरु द्विविध आहार प्रत्याख्यान में यह भी करे तो भंग नहीं होता। प्रत्याख्यान जो है सो कवल आहार

का है, परन्तु रोम आहार का नहीं है। इस वास्ते लेपादि करने से भंग नहीं।

तथा निम्नलिखित इतनी वस्तु किसी आहार में भी नहीं हैं—पंचांग नींब, गोमूत्र, गिलोय, कडु, चिरायता, अतिविष, कुडे की छाल, चीड, चंदन, राख, हरिद्रा, रोहणी, ऊपलोट, वच, त्रिफला, बबूल की छिलक, धमासा, नाहि, असगंध, रींगणी, एलुवा, गुगल, हरडां, दाल, कर्पास की जड़, बेरी, कन्थेरी, करीर, इनकी जड़, पुंआड, बोढथोहर, आछी, मंजीठ, बोड, बीजकाष्ठ, कुआर, चित्रक, कुंदरु प्रमुख जो वस्तु खाने में अनिष्ट लगे, वो सर्व अनाहार है। यह अनाहार वस्तु रोगादि कष्ट में चौविहार प्रत्याख्यान में भी खा लेवे, तो भंग नहीं। इस तरह आहार के भेद जान के प्रत्याख्यान करे।

मलोत्सर्गविधि

पीछे मलोत्सर्ग, दंतधावन, जिह्वालेखन, कुरला करना, यह सर्व देश स्नान करके पवित्र होवे, यह कहना अनुवाद रूप है। क्योंकि यह पूर्वोक्त कर्म सवेरे उठ के प्रायः सर्व गृहस्थ करते हैं। इस में शास्त्रोपदेश की अपेक्षा नहीं, स्वतः ही सिद्ध है। परन्तु इनकी विधि शास्त्र कहता है। उसमें प्रथम मलोत्सर्ग की विधि यह है कि, मलोत्सर्ग मौनसे करना चाहिए, और निर्दूषण-योग्य स्थान में करे। यतः—

मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजने ।
संध्यादिकर्म पूजा च, कुर्याज्जापं च मौनवान् ॥

अर्थः—मूतना, दिशा फिरना, मैथुन करना, स्नान, भोजन, संध्यादि कर्म, पूजा, जाप, यह सर्व मौनपने करने। तथा दोनों संध्या वस्त्र पहिर के करे। तथा दिन में उत्तर के सन्मुख हो करके, अरु रात्रि को दक्षिण दिशा के सन्मुख हो करके लघुशंका उच्चार करे। तथा सर्व नक्षत्रों का तेज सूर्य करके जब भ्रष्ट हो जावे, जहां तक सूर्य का आधा मांडला उगे, तहां तक सवेरे की संध्या करनी। तथा सूर्य आधा अस्त होवे, उसके पीछे दो तीन नक्षत्र जहां तक नजर न पड़े, तहां तक सायंकाल कहते हैं। तथा राख का ढेर, गोबर का ढेर, गौ के बैठने के स्थान में, सर्प की बंबी पर तथा जहां बहुत लोग पुरीषोत्सर्ग करते होवें, तथा उत्तम वृक्ष के हेठ, रस्ते के वृक्ष के हेठ, रस्ते में, सूर्य के सन्मुख, पानी की जगह में, मसानों में, नदी के कांठे पर, तथा जिस जगह को स्त्री पूजती होवे, इत्यादि स्थानों में मलोत्सर्ग न करे। परन्तु जहां बैठने से कोई मारपीट न करे, पकड़ के न ले जावे, धर्म की निंदा न होवे, तथा जहां बैठने से गिरे, फिसले नहीं, पोली भूमि न होवे, घासादि न होवे, त्रस जीव बीज न होवे, इत्यादि उचित स्थान में मलोत्सर्ग करे। गाम के तथा किसी के घर समीप मलो-

त्सर्ग न करे। तथा जिस तरफ़ से पवन आती होवे, तथा गाम, सूर्य, पूर्व दिशा की तरफ पीठ करके मलोत्सर्ग न करे। दिशा अरु मूत्र का वेग रोकना नहीं, क्योंकि मूत्र के वेग रोकने से नेत्रों में हानि होती है। तथा दिशा का वेग रोकने से काल हो जाता है। तथा वमन रोकने से कुष्ट रोग हो जाता है। जेकर ये तीनों बातें न होवेंगी तो रोग तो ज़रूर हो जावेगा। श्लेष्मादि करके ऊपर धूलि गेर देवे। क्योंकि श्रीप्रज्ञापनोपांग के प्रथम पद में लिखा है कि, चौदह जगे में संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। सो चौदह स्थानक कहते हैं—

१. पुरीष में, २. मूत्र में, ३. मुखके थूक में, ४. नाक के मैल में, ५. वमन में, ६. पित्तों में, ७. वीर्य में, ८. वीर्य रुधिर दोनों में, ९. राध में, १० वीर्य का पुद्गल अलग निकल पड़े, उसमें ११. जीव रहित कलेवर में, १२. स्त्री पुरुष के संयोग में, १३. नगरी की मोरी में, १४. सर्व अशुचि स्थान में, कान की मैल में, आंख की गीद में, कांख की मैल प्रमुख में, यह सर्व चौदह बोल मनुष्य के संसर्गवाले ग्रहण करने। अरु जब ये शरीर से अलग होवें, तब इनमें जीव उत्पन्न होते हैं।

तथा दातन भी निरवद्य स्थान में करे। दातन अचित्त

जाने हुए वृक्ष की कोमल करे। तथा दांतों
दंतधावन विधि को दृढ़ करने के वास्ते तर्जनी अंगुली से
दांतों की वीड घिसे। जो दांतों की मैल
पड़े उसके ऊपर धूलि गेर देवे। तथा दातन भी कैसी करे?
जो दातन सीधी होवे, बीच में गांठ न होवे, कूर्च अच्छा
होवे, आगे से पतली होवे, चेंटी अंगुली समान मोटी होवे,
सुभूमि की उत्पन्न हुई होवे, ऐसी दातन कनिष्ठा, अनामिका
के बीच लेकर करे। पहिले दाहिनी दाढ घिसे, फिर वामी
घिसे। उपयोगवंत स्वस्थ दांत अरु वीड के मांस को पीड़ा
न देवे। उत्तर तथा पूर्व सन्मुख हो करके निश्चलासन,
मौन युक्त हो कर दातन करे। दुर्गंध, पोली, सूखी, खट्टी,
खारी वस्तु से दांत को न घिसे, तथा व्यतिपात, रविवार,
संक्रांति के दिन, ग्रहण लगे में, नवमी, अष्टमी, पड़वा, चौदश,
पूर्णमासी, अमावस, इन दिनों में दातन न करे। जेकर दातन
न मिले, तब मुखशुद्धि के वास्ते बारां कुरले करे। अरु जिह्वा
उल्लेखन तो सदा करे। दातन की फांक से जिह्वा का मैल
हलुवे हलुवे सर्व उतार के शुचिस्थान में दातन धो करके
अपने मुख के सामने गेरे। तथा खांसी, श्वास, तप, अजीर्ण,
शोक, तृषावाला, मुख पके वाला, मस्तक, नेत्र, हृदय, कान,
इनके रोगवाला दातन न करे।

मस्तक के केशों को सदा समारे, जिस से कि जूआं न
पड़ें। जेकर तिलक करके आरीसा देखे, उस में मुख नहीं

दीखे, सिर नहीं दीखे, तो पांच दिन के अन्दर उसका मरना जानना। अरु जिस ने उपवास पौरुष्यादिक प्रत्याख्यान करा होवे, वो दांत धोये विना भी शुद्ध है, क्योंकि तप का वड़ा फल है। लौकिक शास्त्रों में भी उपवासादि करे, तो दातन विना ही देवपूजा करते हैं। इस वास्ते लौकिक शास्त्रों में भी उपवासादि में दातन करने का निषेध है। यदुक्तं विष्णुभक्तिचंद्रोदयग्रंथे—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु, मध्याह्ने नवमीतिथौ।
संक्रांतिदिवसे प्राप्ते, न कुर्याद्दंतधावनम् ॥ १ ॥

उपवासे तथा श्राद्धे, न कुर्यात् दंतधावनम्।
दंतानां काष्ठसंयोगो, हंति सप्त कुलानि वै ॥ २ ॥

स्नानविधि

तथा जव स्नान करे, तव उत्तिंग, पनक, कुंथु आदि जीवों से रहित भूमि में करे। सो भूमि ऊंची, नीची, पोली न होवे। प्रथम तो उष्ण प्राशुक जल से स्नान करे; जेकर उष्ण जल न मिले, तव वस्त्र से छान करके प्रमाण संयुक्त शीतल जल से स्नान करे। तथा व्यवहार शास्त्र में ऐसा लिखा है कि, नग्न हो कर तथा रोगी तथा परदेश से आया हुआ, भोजन करे, पीछे आभूषण पहिर के, किसी को विदा करके पीछे आ करके, मंगल कार्य करके स्नान न करे। तथा अन-जाने पानी में, दुष्प्रवेश जल में, मैले जल में, वृक्षों करके

आच्छादित जल में, शैवल करके आच्छादित जल में स्नान न करे, तथा शीतल जल से स्नान करके उष्ण भोजन न खाना चाहिये। अरु उष्ण जल से स्नान करके शीतल भोजन न खाना चाहिये। तैलमर्दन सदा ही करना चाहिये। तथा स्नान करे पीछे जिस की कांति फीकी दीसे, तथा जिस के दांत परस्पर घिसे, अरु शरीर से मृतक जैसी गन्ध आवे, तिस का मरण तीन दिन के अन्दर होगा। तथा स्नान करे पीछे जिसके हृदय में, तथा दोनों पगों में तत्काल पानी शोष जावे, तो छ दिनों के बीच में उसका मरण जानना। मैथुन का सेवन तथा वमन, इन दोनों में कछुक देर पीछे स्नान करे। तथा मृतक की चिता के धूम लगने से क्षौर-कर्म में मस्तक मुण्डवा करके छाने हुये शुद्ध जल से स्नान करे। तथा तेलमर्दन करी स्नान करे, पीछे उज्ज्वल वस्त्र, आभरण पहिरना। पीछे प्रयाण करने के दिन में, संग्राम में जाते हुए, विद्यामंत्र साधते, रात को, सांझ को, पर्व दिन में, नवमे दिन में स्नान न करे, मस्तक मुण्डन भी न करावे। तथा पक्ष में एक वार दाढी मस्तक के केश तथा नख दूर करावे। परन्तु अपने दांतों करी तथा अपने हाथ करके नख न कतरे। स्नान करने से शरीर पवित्र चैतन्य सुखकर होने से भाव शुद्धि का हेतु हो जाता है। उक्तं च द्वितीये अष्टकप्रकरणे—

जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥
[श्लो० २]

अर्थः—देहदेश—त्वचामात्र ही की क्षणमात्र शुद्धि है, परन्तु प्रभूत काल नहीं। शुद्धि जो है, सो

स्नानप्रयोजन

भी प्रायः करके ही है, कुछ एकांत नहीं है। क्योंकि अतिसारादि रोग वाले को क्षणमात्र भी शुद्धि नहीं हो सकती है। धोने योग्य मैल से अन्य दूसरा मैल नासिकादि अन्तर्गत जो है, सो भी स्नान से दूर नहीं होता है। अथवा पानी से और जीवों की हिंसा न करने से जो स्नान है, सो बाह्य स्नान है। जो पुरुष स्नान करके भगवान् की तथा साधु की पूजा करे, तिस का स्नान भी अच्छा है, क्योंकि भावशुद्धि का निमित्त है। स्नान करने में अप्काय के जीवों की विराधना भी है, तो भी सम्यग्दर्शन की शुद्धिरूप गुण हैं। यदुक्तं—

पूआए कायवहो, पडिकुट्ठो सोउ किंतु जिणपूआ ।
सम्मत्तसुद्धिहेउत्ति भावणीया उ निरवज्जा ॥

अर्थः—कोई कहते हैं कि, पूजा करने से जीवों का नाश होता है, अरु जीववध का तो शास्त्र में निषेध करा है वास्ते पूजा न करनी चाहिये। इसका उत्तर कहते है कि,

पूजा जो जिनराज की है, सो सम्यक्त्व निर्मल करनेवाली है; इस वास्ते जिनपूजा निरवद्य है। अतः देवपूजा के वास्ते गृहस्थ को स्नान करना कहा है तथा शरीर के चैतन्य सुख के वास्ते भी स्नान है। परन्तु जो स्नान करने से पुण्य मानते हैं, सो बात मिथ्या है, क्योंकि जो कोई तीर्थ में भी जान कर स्नान करता है, तिसको भी शरीरशुद्धि के सिवाय और कुछ फल नहीं होता है। यह बात अन्य दर्शन के शास्त्रों में भी कही है। उक्तं च स्कंदपुराणे काशीखण्डे षष्ठाध्याये—

मृदो भारसहस्रेण, जलकुंभशतेन च।
न शुध्यंति दुराचाराः, स्नानतीर्थशतैरपि ॥ १ ॥

जायंते च म्रियंते च, जलेष्वेव जलौकसः।
न च गच्छंति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः ॥ २ ॥

चित्तं शमादिभिः शुद्धं, वदनं सत्यभाषणैः।
ब्रह्मचर्यादिभिः कायः, शुद्धो गंगां विनाप्यसौ ॥३॥

चित्तं रागादिभिः क्लिष्टमलीकवचनैर्मुखम्।
जीवहिंसादिभिः कायो, गंगा तस्य पराङ्मुखी ॥ ४ ॥

परदारापरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः।
गंगाप्याह कदागत्य, मामयं पावयिष्यति ॥ ५ ॥

जल से स्नान करने से असंख्य जीवों की विराधना होती है; इस वास्ते पुण्य नहीं है। जल में जीवों का होना मीमांसा शास्त्र से भी सिद्ध होता है। यदुक्तं उत्तर-मीमांसायाम्—

लूतास्यतंतुगलिते, ये * क्षुद्राः संति जंतवः।
सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते, नैव मांति त्रिविष्टपे॥

किसी के स्नान करे भी जेकर गुमडादि में से राध आदि स्रवे, तो तिस ने अंगपूजा फूलादिक से आप नहीं करनी, वह दूसरों से करावे। अरु अग्रपूजा तथा भावपूजा आप भी करे, तो कुछ दोष नहीं। थोड़ा सा भी अपवित्र होवे, तब देव का स्पर्श न करे।

पूजा के वस्त्र

स्नान करके पवित्र मृदु, गंध, काषायिकादि वस्त्र, अंग-लूहना, पोतिया छोड़ करके पवित्र वस्त्रांतर पहिरने की युक्ति से पानी के भींजे पगों से धरती को अस्पर्शता हुआ पवित्र स्थान में आ करके उत्तर के सन्मुख हो करके अच्छी तरे मनोहर नवा वस्त्र जो फटा हुआ तथा सिला हुआ न होवे, अरु वर्ण में धवल होवे, ऐसा वस्त्र पहिरे। तथा जो वस्त्र कटि में पहिरा होवे, तथा जिस वस्त्र से दिशा गया होवे, तथा जिस वस्त्र से मैथुन सेवन होवे; तिस वस्त्र को पहिर के पूजादि न करे।

---

* 'विन्दौ' ऐसा पाठान्तर है।

तथा एक वस्त्र पहिन के भोजन तथा देवपूजादि न करे। तथा स्त्री, कंचुकी विना पहने देवपूजा न करे। इस रीति से पुरुष को दो वस्त्र तथा स्त्री को तीन वस्त्र के विना पूजा करनी नहीं कल्पती है। देवपूजा में धोती अतिविशिष्ट धवल करनी चाहिये। निशीथचूर्णी तथा श्राद्धदिनकृत्यादि शास्त्रों में ऐसा ही लिखा है। तथा पूजाषोडश में ऐसा भी लिखा है कि, रेशमी आदि जो सुंदर वस्त्र लाल पीला होवे, सो भी पूजा में पहिरे तो ठीक है, तथा * "एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ" इत्यादि आगम के प्रमाण से उत्तरासंग अखण्ड वस्त्र का करे, सिये हुए दो टुकड़ों का वस्त्र न कल्पे। तथा जिस रेशमी कपड़े से भोजनादि करे, अरु मन में समझे कि, यह तो सदा पवित्र है, तो भी तिस से पूजा न करे। तथा जिस वस्त्र को पहिर के पूजा करे, उसको भी वारंवार पहिनने के अनुसार धोवावे, धूप देकर पवित्र करे। धोती थोड़े ही काल तक पहननी चाहिये, उस धोती से पसीना श्लेष्मादि न दूर करना चाहिये। क्योंकि उससे अपवित्रता हो जाती है। तथा पहिने हुए वस्त्रों के साथ पूजा के वस्त्र छुआने नहीं चाहियें। दूसरों की पहनी हुई धोती पहननी न चाहिये। तथा बाल, वृद्ध, स्त्री के पहनने में आई होवे, तो विशेष करके न पहननी चाहिये।

---

* भगव० श० ३ में यह पाठ है।

तथा भले स्थान से ज्ञातगुण मनुष्य के पासों पवित्र भाजन में आच्छादित करके रस्ते में लाने की

पूजासामग्री विधिसंयुक्त पानी अरु फूल, पूजा के वास्ते मंगावने चाहियें। अरु फूलादि लानेवाले को अच्छी तरें मोल देकर प्रसन्न करना चाहिये। इस प्रकार मुखकोश बांध के पवित्र स्थानादि में, जिस में कोई जीव पड़ा न होवे, ऐसा शोधा हुवा केसर कर्पूरादिक से मिश्र चन्दन को युक्ति से घिसे। शोधा हुआ सुन्दर धूप, प्रदीप, अखण्ड चावलादि; छूत रहित, प्रशंसा करने योग्य, ऐसा नैवेद्य फलादि सामग्री मेल के, इस प्रकार द्रव्य से शुचि कर के अरु भाव से शुचि तो राग, द्वेष, कषाय, ईर्ष्या रहित, तथा इस लोक परलोक के सुखों की इच्छा रहित हो कर अरु कुतूहल, चपलता आदि का त्याग करके एकाग्रचित्ततारूप भाव शुद्धि करे। कहा भी है—

मनोवाक्कायवस्त्रोर्वीपूजोपकरणस्थितेः ।
शुद्धिः सप्तविधा कार्या, श्रीअर्हत्पूजनक्षणे ॥

ऐसे द्रव्य भाव करके शुद्ध हो कर जिनघर—देहरे में दक्षिण तर्फ से पुरुष, अरु वाम दिशा से

जिनमन्दिर-प्रवेश स्त्री, यत्न पूर्वक प्रवेश करे। प्रवेश के अवसर और पूजाविधि में दक्षिण पग पहिले धरे। पीछे सुगंधवाले मीठे सरस द्रव्यों करके पराङ्मुख

वाम स्वर चलते हुए मौन से देवपूजा करे। तीन नैषेधिकी-करण, तीन प्रदक्षिणा, इत्यादि विधि से शुचि पाट के ऊपर पद्मासनादि सुखासन पर बैठ के, चन्दन के भाजन से चंदन ले कर दूसरी कटोरी में तथा हथेली में लेकर मस्तक में तिलक करके हस्तकंकण, श्रीचंदनचर्चित, धूपित हाथों करी जिन अर्हंत की पूजा करके अर्थात् १. अंगपूजा, २. अग्रपूजा, ३. भावपूजा आदि से पूजा करके प्रथम जो प्रत्याख्यान करा था, सो यथाशक्ति देव की साक्षी में उच्चारण करे, तब पीछे विधि से बडे पंचायती मन्दिर में जा कर पूजा करे। सो इस विधि से करेः—

यदि राजादि महर्द्धिक होवे, सो तो ऋद्धि, सर्वदीप्ति, सर्वयुक्ति, सर्वसैन्य, सब उद्यम से जिनमत की प्रभावना के वास्ते महा आडम्बर पूर्वक जिनमन्दिर में पूजा करने को जावे। जैसे दशार्णभद्र राजा श्रीमहावीर भगवंत को वंदना करने गया था, तैसे जावे।

अरु जो सामान्य ऋद्धिवाला होवे, सो अभिमान रहित लोकोपहास्य को त्याग के यथायोग्य आडंबर—भाई, मित्र, पुत्रादिकों से परिवृत हो कर जावे। ऐसे जिनमंदिर में जा कर—१. पुष्प, तंबोल, सरस, दुर्वादि त्यागे। २. छुरी, पावड़ी, मुकुट, हाथी प्रमुख सचित्ताचित्त वस्तु शरीर के भोग की त्यागे। ३. मुकुट वर्ज के शेष आभरणादि अचित्त वस्तु न त्यागे, अरु एक बडे वस्त्र का उत्तरासंग करे।

४. जिनेश्वर की मूर्त्ति जब दीखे तब अंजलि बांध के मस्तक पर चढा के ' नमो जिणाणं ' ऐसा कहे। ५. मन एकाग्र करे। इस रीति से पांच अभिगम सम्भाल के नैषेधिकीपूर्वक प्रवेश करे।

जेकर राजा जिनमंदिर में प्रवेश करे, तब तत्काल राज-चिन्हों को दूर करे। १. तलवार, २. छत्र, ३. सवारी, ४. मुकुट, ५. चामर, ये पांचों चिन्ह राजा के हैं, इनको त्यागे। अग्रद्वार में प्रवेश करते हुए घर के व्यापार का निषेध करने के वास्ते तीन नैषेधिकी करे, परन्तु तीनों निस्सही की एक नैषेधिकी गिनती में करनी, क्योंकि एक ही घर व्यापार का निषेध किया है। तब पीछे मूल बिंब को नमस्कार करके सर्व कृत्य, कल्याणवाञ्छक पुरुष ने दक्षिण के पासे करना। इस वास्ते मूलबिंब को दक्षिण के पासे करता हुआ ज्ञान, दर्शन अरु चारित्र, इन तीनों के आराधनार्थ तीन प्रदक्षिणा देवे। प्रदक्षिणा देता हुआ समवसरणस्थ चार रूप संयुक्त जिनेश्वरदेव को ध्यावे। गंभारे में पृष्ठ, वाम, और दहिने पासे जो बिंब होवें, तिन को वन्दे। इसी वास्ते सर्व मन्दिर में चारों तर्फ समवसरण के आकार में तीन तर्फ तीन बिंब स्थापे जाते हैं। ऐसे करने से जो अरिहंत के पीछे वसने में दोष था, सो दूर हो गया, पींठ किसी पासे भी न रही। तिस पीछे चैत्यप्रमार्जनादि जो आगे लिखेंगे, सो करे। पीछे सर्व प्रकार की पूजा सामग्री के

प्रति तथा देहरा समारने के काम के निषेध करने के वास्ते मुखमंडपादिक में दूसरी नैषेधिकी करे। पीछे मूलबिंब को तीन प्रणाम करके पूजा करे। भाष्यकार ने भी ऐसा कहा है कि, तीन निस्सही करके प्रवेश करी मण्डप में जिनेश्वर के आगे धरती पर हाथ गोडे स्थापन करके, विधि से तीन वार प्रणाम करे। तिस पीछे हर्ष से उल्लास युक्त हो करके मुखकोश बांध करके जिनप्रतिमा का निर्माल्य, फूल प्रमुख मोरपीछी से दूर करे। जिनमन्दिर का प्रमार्जन आप करे, अथवा औरों से करावे। पीछे जिनबिंब की पूजा विधि से करे। मुखकोश आठ पुड़ का करे, जिस से नासिका अरु मुख का निःश्वास निरोध होवे। बरसात में निर्माल्य में कुंथु आदि जीव भी होते हैं। इस वास्ते निर्माल्य अरु स्नान जल न्यारा न्यारा पवित्र स्थान में गेरे, गिरावे। ऐसे आशातना भी नहीं होती है। कलशजल से पूजा करता हुआ जैसी भावना मन में लावे, सो लिखते हैं।

हे स्वामिन्! बालपन में मेरुशिखर पर सुवर्ण कलशों से इन्द्र आदि देवताओं ने आप को स्नान कराया था, सो धन्य थे, जिनोंने तुमारा दर्शन करा था, इत्यादि चिंतवना करके पीछे सुयत्न से वालकूंची से जिनबिंब के अंग पर से चन्दनादि उतारे। पीछे जल से प्रक्षालन करके दो अंगलूहनों से जिनप्रतिमा को निर्मल करे। अनन्तर पग, जानु, कर, अंस और मस्तक में यथाक्रम से नव अंग में श्रीचन्द-

नादि चर्चे, पूजा करे। कोई आचार्य कहते हैं कि, पहिले मस्तक में तिलक करके पीछे नवांग पूजा करनी। श्रीजिन-प्रभसूरिकृत पूजाविधि ग्रन्थ में ऐसे लिखा है—सरस सुरभि चन्दन करी देव के दाहिने जानु, दाहिने स्कंध, निलाड, वाम स्कंध, वाम जानु, इस क्रम से पूजा करे, हृदय प्रमुख में पूजा करे, तव नवं अंग की पूजा होती है। अंगों में पूजा करके पीछे सरस पांच वर्ण के प्रत्यग्र फूलों कर-के चन्दन सुगन्ध वास करी पूजे। जेकर पहिले किसी ने बड़े मण्डाण से पूजा करी होवे, अरु अपने पास वैसी सामग्री पूजा की न होवे, तव पहिली पूजा उतारे नहीं। क्योंकि विशिष्ट पूजा देखने से भव्यों को जो पुण्यानुबन्धी पुण्य होता था, तिस की अन्तराय हो जाती है। किन्तु तिसी पूजा को शोभनीक करे, यह कथन बृहद्भाष्य में है।

तथा पूजा के ऊपर जो पूजा करनी है, सो निर्माल्य के लक्षण न होने से निर्माल्य नहीं। क्योंकि जो भोगविनष्ट द्रव्य है, सोई निर्माल्य गीतार्थों ने कहा है। आभूषण वारं-वार पहराये जाते हैं, परन्तु निर्माल्य नहीं होते हैं। नहीं तो कषाय वस्त्र करके एक सौ आठ जिनप्रतिमा के अंग क्योंकर लूहे ? इस वास्ते जिनबिंबारोपित जो वस्तु शोभा रहित, सुगंध रहित दीख पड़े, अरु भव्य जीवों को प्रमोद का हेतु न होवे, तिस ही को बहुश्रुत निर्माल्य कहते हैं। यह कथन संघाचारवृत्ति में है। चढ़े हुए चावलादि निर्माल्य

नहीं। कोई आचार्य निर्माल्य भी कहते हैं। तत्त्व तो केवली ही जाने कि वास्तव में क्योंकर हैं।

चन्दन फूलादि से ऐसे पूजा करनी, जिस से भगवान् के नेत्र मुखादि ढके न जावें, अरु बहुत शोभनीक दीखें, जिस में देखनेवालों को प्रमोद और पुण्यादिक की वृद्धि होवे।

तथा १. अंगपूजा, २. अग्रपूजा, ३. भावपूजा, यह तीन प्रकार की पूजा है। तिन में जो निर्माल्य दूर करना, प्रमार्जना करना, अंगप्रक्षालन करना, वालकूंची का व्यापार, पूजना, कुसुमांजलिमोचन, पञ्चामृतस्नात्र, शुद्धोदकधारा देनी, धूपित स्वच्छ मृदुगंध काषायकादि वस्त्र से अंगलूहन करना, कर्पूर कुंकुमादि मिश्र गोशीर्ष चन्दन विलेपन से आंगी रचनी, तथा गोरोचन, कस्तूरी से तिलक करना; पत्र, वेल, फूल प्रमुख की रचना करनी, बहुमोल रत्न, सुवर्ण, मोती, रूपे के, पुष्पादि के आभरण–अलंकार पहिराने। जैसे श्री वस्तुपाल ने अपने कराये हुये सवालक्ष बिंबों के तथा श्री शत्रुञ्जयतीर्थ में सर्व बिंबों के रत्न, सुवर्ण के आभरण कराये थे। तथा दमयंती ने पिछले भव में अष्टापद पर्वत पर चौवीस अर्हंतों के तिलक कराये थे। क्योंकि प्रतिमाजी की जितनी उत्कृष्ट सामग्री होवे, उतने ही अधिक भव्य जीवों के शुभ भावों की वृद्धि होती है। तथा पहरावणी, चन्द्रवादि, विचित्र

अंगपूजा

दुकूलादि वस्त्र पहिरावें। तथा १. ग्रंथिम, २. वेष्टिम, ३. पूरिम, ४. संघातिमरूप चतुर्विध प्रधान अम्लान विधि से लाया हुआ शतपत्र, सहस्रपत्र, जाई, केतकी, चंपकादि विशेष फूलों करी माला, मुकुट, सेहरा, फूलघरादिक की रचना करे। तथा जिनजी के हाथ में बिजोरा, नारियल, सोपारी, नागवल्ली, मोहर, रुपया, लड्डु प्रमुख रखना। अरु धूपक्षेप, सुगंध, वासप्रक्षेपादि, यह सर्व अंगपूजा की गिनती में है। महाभाष्य में भी कहा है—

ण्हवण विलेवण आहरण वत्थ फल गंध धूव पुप्फेहिं।
कीरइ जिणंगपूया तत्थ विही एस नायव्वो॥

वत्थेण बंधिऊणं नासं अहवा जहा समाहीए।
वज्जेयव्वं तु तया देहंमि वि कंडुअणमाई॥

अन्यत्रापि—

कायकंडुयणं वज्जे, तहा खेलविगिंचणं।
थुइथुत्तभणणं चेव, पूअंतो जगबंधुणो॥

देव पूजन के अवसर में मुख्यवृत्ति से तो मौन ही करना चाहिये। जेकर न कर सके तो भी पापहेतु वचन तो सर्वथा ही त्यागे। नैषेधिकी करने में गृहादि-व्यापार का निषेध होने से पाप की संज्ञा भी वर्जे। मूलबिंब की विस्तार सहित पूजा करे। पीछे अनुक्रम से अन्य सर्व बिंबों की पूजा करे।

द्वारबिंब और समवसरण बिंबों की पूजा भी मूल बिंब की पूजा करने के पीछे, गंभारा से निकलती वक्त करनी चाहिये। परन्तु प्रवेश करते समय तो मूलबिंब की ही पूजा करनी उचित मालूम होती है। संघाचार में ऐसे ही लिखा है। इस वास्ते मूलनायक की पूजा, सर्व बिंबों से पहिले और सविशेष करनी चाहिये। कहा भी है—

उचिअत्तं पूआए, विसेसकरणं तु मूलबिंबस्स।
जं पडइ तत्थ पढमं, जणस्स दिट्ठो सहमणेणं॥
[चेइ० महा०, गा० १२७]

शिष्य प्रश्न करता है कि, चंदनादि करके प्रथम एक मूलनायक को पूजिये अरु दूसरे बिंबों की पीछे पूजा करनी, यह तो स्वामी सेवक भाव ठहरा, सो तो लोकनाथ तीर्थंकर में है नहीं। क्योंकि एक बिंब की बहुत आदर से पूजा करनी, अरु दूसरे बिंबों की थोडी पूजा करनी, यह बड़ी भारी आशातना मुझ को मालूम पड़ती है।

गुरु उत्तर देते हैं। अर्हंत प्रतिमाओं में नायक सेवक की बुद्धि ज्ञानवंत पुरुष को नहीं होती है, क्योंकि सर्व प्रतिमाजी के एक सरीखा ही परिवार—प्रातिहार्य प्रमुख दीख पड़ता है। यह व्यवहार मात्र है कि, जो बिंब पहिले स्थापन किया गया है, सो मूलनायक है। इस व्यवहार से शेष प्रतिमाओं का नायक भाव दूर नहीं होता है।

एक प्रतिमा को वंदन करना, पूजा करनी, नैवेद्य चढ़ाना, यह उचित प्रवृत्तिवाले पुरुष को आशातना नहीं है। जैसे माटी की प्रतिमा की पूजा फूलादि रहित उचित है, अरु सुवर्णादिक की प्रतिमा को स्नान विलेपनादि उचित है, तथा कल्याणक प्रमुख का महोत्सव एक ही बिंब का विशेष करके किया जाता है, परन्तु वो महोत्सव दूसरी प्रतिमाओं की आशातना का कारण नहीं होता है। जैसे धर्मी पुरुष को पूजते हुए और लोगों की आशातना नहीं। इस प्रकार की उचित प्रवृत्ति करते हुए जैसे आशातना नहीं होती है, तैसे ही मूल बिंब की विशेष पूजा करते भी आशातना नहीं होती है। जिनमन्दिर में जिनबिंब की जो पूजा करते हैं, सो तीर्थंकरों के वास्ते नहीं करते हैं, किंतु अपने शुभ भावों की वृद्धि के निमित्त करते हैं। जिस निमित्त से आत्मा का उपादान समर जाता है, अरु दूसरों को बोध की प्राप्ति होती है। कोई जीव तो श्रीजिनमन्दिर को देख के प्रतिबोध को प्राप्त हो जाता है, अरु कोई जीव जिनप्रतिमा का प्रशांतरूप देख के प्रतिबोध को प्राप्त हो जाता है, कोई पूजा की महिमा देख के, अरु कोई गुरु के उपदेश से प्रतिबोध को प्राप्त हो जाता है, इस वास्ते चैत्य—जिनबिंब की रचना बहुत सुंदर बनानी चाहिये। अरु अपनी शक्ति के अनुसार मुख्य बिंब की विशेष अद्भुत शोभा करनी चाहिये।

तथा घर देहरासर तो अब भी पीतल, ताम्र, रूपामय

करावने को समर्थ है। यदि पीतलादिक का बनाने का सामर्थ्य न होवे, तदा दांत आदि मय पीतल सिंगरफ की रंगावे, कोरणी विशिष्ट काष्ठादिमय करावे। घर चैत्य तथा चैत्य समुच्चय में प्रतिदिन सर्व जगे प्रमार्जन, तैलादि से काष्ठ को चोपडे, जिस से घुण न लगे, तथा खडिया से धवल करे। श्रीतीर्थंकर के पंचकल्याणकादि का चित्राम करावे, समग्र पूजा के उपकरण समरावे। पड़दा, कनात, चन्द्रवा आदि देवे। ऐसे करे कि, जैसे जिनमंदिरादि की अधिक अधिक शोभा होवे। घर देहरे के ऊपर धोती प्रमुख न गेरे। घर देहरे की भी चौरासी आशातना टाले। पीतल पाषाणादिमय जो प्रतिमा होवे, तिन सर्व को एक अंगलूहने से सर्व बिंबो का पानी लूहे। पीछे निरन्तर दूसरे सुकोमल अंगलूहने से वारंवार सर्व अंगो पर फेर के पानी की गिलास बिलकुल रहने न देवे। ऐसे करने से प्रतिमा उज्ज्वल हो जाती है। जहां जहां प्रतिमा के अंगोपांग पर जल रह जावे, वहां तहां प्रतिमा के श्यामता हो जाती है। इस वास्ते पानी की स्निग्धता सर्वथा टाले। केसर बहुत अरु चन्दन थोड़ा ऐसा विलेपन करने से प्रतिमा अधिक अधिक उज्ज्वल हो जाती है।

तथा पंचतीर्थी, चौवीसी का पट्टादि में स्नात्र जल का प्रतिमाजी को परस्पर स्पर्श होने से आशातना होती है? ऐसी आशंका न करनी चाहिये, अशक्य परिहार होने से।

१. एक अर्हंत की प्रतिमा होवे, तिस का नाम व्यक्त है। २. एक ही पाषाणादिक में भरत ऐरवत क्षेत्र की चोवीसी बनवावे, तिन का नाम क्षेत्रप्रतिमा है। ३. ऐसे ही एक सौ सित्तेर प्रतिमा को माहात्म्य कहते हैं। ४. फूल की वृष्टि करनेवाला जो मालाधर देवता है, तिस का रूप पञ्चतीर्थी के ऊपर बनाते हैं। जिनप्रतिमा को न्हवण करते हुए पहिले मालाधर को पानी स्पर्श के पीछे जिनबिंब पर पड़ता है, सो दोष नहीं है। यह वृद्धों का आचरण है। इसी तरे चौवीसी गट्टे आदिक में भी जान लेना। ग्रन्थों में भी ऐसी ही रीति देखने में आती है। यहां भाष्यकार लिखते हैं—जिनराज की ऋद्धि देखने वास्ते कोई भक्तजन एक प्रतिमा बनवाता है। उसको प्रगट पने अष्ट प्रातिहार्य, देवागम से सुशोभित करता है। दूसरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना के वास्ते तीनतीर्थी प्रतिमा बनवाता है। कोई भक्त पञ्चपरमेष्ठी के आराधनार्थ उद्यापन में पञ्चतीर्थी प्रतिमा भराता है। कोई चौवीस तीर्थङ्करों के कल्याणक तप उजमने के वास्ते भरतक्षेत्र में जो ऋषभादि चौवीस तीर्थङ्कर हुए है, तिनके बहुमान वास्ते चौवीसी बनवाता है। कोई भक्ति करके मनुष्य लोक में उत्कृष्ट, एक काल में एक सौ सत्तर तीर्थङ्कर विहरमान की एक एक सौ सत्तर प्रतिमा बनवाता है। तिस वास्ते तीनतीर्थी, पांचतीर्थी, चौवीसी आदिक का बनाना युक्तियुक्त है, यह पूर्वोक्त सर्व

अंगपूजा है।

अथ अग्रपूजा लिखते हैं। रूपे के, सुवर्ण के चावल, धवल सरसव प्रमुख अक्षरों करके अष्टमंगल का आलेखन करे। जैसे श्रेणिक राजा रोज की रोज एक सौ आठ सोने के यवों से त्रिकाल में भगवान् की प्रतिमा के आगे साथिया करता था। अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना के वास्ते क्रम से पट्टादिक में चावलों के तीन पूंज करने, तथा एक भात प्रमुख अशन, दूसरा शक्कर गुड़ादि पान, तीसरा पक्वान्न फलादि खादिम, चौथा तंबोलादि स्वादिम, इनका चढ़ाना, तथा गोशीर्ष चन्दन के रस करी पंचांगुली तेल से मंडील आलेखनादि पुष्पप्रकार आरति प्रमुख करनी, यह सर्व अग्रपूजा की गिनती में है। यद्भाष्यम्—

अग्रपूजा

गंधव्वनट्टवाइय लवणजलारत्तिआइ दीवाई।
जं किच्चं तं सव्वंपि ओअरई अग्गपूआए॥

नैवेद्य पूजा तो दिन दिन प्रति करनी सुखाली है, अरु इसमें फल भी मोटा है। कोरा अन्न सावत तथा रांधा हुआ चढावे। लौकिक शास्त्रों में भी लिखा है—

धूपो दहति पापानि, दीपो मृत्युविनाशकः।
नैवेद्यं विपुलं राज्यं, सिद्धिदात्री प्रदक्षिणा॥

नैवेद्य का चढ़ाना, आरति करनी आदि आगम में भी लिखा है। "कीरइ वलि" ऐसा पाठ आवश्यक निर्युक्ति में है। तथा निशीथचूर्णी में भी वलि चढ़ानी लिखी है। तथा कल्पभाष्य में भी लिखा है कि, जो जिनप्रतिमा के आगे चढ़ाने के वास्ते नैवेद्य करा है, सो साधु को न कल्पे। तथा प्रतिष्ठाप्राभृत से रची हुई श्रीपादलिप्त आचार्यकृत प्रतिष्ठा-पद्धति में भी लिखा है कि, आरति उतारनी; मङ्गलदीवा करके पीछे चार स्त्री मिल कर गीतगान विधि से करें। तथा च महानिशीथे तृतीये अध्ययने—

अरिहंताणं भगवंताणं गंधमल्लपईवसंमज्जणोवलेवण-विचित्तवलिवत्थधूवाइएहिं पूआसक्कारेहिं पइदिणमब्भच्च-णंपि कुव्वाणा तित्थुच्छप्पणं करेमो त्ति।

भावपूजा

भावपूजा जो है, सो द्रव्यपूजा का व्यापार है, तिस के निषेधने वास्ते तीसरी निस्सही तीन वार करे। श्रीजिनेश्वरजी के दक्षिण के पासे पुरुष अरु वामी दिशा में स्त्री रह कर, आशातना टालने के वास्ते मन्दिर में भूमि के संभव हुये, जघन्य नव हाथ प्रमाण, अरु घर देहरे में जघन्य एक हाथ प्रमाण अरु उत्कृष्ट से तो साठ हाथ प्रमाण अवग्रह है। तिससे वाहिर वैठ के चैत्यवंदना, विशिष्ट काव्यों करके करे। श्री निशिथ में तथा वसुदेवहिंडि में तथा अन्य शास्त्रों में श्रावकों

ने भी कायोत्सर्ग थुइ, आदि करी चैत्यवंदना करी है, ऐसा उल्लेख है। चैत्यवंदना तीन तरह की भाष्य में कही है, सो कहते हैं। एक तो जघन्य चैत्यवंदना, सो अंजलि बांध कर शिर नमा कर प्रणाम करना, यथा 'नमो अरिहंताणं' इति। अथवा एक श्लोकादि पढ़ के नमस्कार करना, अथवा एक शक्रस्तव पढे, तो जघन्य चैत्यवंदना होवे। दूसरी मध्यम चैत्यवंदना, सो चैत्यस्तवदंडक युगल 'अरिहंतचेइयाणं' इत्यादि कायोत्सर्ग के पीछे एक स्तुति कहनी, यह मध्यम चैत्यवंदन है। अरु तीसरा उत्कृष्ट चैत्यवंदन, सो पञ्चदंड १. शक्रस्तव, २. चैत्यस्तव, ३. नामस्तव, ४. श्रुतस्तव, ५. सिद्धस्तव, प्रणिधान, जयवीयराय, इत्यादि यह सर्व उत्कृष्ट चैत्यवंदना है। तथा कोई आचार्य का ऐसा मत है कि, एक शक्रस्तव करी जघन्य चैत्यवंदना होती है, दो तीन शक्रस्तव करी मध्यम चैत्यवंदना होती है, तथा चार अथवा पांच शक्रस्तव करी उत्कृष्ट चैत्यवंदना होती है। इसकी विधि चैत्यवंदन भाष्य से जान लेनी।

अब यह चैत्यवंदना नित्य प्रति सात वार करनी, महानिशीथ में साधु को कही है, तथा श्रावक को भी उत्कृष्ट सात वार करनी कही है। यथा—एक प्रतिक्रमण में, दूसरी मंदिर में, तीसरी आहार करने से पहिले करनी, चौथी दिवसचरिम करते, पांचमी देवसी पडिक्कमणे में, छट्ठी सोती वक्त, और सातमी सोकर उठे उस वक्त, यह

सात वार चैत्यवंदन साधु को करनी कही है। तथा जो श्रावक आठों पहर में प्रतिक्रमण करता होवे, वो तो निश्चय से सात वार चैत्यवंदन करे, दो प्रतिक्रमण में दो चैत्यवंदन करे, तीसरी सोते वक्त, चौथी उठते वक्त, तथा तीन काल पूजा करने के पीछे तीन वार, एवं सात वार श्रावक चैत्य-वंदन करे। तथा जो श्रावक एक ही वार पडिक्कमणा करे, सो छ वार चैत्यवंदन करे। तथा जो पडिक्कमणा न करे, सो पांच वार चैत्यवंदन करे। तथा जो सोते वा उठते समय भी चैत्यवंदन न करे सो, तीन वार करे। जेकर नगर में वहुत जिनमंदिर होवें, तदा सात से अधिक भी करे। तथा जेकर त्रिकाल पूजा न कर सके, तो त्रिकाल देववंदना करे। क्योंकि महानिशीथ में लिखा है कि, जिसको गुरु प्रथम जैनमत की श्रद्धा करावे, उसको प्रथम ऐसा नियम करावे कि, सवेरे के वक्त जिनप्रतिमा का दर्शन करे विना पानी भी नहीं पीना, तथा मध्यान्ह काल में जहां तक देव-जिनप्रतिमा अरु साधुओं को वंदना न करे, तहां तक भोजनक्रिया न करे। तथा सन्ध्या के समय चैत्यवंदन करे विना शय्या पर पग न देवे।

तथा गीत, नृत्य, जो अग्रपूजा में कहे हैं, सो भावपूजा में भी वन सकते हैं। सो गीत, नृत्य, मुख्यवृत्ति करके तो श्रावक आप करे, जैसे निशीथचूर्णी में उदयनराजा की रानी प्रभावती का कथन है। तथा पूजा करने के अवसर में

श्रीअर्हंत की तीन अवस्था की कल्पना करे। उसमें स्नान करती वक्त छद्मस्थ अवस्था की कल्पना करे। तथा आठ प्रातिहार्य की शोभा करते हुए केवली अवस्था की कल्पना करे तथा पर्यंकासन कायोत्सर्गासन देखके सिद्धावस्था की कल्पना करे, इस में छद्मस्था अवस्था तीन तरह की कल्पे। एक जन्मावस्था, दूसरी राज्यावस्था, तीसरी साधुपने की अवस्था। तहां स्नान के वक्त जन्म अवस्था कल्पे, तथा माला, फूल, आभरण पहिराने के वक्त राज्यावस्था कल्पे, तथा दाढी, मूंछ, शिर के वालों के न होने से साधु अवस्था को विचारें, इनमें साधु, केवली, मोक्ष अवस्था को वंदना करे।

तहां पूजा पंचोपचार सहित, अष्टोपचार सहित, अरु धनवान् होवे, तो सर्वोपचार से पूजा करे।

विविध पूजा

तहां फूल, अक्षत, गंध, धूप अरु दीप से पूजा करे, सो पंचोपचार पूजा जाननी। तथा फूल, अक्षत, गंध, दीप, धूप, नैवेद्य, फल अरु जल, यह अष्टोपचार पूजा है। सो अष्टविध कर्म को मथनेवाली है। तथा स्नात्र, विलेपन, वस्त्र, आभूषणादिक, फल, दीप, गीत, नाटक, आरति आदिक करे, सो सर्वोपचार पूजा है। इति बृहद्भाष्ये।

तथा पूजा के तीन भेद हैं। एक आप ही काया से पूजा की सामग्री लावे, दूसरी वचनों करके दूसरों से मंगवावें, तीसरी मन करके भला फूल, फल प्रमुख करी पूजा करे। ऐसे काया, वचन अरु मन, इन तीनों योगों से करे,

करावे अरु अनुमोदे। यह तीन तरें से पूजा है।

तथा एक फल, दूसरा नैवेद्य, तीसरी थुई अरु चौथी प्रतिपत्ति, सो वीतराग की आज्ञा पालनरूप। यह चार प्रकार से यथाशक्ति पूजा करे। ललितविस्तरादिक ग्रंथों में "पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यमित्युक्तम्" अर्थात् फूल, नैवेद्य, स्तोत्र अरु आज्ञा आराधनीय, ये उत्तरोत्तर प्रधान हैं; ऐसा कहा है। यह आगमोक्त पूजा के चार भेद हैं।

तथा पूजा दो प्रकार की है। एक द्रव्य पूजा, दूसरी भाव पूजा। जो फूलादिक से जिनराज की पूजा करनी सो द्रव्य पूजा है। दूसरी श्रीजिनेश्वर की आज्ञा पालनी, सो भावपूजा है। तथा पुष्पारोहण, गंधारोहण इत्यादि सतरह भेद से तथा स्नात्रविलेपनादि इक्कीस भेद से पूजा है। परन्तु अंगपूजा, अग्रपूजा अरु भावपूजा, इन तीनों पूजाओं में सर्व पूजाओं का अंतर्भाव है। तिन में पूजा के सतरह भेद लिखते हैं:—

१. स्नात्र करना, जिनप्रतिमा को विलेपन करना, २. चक्षु जोड़ा, वास सुगंध चढ़ाना, ३. फूल चढ़ाने, ४. फूल की माला चढ़ानी, ५. पंच रंगे फूल चढ़ाने, ६. भीमसेनी बरास प्रमुख का चूर्ण चढ़ाना. ७. आभरण चढ़ाने, ८. फूलों का घर करना, ९. फूलपगर–सो फूलों का ढेर करना, १०. आरति, मंगल दीवा, ११. दीपकपूजा, १२. धूपोपक्षेप, १३. नैवेद्य,

१४. शुभ फल का ढौकन, १५. गीतपूजा, १६. नाटक करना, १७. वाजंत्र। यह सतरह भेदों करी पूजा है। अथ पूजा के इक्कीस भेद लिखते हैं।

पूजा सम्बन्धी नियम

तहां प्रथम पूजा करने की विधि लिखते हैं:—१. पूजा करनेवाला पूर्व दिशा की तरफ मुख करके स्नान करे। २. पश्चिम दिशा को मुख करके दातन करे। ३. उत्तर दिशा के सन्मुख श्वेत वस्त्र पहिरे। ४. पूर्वोत्तर मुख करके पूजा करे। ५. घर में प्रवेश करते वामे पासे शल्य रहित भूमि में देहरासर करावे। ६. डेढ़ हाथ भूमिका से ऊंचा देहरासर करावे। जेकर देहरासर नीची भूमिका में करावे, तब तिस का संतान दिन दिन नीचा होता जावेगा। ७. दक्षिण दिशा तथा विदिशा के सामने मुख न करे। ८. घर देहरे में पश्चिम की तरफ मुख करके पूजा करे, तो चौथी पेढी में सन्तानोच्छेद होवे। ९. दक्षिण दिशा की तर्फ मुख करे, तो संतानहीन होवे। १०. अग्निकोण में करे, तो धनहानि होवे। ११. वायु कोण में करे, तो संतान न होवे। १२. नैऋत्यकोण में करे तो कुलक्षय होवे। १३. ईशानकोण में करे, तो एक जगे रहना न होवे। १४. दोनों पग, दोनों जानु, दोनों हाथ, दोनों स्कंध, मस्तक, ये नव अंग में क्रम से पूजा करे। १५. चंदन विना पूजा नहीं होती है। १६. मस्तक में, कण्ठ में, हृदय में, पेट में,

तिलक करे। १७. नव अंग में नव तिलक करके निरंतर पूजा करे। १८. सवेरे पहिले वास पूजा करे। १९. मध्याह्न में फूलों से पूजे। २०. संध्या को धूप, दीप करके पूजा करे। २१. जो फूल हाथ से धरती में गिर पडे, तथा पगों को लग जावे, तथा जो मस्तक से ऊंचा चला जावे, तथा जो मैले वस्त्र में रक्खा होवे, तथा जो नाभि से नीचे रक्खा होवे, तथा जो दुष्ट जनों ने स्पर्शा होवे, जो बहुत ठिकानों—स्थानों में हत होवे, जो जीवों ने खाया होवे, ऐसे फूल, फल, भक्त जनों ने जिनपूजा में नहीं रखना। २२. एक फूल के दो टुकडे न करे। २३. कली को छेदे नहीं। चंपक, उत्पल, फूल के भांगने बड़ा दोष है। २४. गंध, धूप, अक्षत, फूलमाला, दीपक, नैवेद्य, पानी, प्रधान फल, इनों करके जिनराज की पूजा करे। २५. शांति कार्य में श्वेत वस्त्र पहिर के पूजा करे। २६. द्रव्यलाभ के वास्ते पीत वस्त्र पहिर के पूजा करे। २७. शत्रु को जीतने के वास्ते काले वस्त्र पहिर के पूजा करे। २८. मांगलिक कार्य के वास्ते लाल वस्त्र पहिर के पूजा करे। २९. मुक्ति के वास्ते पांच वर्ण के वस्त्र पहिर के पूजा करे। ३०. शांति कार्य के वास्ते पञ्चामृत का होम, दीवा, घी, गुड़, लवण का अग्नि में प्रक्षेप, शांति पुष्टि के वास्ते जानना। ३१. फटा हुआ, जोड़ा हुआ, छिद्रवाला, काटा हुआ, जिस का भयानक रक्त वर्ण होवे, ऐसे वस्त्र पहिर के दान, पूजा, तप, होम अरु सामायिक प्रमुख करे, तो

निष्फल होवे । २२. पद्मासन बैठ के, नासाग्र लोचन स्थापन करके मौन धारी हो कर वस्त्र से मुखकोश करके जिनराज की पूजा करे ।

अथ इक्कीस प्रकार की पूजा का नाम लिखते हैं—१. स्नात्रपूजा, २. विलेपनपूजा, ३. आभरणपूजा, ४. फूल, ५. वासपूजा, ६. धूप, ७. प्रदीप, ८. फल, ९. अक्षत, १०. नागरवेल के पान, ११. सोपारी, १२. नैवेद्य, १३. जलपूजा, १४. वस्त्रपूजा, १५. चामर, १६. छत्र, १७. वाजित्र, १८. गीत, १९. नाटक, २० स्तुति, २१. भंडारवृद्धि । यह इक्कीस प्रकार की पूजा है । जो वस्तु बहुत अच्छी होवे, सो जिनराज की पूजा में चढानी चाहिये । यह पूजा प्रकार, श्री उमास्वाति वाचककृत पूजाप्रकरण में प्रसिद्ध है ।

तथा ईशानकोण में देवघर बनाना यह बात विवेकविलास में है । तथा विषमासन बैठ के, पग ऊपर पग धरके, उकड़ु आसन बैठ के, वाम पग ऊंचा करके तथा वाम हाथ से पूजा न करे । सूखे हुए फूलों से पूजा न करे, तथा जो फूल धरती में गिरे होवें, तथा जिनकी पांखडी सड़ गई होवे, नीच लोगों का जिन को स्पर्श हुआ होवे, जो शुभ न होवें, जो विकसे हुए न होवें, जो कीड़े ने खाये हुए, सड़े हुए, रात को वासी रहे, मकड़ी के जालेवाले, जो देखने में अच्छे न लगें, दुर्गन्धवाले, सुगंध रहित, खट्टी गन्धवाले, मलमूत्र की जगा में उत्पन्न हुए होवें, अपवित्र करे हुए; ऐसे

फूलों से जिनेश्वर देव की पूजा नहीं करनी। तथा विस्तार सहित पूजा के अवसर में, तथा नित्य, अरु विशेष करके पर्वदिन में, सात तथा पांच कुसुमाञ्जलि चढावे। पीछे भगवान् की पूजा करे। तहां यह विधि करे।

स्नात्रविधि

प्रभात समय पहिले निर्माल्य उतारे। पीछे प्रक्षाल करे, संक्षेप से पूजा करे, आरति मङ्गल दीवा करे। पीछे स्नात्रादि विस्तार सहित दूसरी वार पूजा का प्रारम्भ करे। तब देव के आगे केसर जल संयुक्त कलश स्थापन करे। पीछे यह आर्या कह कर अलंकार उतारेः—

मुक्तालङ्कारविकारसारसौम्यत्वकांतिकमनीयम्।
सहजनिजरूपनिर्जितजगत्त्रयं पातु जिनबिंबम्॥

पीछे यह कह कर निर्माल्य उतारेः—

अवणिअ कुसुमाहरणं, पयइपइट्ठियमनोहरच्छायं।
जिणरूवं मज्जणपीठसंठियं वो सिवं दिसउ।

पीछे प्रागुक्त कलश ढालन और पूजा करे, कलश धो कर, धूप दे कर, उनमें स्नात्र योग्य सुगंध जल का प्रक्षेप करे। पीछे श्रेणीबन्ध स्थापन करे हुए वे कलश सुन्दर वस्त्र से ढक देने। साधारण केसर, चंदन, धूप करके हाथ पवित्र करे। मस्तक में तिलक, हाथ में चंदन का कंकण करे,

हाथ धूपन करके श्रेणीवन्ध स्नात्री श्रावक कुसुमाञ्जलि का पाठ पढ़े। यथा—

सयवत्तकुंदमालइ, वहुविहकुसुमाइं पञ्चवन्नाइं।
जिणनाहन्हवणकाले, दिंति सुरा कुसुमाञ्जली हिट्ठा॥

यह कह कर देव के मस्तक पर पुष्पारोपण करे।

गंधायढ्ढिअमहुयरमणहरझंकारसद्दसंगीआ।
जिणचलणोवरि मुक्का, हरउ तुम्ह कुसुमाञ्जली दुरियं॥

इत्यादि पाठ करके जिनचरणों पर एक श्रावक कुसुमाञ्जलि चढावे। सर्व कुसुमाञ्जलि के पाठों में तिलक करना, फूल, पत्र, धूपादि सर्व एकत्र करी चढाना। पीछे उदार मधुर स्वर करके जिस जिनेश्वर का नाम स्थापन करा होवे, तिस ही जिनेश्वर का जन्माभिषेक कलश का पाठ कहना। पीछे घी, इक्षुरस, दूध, दहीं, सुगन्ध जलरूप पञ्चामृत करी, स्नात्र करावे। स्नात्र के वीच में धूप देवे। स्नात्रकाल में भी जिनराज का शरीर फूलों करके शून्य न करना। वादिवेताल श्रीशांतिसूरि कहते हैं कि, जहां तक स्नात्र की समाप्ति न होवे, तहां तक भगवान् का मस्तक शून्य न रखना, निरन्तर पानी की धारा अरु उत्तम फूलों की वृष्टि भगवान् के मस्तक पर करे, तथा स्नात्र करती वक्त चामर, संगीत, तूर्याद्याडम्बर सर्व शक्ति से करे।

सर्व श्रावक, जब स्नात्र कर चुकें, पीछे निर्मल जल की धारा देनी। तिसका पाठ यह है—

अभिषेकतोयधारा, धारेव ध्यानमंडलाग्रस्य।
भवभवनभित्तिभागान्, भूयोऽपि भिनक्तु भागवती॥

पीछे अंग लूहे। विलेपनादि पूजा, पहली पूजा से अधिक करनी। सर्व प्रकार का धान्य, पकान्न, शाक, विकृति, फलादि, करके नैवेद्य ढोवे। ज्ञानादि तीनों सहित तीन लोक के स्वामी भगवान् के आगे भक्त जन श्रावक तीन पुंज करके पीछे स्नात्रपूजा करे। पहिले वड़ा श्रावक तीन पुंज करे, पीछे छोटा श्रावक करे, पीछे श्राविका करे। क्योंकि जिन-जन्ममहोत्सव में भी पहिला अच्युतेंद्र अपने देवता संयुक्त स्नात्र करता है, पीछे यथाक्रम से दूसरे इन्द्र स्नात्र करते हैं। स्नात्रजल को लेकर श्रावक अपने मस्तक में प्रक्षेप करे, तो दोष नहीं। यदुक्तं श्रीहेमचन्द्राचार्यैः श्रीवीरचरित्रे—

अभिषेकजलं तत्तु, सुरासुरनरोरगाः।
ववंदिरे मुहुर्मुहुः, सर्वांगं परिचिक्षिपुः॥

तथा श्रीपद्मचरित्र के उनतीसवें उद्देशे में लिखा है कि— राजा दशरथ ने अपनी रानियों को स्नात्र जल भेजा है। तथा बृहद्शांतिस्तोत्र में "शांतिपानीयं मस्तके दातव्यमि"त्यु-

क्रम् । तथा सुनते हैं कि, जरासंध ने जब जरा विद्या छोड़ी, तब तिस करके पीड़ित निज सेना को देख के श्रीनेमिनाथ के कहने से श्रीकृष्ण ने धरणेन्द्र को आराधा । धरणेन्द्र ने पाताल में रही श्रीपार्श्व प्रतिमा शंखेश्वर पुर में ला करके तिस के स्नात्र का जल छिड़कने से सेना सचेत करी । तथा श्रीजिनदेशना के पीछे राजा प्रमुख जो चावलों की बली उछालते हैं, तिस में से आधे चावल धरती में पड़ने से पहेले देवता ले लेते हैं, तिसका अर्ध उछालनेवाला लेता है, अरु बाकी का चावल सर्व लोक लूट लेते हैं । उस में से एक दाना भी जेकर मस्तक में रक्खे, तो सर्व रोग उपशांत हो जाते हैं । अरु छ महीने आगे को रोग न होवे; यह कथन आवश्यक शास्त्र में है । पीछे सद्गुरु की प्रतिष्ठी हुई बहुत सुन्दर वस्त्र की मोटी ध्वजा, बड़े उत्सवपूर्वक तीन प्रदक्षिणा करके विधि से देवे । सर्व संघ यथाशक्ति परिधापन का नैवेद्य प्रमुख चढ़ावे ।

आरति

अब जो आरति, मंगलदीवा श्रीअरिहंतजी के सन्मुख करना, सो लिखते हैं । मंगलदीवे के पास अग्नि का पात्र स्थापन करना । तिस में लवण जल गेरना । पीछे—

उवणेउ मंगलं वो, जिणाण मुहलालिजालसंवलिआ ।
तित्थपवत्तणसमए, तियसविमुक्का कुसुमवुट्ठी ॥

यह पढ़ कर प्रथम कुसुमवृष्टि करे। अनन्तर—

उअह पडिभग्गपसरं, पयाहिणं मुणिवइं करेऊणं।
पडइ स लोणत्तेण, लज्जिअं व लोणं हुअवहंमि॥

इत्यादि पाठ से विधिपूर्वक जिनराज के तीन वार फूल सहित लवण जल उत्तरणादि करना। तिस पीछे अनुक्रम से पूजा करके आरात्रिक धूपोपक्षेप सहित दोनों पासे कलश के पानी की धारा देते हुए श्रावक फूलों को बखेरे। और—

मरगयमणिघडियविसालथालमाणिक्कमंडिअपईवं।
ण्हवणयरकरुक्खित्तं, भमउ जिणारत्तिअं तुम्ह॥

इत्यादि पाठपूर्वक प्रधान भाजन में रख के उत्सव सहित तीन वार उतारे। यह कहना त्रेसठ शलाका पुरुष चरित्रादिक में है। मंगल दीपक को भी आरति की तरें पूजे, और यह पाठ पढे—

भामिज्जंतो सुरसुंदरीहिं तुह नाह! मंगलपईवो।
कणयायलस्स नज्जइ, भाणुव्व पयाहिणं दिंतो॥

इस पाठ पूर्वक मंगलदीवा उतार के दीप्यमान जिनचरणों के आगे रख देना। आरति को बुझा देने में दोष नहीं। आरति अरु मंगलदीवा मुख्यवृत्ति से घृत, गुड़,

कर्पूरादिक से करे, विशेष फल होने से। यहां मुक्तालंकार इत्यादि जो गाथा है, सो श्री हरिभद्रसूरिजी की करी हुई मालूम होती है। क्योंकि श्री हरिभद्रसूरिकृत समरादित्य चरित्र नामक ग्रंथ की आदि में " उवणेउ मंगलं वो " इस प्रकार नमस्कार किया देखने में आता है। तथा यह गाथा तपगच्छ में प्रसिद्ध है, इस वास्ते सर्व गाथा इहां नहीं लिखी।

स्नात्रादिक में सामाचारी विशेष से विविध प्रकार की विधि के देखने से व्यामोह नहीं करना, क्योंकि सर्व आचार्यों को अर्हद्भक्तिरूप फल की सिद्धि के वास्ते ही प्रवृत्त होने से, गणधरादि सामाचारियों में भी बहुत भेद होता है। तिस वास्ते जो धर्म से विरुद्ध न होवे, अरु अर्हंत भक्ति का पोषक होवे, वो कार्य किसी को भी असम्मत नहीं। ऐसे ही सर्व धर्मकार्य में जान लेना। यहां लवण, आरति प्रमुख का उतारना संप्रदाय से सर्व गच्छों में अरु परदर्शनों में भी करते हुवे दीखते हैं। तथा श्रीजिनप्रभसूरिकृत पूजाविधि शास्त्र में तो ऐसे लिखा है—

लवणाइउत्तारणं, पालित्तयसूरिमाइपुव्वपुरिसेहिं।
संहारेण अणुन्नायंपि, संपयं सिट्ठिए कारिज्जइ॥

अर्थः—लवणादि उतारना श्रीपादलिप्तसूरि प्रमुख पूर्व पुरुषों ने एक वार करने की आज्ञा दीनी है। हम इस

काल में उनके अनुसार कराते हैं। स्नात्र के करने में सर्व प्रकार विस्तार सहित पूजा प्रभावनादिक के करने से परलोक में उत्कृष्ट मोक्षप्राप्ति रूप फल होता है। जैसे चौसठ इन्द्रों ने जिन-जन्मस्नात्र करा है, तिस ही के अनुसार मनुष्य करते हैं। इस वास्ते इस लोक में पुण्य निर्जरा अरु परलोक में मोक्ष फल होता है। यह कथन राजप्रश्नीय उपांग में है।

प्रतिमा भी अनेक प्रकार की है। तिनकी पूजा की विधि सम्यक्त्व-प्रकरण में ऐसे कही है—

गुरुकारिआइ केइ, अन्ने सयकारिआइ तं बिंति।
विहिकारिआइ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं॥

व्याख्या—गुरु कहिये माता, पिता, दादा, पड़दादा प्रमुख तिनकी कराइ हुई प्रतिमा पूजनी चाहिये; कोई ऐसे कहते हैं। तथा कोई कहते हैं कि, अपनी कराई-प्रतिष्ठी हुई पूजनी चाहिये। कोई कहते हैं कि, विधि से कराई-प्रतिष्ठी प्रतिमा पूजनी चाहिये। इनमें यथार्थ पक्ष तो यह है कि, ममत्वरहित सर्व प्रतिमा को विशेष—भेद रहित पूजना चाहिये। क्योंकि सर्व जगे तीर्थंकर का आकार देखने से तीर्थंकर बुद्धि उत्पन्न होती है। जेकर ऐसे न मानें, तब तो जिनबिंब की अवज्ञा से उसको दुरन्त संसार में भ्रमणरूप निश्चय यही दण्ड होवेगा।

ऐसा भी कुविकल्प न करना कि, जो अविधि से जिन-

मन्दिर, जिनप्रतिमा बनी है, उसके पूजने से अविधि मार्ग की अनुमोदना से भगवन्त की आज्ञा का भंगरूप दूषण लगता है। इस प्रकार का कुविकल्प करना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें आगम-प्रमाण है। तथाहि श्रीकल्पभाष्ये—

निस्सकडमनिस्सकडे अ चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।
वेलंवचइआणिअ, नाउं इक्किकिया वावि॥

व्याख्याः—एक निश्राकृत जो कि गच्छ के प्रतिबन्ध से बना हो, जैसे कि यह हमारे गच्छ का मन्दिर है। दूसरा अनिश्राकृत, सो जिस पर किसी गच्छ का प्रतिबन्ध नहीं है। इन सर्व जिनमन्दिरों में तीन थुइ पढनी। जेकर सर्व मन्दिरों में तीन तीन थुइ देता बहुत काल लगता जाने, तथा जिनमन्दिर बहुतः होवें, तदा एक एक जिनमन्दिर में एक एक थुइ पढे। इस वास्ते सर्व जिनमन्दिरों में विशेष भक्ति करे।

जिनमन्दिर में मकड़ी का जाला लग जावे, तो तिसके उतारनें कीं विधि कहते हैं। जिनकें सुपुर्द जिनमन्दिर होवें, तिनको साधु इस प्रकार निर्भर्त्सना—प्रेरणा करे, तुम लोग जिनमन्दिर की नौकरी खातें हो, तो सारसम्भाल क्यों नहीं करतें हो? मकड़ीं का जाला भी तुम नहीं उतारते हो। तथा जिनकी कोई सारसम्भाल न करे, तिन कों असंविग्न—देवकुलिक कहते हैं। तिन मन्दिरों में जो

मकड़ी का जाला होवे, तिसके दूर करने के वास्ते सेवकों को प्रेरणा करे कि, तुम जिनमन्दिर को मंखफलक की तरे चमक दमकवाला रक्खो। जेकर वे सेवक लोग न मानें, तब निर्भर्त्सना करे, और पीछे साधु जयणा से आप दूर करे। तात्पर्य कि, जिनमन्दिर और ज्ञानभण्डारादि की सर्वथा साधु भी उपेक्षा न करे।

यह पूर्वोक्त चैत्यगमन, पूजा, स्नात्रादि विधि जो कही है, सो सब धनवान् श्रावक की अपेक्षा कही है। अरु जो श्रावक धनवान् न होवे, वो अपने घर में सामायिक करके किसी के साथ लेनेदेने का झगड़ा न होवे, तो उपयोग संयुक्त साधु की तरे ईर्या को शोधता हुआ तीन नैषेधिकी करी भाव पूजानुयायी विधि से जावे। पूजादि सामग्री के अभाव से द्रव्यपूजा करने में असमर्थ है, इस वास्ते सामायिक पार के काया से जो कुछ फूल गुंथनादिक कृत्य होवे सो करे।

प्रश्नः—सामायिक त्याग के द्रव्यपूजा करनी उचित नहीं?

उत्तरः—सामायिक तो तिसके स्वाधीन है, चाहे जिस वक्त कर लेवे। परन्तु पूजा का योग उसको मिलना दुर्लभ है। क्योंकि पूजा का मंडाण तो संघ समुदाय के अधीन है, और वह कभी २ होता है। इस वास्ते पूजा में विशेष पुण्य है। यदागमः—

जीवाण बोहिलाभो, सम्मदिट्ठीण होइ पिअकरणं ।
आणा जिणिंदभत्ती, तित्थस्स पभावणा चेव ॥

इस वास्ते इसमें अनेक गुण हैं, ताते चैत्यकार्य करे। यह कथन दिनकृत्य सूत्र में है—दश त्रिक, पांच अभिगम, इत्यादि विधि प्रधान ही सर्व देवपूजा वंदनकादि धर्मानुष्ठान का महाफल होता है; अन्यथा अल्प फल है। तथा अविधि से करने पर उपद्रव भी हो जाता है। उक्तं च—

धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यवायो महान् भवेत् ।
रौद्रदुःखौघजननो, दुष्प्रयुक्तादिवौषधात् ॥

तथा अविधि से चैत्यवंदनादि करनेवाले के वास्ते आगम में प्रायश्चित्त कहा है। महानिशीथ के सातमे अध्ययन में अविधि से चैत्यवन्दना करे, तो प्रायश्चित्त कहा है। देवता, विद्या, मन्त्र भी विधि से ही सिद्ध होते हैं।

यदि कोई कहे कि, विधि न होवे, तब न करना ही श्रेष्ठ है ? यह कहना सर्वथा अयुक्त है। यदुक्तम्—

अविहिकया वरमकयं, असूयवयणं भणंति समयन्नू ।
पायच्छित्तं अकए, गुरुअं वितहं कए लहुअं ॥

अर्थः—अविधि करने से न करना अच्छा है, ऐसे जो कहता है, सो असूया वचन हैं। यह कहनेवाला जैन

सिद्धांत को जानता नहीं। क्योंकि जैनशास्त्र के ज्ञाता तो ऐसे कहते हैं कि, जो न करे, उसको गुरु प्रायश्चित्त आता है, अरु जो अविधि से करे, उसको लघु प्रायश्चित्त आता है। इस वास्ते धर्म ज़रूर करना चाहिये। अरु विधिमार्ग की अन्वेषणा करनी। यह तत्त्व है, यही श्रद्धावन्त का लक्षण है। सर्व कृत्य करके अविधि, आशातना के निमित्त मिथ्यादुष्कृत देना।

पूजाफल

अंग, अग्रादि तीनों पूजा के फल, शास्त्र में ऐसे लिखते हैं। विघ्न उपशांत करनेवाली अंगपूजा है, तथा मोटा अभ्युदय—पुण्य के साधनेवाली अग्रपूजा है, तथा मोक्ष की दाता भावपूजा है। पूजा करनेवाला संसार के प्रधान भोगों को भोग कर पीछे सिद्धपद को पाता है। क्योंकि पूजा करने से मन शांत होता है, अरु मन की शांति से उत्तम शुभ ध्यान होता है, अरु शुभध्यान से मोक्ष होता है, मोक्ष हुए अबाध सुख है।

तथा श्रीजिनराज की भक्ति पांच प्रकार से होती है।

पुष्पाद्यर्चा तदाज्ञा च, तद्द्रव्यपरिरक्षणम्।
उत्सवास्तीर्थयात्रा च, भक्तिः पञ्चविधा जिने॥

द्रव्यपूजा आभोग तथा अनाभोग भेद से दो प्रकार की है। तिसमें श्रीवीतराग देव के गुण जान कर वीतराग की

भावना करके आदर संयुक्त जिनप्रतिमा की जो पूजा, सो आभोगद्रव्य पूजा है। इस से चारित्र का लाभ होता है, कर्म का नाश होता है। इस वास्ते बुद्धिमान् ऐसी पूजा अवश्य करे। तथा जो पूजा की विधि जानता नहीं तथा श्रीजिनराज के गुण भी नहीं जानता, सो दूसरी अनाभोग पूजा है। यह शुभ परिणाम पुण्य का कारण, बोधिलाभ का हेतु है और पापक्षय करने का साधन है। उस पुरुष का जन्म भी धन्य है, आगामी काल में उसका कल्याण है, यद्यपि वो वीतराग के गुण नहीं भी जानता, तो भी भक्ति प्रीति का उल्लास उसके अन्दर अवश्य उछलता है। अरु जिस पुरुष को अरिहंत बिंब में द्वेष है, वो पुरुष भारी-कर्मी तथा भवाभिनंदी है। जैसे रोगी को अपथ्य में रुचि अरु पथ्य में द्वेष होवे, तो उसका वह मरण का समय होता है। ऐसे ही जिनबिंब में जिसको द्वेष है, तिसको भी दीर्घ-संसारी जानना।

यहां जो भाव पूजा है, सो श्रीजिनाज्ञा का पालना है। जिनाज्ञा दो प्रकार की है: एक अंगीकार करने रूप, दूसरी त्यागने रूप। तहां सुकृत का अंगीकार करना, अरु निषेध का त्याग करना। परन्तु स्वीकार-पक्ष से परिहार-पक्ष बहुत श्रेष्ठ है। क्योंकि जो निषिद्ध आचरण करता है। उसका सुकृत भी बहुत गुणदायक नहीं होता है। जेकर दोनों बातें होवें, तब तो पूर्ण फल है। द्रव्य पूजा का फल अच्युत देव-

लोक है। अरु भाव पूजा का फल अंतर्मुहूर्त में मोक्ष है।

द्रव्य पूजा में यद्यपि षट्काय की किंचित् विराधना होती है, तो भी कूप के दृष्टांत से वह गृहस्थ को अवश्य करने योग्य है। तात्पर्य कि करनेवाले अरु देखनेवालों को गिनती रहित पुण्य बंधन का कारण होने से करने योग्य है। जैसे नवे गाम में स्नान, पानादि के वास्ते लोक कूआं खोदते हैं। और उस समय तिन को प्यास, श्रम, अरु कीचड़ से मलिन होना पड़ता है, परन्तु कूवे के जल निकलने से तिन की तथा औरों की तृषादि, अगला पिछला सर्व मैल दूर हो जाता है, अरु सर्वांगीण सुख हो जाता है। ऐसे ही द्रव्य पूजा में जान लेना। यह कथन* आवश्यकनिर्युक्ति में है। तथा और जगे भी लिखा है—

आरंभपसत्ताणं, गिहीणछज्जीववह अविरयाणं।
भवअडविनिवडियाणं, दव्वत्थओ चेव आलंबो॥

स्थेयो वायुवलेन निर्वृतिकरं निर्वाणनिर्घातिना,
स्वायत्तं वहुनायकेन सुबहुस्वल्पेन सारं परम्।
निःसारेण धनेन पुण्यममलं कृत्वा जिनाभ्यर्चनं,
यो गृह्णाति वणिक् स एव निपुणो वाणिज्यकर्मण्यलम्॥

---

* अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो॥

याऽस्याम्यायतनं जिनस्य लभते ध्यायंश्चतुर्थं फलम्,
षष्ठं चोत्थित उद्यतोऽष्टममथो गन्तुं प्रवृत्तोऽध्वनि ।
श्रद्धालुर्दशमं बहिर्जिनगृहात्प्राप्तस्ततो द्वादशं,
मध्ये पाक्षिकमीक्षते जिनपतौ मासोपवासं फलम् ॥

पद्म चरित्र में तो ऐसा लिखा है कि, १. जिनमन्दिर में जाने का मन करे, तब एक उपवास का फल होता है, २. यदि उठे, तो बेले का फल होता है, ३. चल पड़ने के उद्यमी को तेले का फल होता है, ४. चल पड़े, तो चौले का फल, ५. किञ्चित् गये को पंचौले का फल, ६. अर्ध मार्ग में गये को एक पक्ष के उपवास का फल होता है, ७. जिनराज को देखने से एक मास के तप का फल होता है, ८. जिनभुवन में संप्राप्त हुए को छमासी तप का फल होता है, ९. जिनमंदिर के दरवाजे पर स्थित हुए को एक वर्ष के तप का फल होता है. १० जिनराज को प्रदक्षिणा देने से सौ वर्ष के तप का फल होता है, ११. पूजा करे तो हज़ार वर्ष के तप का फल होता है, १२. स्तुति करे तो अनंतगुण फल होता है, १३. जिनमन्दिर पूजे, तो सौ गुणा पुण्य होता है, १४. लींपे, तो हज़ार गुणा पुण्य होता है, १५. फूलमाला चढ़ावे, तो लाखगुणा पुण्य होता है, १६. गीत वाजिंत्र पूजा करे, तो अनंतगुणा पुण्य होता है ।

पूजा प्रतिदिन तीन संध्या में करनी चाहिये । यतः—

जिनस्य पूजनं हंति, प्रातः पापं निशाभवम् ।
आजन्मविहितं मध्ये सप्तजन्मकृतं निशि ॥
जलाहारौषधस्वापविद्योत्सर्गकृषिक्रियाः ।
सत्फलाः स्वस्वकाले स्युरेवं पूजा जिनेश्वरे ॥

तथा—

जिणपूअणं तिसंझं कुणमाणो सोहए य संमत्तं ।
तित्थयरनामगुत्तं, पावइ सेणिअनरिंदुव ॥
जो पूएइ तिसंझं, जिणिंदरायं सया विगयदोसं ।
सो तईय भवे सिज्झइ, अहवा सत्तट्ठमे जम्मे ॥
सव्वायरेण भयवं, पूइज्जंतोवि देवनाहेहिं ।
नो होइ पूइओ खलु, जम्हा णंतगुणो भयवं ॥ २ ॥

यह गाथा सुगम हैं ।

तथा देवपूजादिक में हृदय में बहुमान और पूर्ण भक्ति भाव रक्खे । तथा जिनमत में चार प्रकार का अनुष्ठान कहा है । एक प्रीति सहित, दूसरा भक्ति सहित, तीसरा वचन-प्रधान, अरु चौथा असंग अनुष्ठान । तीन में जिस के प्रीति का रस बढ़े, अरु ऋजु भद्रक स्वभाववाला होवे; जैसे बालकों में रतन को देख कर प्रीति होती है, ऐसी जिस को प्रीति होवे, सो प्रीति अनुष्ठान है । तथा बहुमान संयुक्त

शुद्ध विवेकवाला होवे, अरु वाकी शेष पहिले अनुष्ठान की तरे करे, सो भक्ति अनुष्ठान है। यद्यपि स्त्री का अरु माता का पालनपोषण एक सरिखा है, तो भी स्त्री पर प्रीतिराग है, अरु माता पर भक्तिराग है। यह प्रीति अरु भक्ति का स्वरूप कहा है। तथा जो जिनेश के गुण का जानकार, सूत्रोक्त विधि से जिनप्रतिमा को वन्दना करे, सो वचनानुष्ठान है। यह अनुष्ठान चारित्रवान् को निश्चय करके होता है। तथा जो अभ्यास के रस से सूत्रालोचना के विना ही फल में निःस्पृह हो कर करे, सो असंगानुष्ठान है। जैसे कुंभार चक्र को पहिले तो दण्ड से फिराता है, पीछे से दण्ड दूर करे, तो भी चक्र फिरता है। यह दृष्टांत वचनानुष्ठान अरु असंगानुष्ठान में है।

इन चारों में प्रथम तो भावना के लेश से प्रायः वालक प्रमुख को होता है। आगे अधिक अधिक जान लेना। यह चारों प्रकार का अनुष्ठान वहुमान विधिसंयुक्त करे। तो रुपया भी खरा अरु खरे सन् के समान, प्रथम भेद है। दूसरा जो पुरुष, भक्तिराग वहुमान संयुक्त होवे, अरु विधि जानता न होवे, तिस का कृत्य एकांत दुष्ट नहीं। अशठ—सरल पुरुष का अनुष्ठान अतिचार सहित भी शुद्धि का कारण है, क्योंकि जो रतन अन्दर से निर्मल है, उसका वाह्य मल सहज में दूर हो सकता है। यह रुपया तो खरा, परंतु सन् खोटा के समान दूसरा भेद है। तथा जो पुरुष कपट, झूठ

आदि दोष संयुक्त है, अरु अपनी महिमा–पूजा के वास्ते तथा लोगों को ठगने के वास्ते विधिपूर्वक सर्वानुष्ठान करता है, उसको बड़ा अनर्थ फल होता है, यह रुपया खोटा, अरु सन् खरा के समान तीसरा भेद जानना। तथा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव का जो कृत्य है, सो तो रुपया भी खोटा अरु सन् भी खोटा के समान चौथा भेद है। इस वास्ते जो देवपूजादिक करण को बहुमान अरु विधिपूर्वक करे, उसको संपूर्ण फल होता है।

जिनमन्दिर की सारसंभाल

तथा उचित चिंता से मंदिरप्रमार्जन करना। जिस जगे से मन्दिर गिर कर बिगड़ गया होवे, उस का समराना; प्रतिमा, प्रतिमा के परिवार को निर्मल करना; विशिष्ट पूजा दीपोत्सव फूल प्रमुख की शोभा करना; तथा जो आगे लिखेंगे सो सर्व आशातना वर्जना; तथा अक्षत, नैवेद्यादि की चिंता करना, चंदन, केसर, धूप, दीप, तेल का संग्रह करना। विनाश न होवे, ऐसी रीति से चैत्यद्रव्य की रक्षा करे। तीन चार श्रावकों के सामने देवद्रव्य की उघराणी करे। देवद्रव्य को बहुत यत्न से अच्छी जगे स्थापन करे। देव-द्रव्य के लाभ अरु खरच का नाम प्रगटपने लिखे। आप तथा औरों से देवद्रव्य देवे, देवावे। देवद्रव्य किसी पासों लेना होवे, तहां देव के नौकर को भेज कर जिस रीति से देवद्रव्य जावे नहीं, तैसे करे। उघराणी के वास्ते नौकर

रक्खे। इस तरे देवद्रव्य की चिंता सारसम्भाल करे।

देहरा प्रमुख की चिंता अनेक तरे की है, तिन में धनाढ्य को धन से, तथा स्वजन के बल से चिंता सुकर है। अरु धन रहित को अपने शरीर तथा स्वजन के बल से साध्य है। जिसका जहां जैसा बल होवे, वो विशेष तैसा यत्न करे। जो चिंता थोड़े काल में हो सके तिस को दूसरी निस्सही से पहिले करे, शेष को यथायोग्य पीछे करे। ऐसे ही धर्मशाला, गुरुज्ञानादि की भी यथोचित सर्व शक्ति से चिंता करे। क्योंकि देव, गुरु आदि की सारसम्भाल श्रावक के बिना और कोई करनेवाला नहीं। इस वास्ते श्रावक को देवादि की भक्ति और सारसंभाल में शिथिल न होना चाहिये। जेकर देव, गुरु प्रमुख की भक्ति, सेवा, सारसंभाल श्रावक न करे, तो उसका सम्यक्त्व कलंकित हो जाता है। अरु जो श्रावक देव, गुरु का भक्त है, उससे कदाचित् कोई आशातना भी हो जावे, तो भी अत्यन्त दुःखदायी नहीं। इस वास्ते चैत्यादि कृत्य में नित्य प्रवृत्त होवे। कहते भी हैं—

*देहे द्रव्ये कुटुंबे च, सर्वसंसारिणां रतिः।
जिने जिनमते संघे, पुनर्मोक्षाभिलाषिणाम्॥

* भावार्थः—द्रव्य, शरीर और कुटुम्ब में तो सर्व संसारी लोगों की प्रीति है, परन्तु जिनधर्म और संघ में प्रीति तो केवल मोक्षाभिलाषी पुरुषों की होती है।

देव, गुरु प्रमुख की आशातना जो है, सो जघन्यादि भेद करके तीन प्रकार की है, तहां प्रथम ज्ञान की आशातना कहते हैं। पुस्तक, पट्टी, टीपणी, जपमालादिक को मुख का थूक लेशमात्र लग जावे; हीनाधिक अक्षर उच्चारे; ज्ञानोपकरण—पाटी, पोथी, नवकारावली प्रमुख पास हुए, अधोवात निःसर्गादि होवे, सो जघन्य आशातना है। तथा अकाल में पठनादि, उपधान के विना सूत्र पढ़ना, भ्रांति करके अर्थ की अन्यथा कल्पना करना, पुस्तकादि को प्रमाद से पगादिक का स्पर्श करना, भूमि में गेरना, ज्ञानोपकरण के पास हुए आहार तथा मूत्रादि करना, सो मध्यम आशातना हैं। तथा थूक करके अक्षर मांजे, पाटी, पोथी प्रमुख ज्ञानोपकरण के ऊपर बैठना आदि करे, ज्ञानोपकरण के पास हुए उच्चारादिक करे, तथा ज्ञान की, ज्ञानी की, निंदा, प्रत्यनीकपना उपघात करे, उत्सूत्रभाषणादि करे, सो उत्कृष्ट आशातना है।

ज्ञान की आशातना

अब देव की आशातना कहते हैं। तहां जघन्य देवाशातना-सो वास, वरास, केसर प्रमुख के डब्बे को बजावे; श्वास तथा वस्त्र के छेड़े से देव का स्पर्श करे, सो जघन्य आशातना है। तथा पवित्र वस्त्र, धोती प्रमुख करे विना पूजा करे, पूजा के वस्त्र भूमि में गेरे, इत्यादि मध्यम आशातना है तथा प्रतिमा को पग से संघट्टना, श्लेष्म अरु थूंक का

जिनमन्दिर की ८४ आशातना

लगाना, प्रतिमा का भंग करना, जिनेश्वर देव की अवहैलनादि करना। सो उत्कृष्ट आशातना है। अब देव की जघन्य दश आशातना, अरु मध्यम चालीस आशातना तथा उत्कृष्टी चौरासी आशातना हैं, सो क्रम करके कहते हैं।

प्रथम जघन्य दश आशातना न करनी, सो लिखते हैं। जिनमन्दिर में १. पान सोपारी खावे, २. पानी पीवे, ३. भोजन करे, ४. पगरखा पहिरे, ५. स्त्री से संभोग करे, ६. सोवे, ७. थूंके, ८. मूत्रे, ९. उच्चार करे, और १०. जूआ खेले। जघन्य से यह दश आशातना जिनमन्दिर में वर्जे।

दूसरी मध्यम चालीस आशातना वर्जे, तिन का नाम कहते हैं। १. मूतना, २. दिशा जाना, ३. अताप हरना, ४. पानी पीना, ५. खाना, ६. सोना, ७. मैथुन सेवना, ८. तंबोल खाना, ९. थूंकना, १०. जूआ खेलना. ११. जूंआं देखे, १२. विकथा करे, १३. पालठी से बैठे, १४. जुदा जुदा पग पसारे, १५. झगड़ा करे, १६. हांसी करे, १७. किसी के ऊपर ईर्ष्या करे, १८. ऊंचे आसन पर बैठे, १९. केश शरीर की विभूषा करे, २०. शिर पर छत्र लगावे, २१. खड्ग रक्खे, २२. मुकुट धरना, २३. चामर कराने, २४. स्त्री से काम विलास सहित हांसी करनी, २५. धरना लगाना, २६. क्रीड़ा—खेल करना, २७. मुखकोश के बिना पूजा करनी, २८. मैले शरीर से और मैले वस्त्रों से पूजा करनी, २९. पूजा करते समय मन को चपल करना, ३०. शरीर के भोग सचित्त द्रव्य को

विना उतारे मन्दिर में जाना, ३१. अचित्त द्रव्य-आभूषणादि उतार के जाना, ३२. एक साडी का उत्तरासंग न करे, ३३. भगवान् को देख के हाथ न जोड़े, ३४. शक्ति के हुये पूजा न करे, ३५. अनिष्ट फूलों से पूजा करे, ३६. पूजा प्रमुख आदर रहित करे, ३७. जिनप्रतिमा के निंदक को हटावे नहीं, ३८. मन्दिर के द्रव्य की सारसंभाल न करे, ३९. शक्ति के हुये भी सवारी पर चढ़ के मन्दिर में जावे, ४०. देहरे में वड़ो से पहिले चैत्यवंदन करे। जिनेंद्र भवन में तथा जहां प्रतिमा होवे, तहां यह चालीश मध्यम आशातना टाले।

अब उत्कृष्ट चौरासी आशातना का नाम कहते हैं। १. जिनमन्दिर में खेल खंखार गेरे, २. जूए आदिक की क्रीड़ा करे, ३. कलह करे, ४. धनुष्यादि कला सीखे, ५. कुरला करे, ६. तंबोल खावे, ७. तंबोल का उगाल गेरे, ८. गाली देवे, ९. दिशा मात्रा करे, १०. हस्तादि अंग धोवे, ११. केश समारे, १२. नख समारे, १३. रुधिर गेरे, १४. सुखडी प्रमुख देहरे में खावे, १५. गुमडे आदिक की त्वचा गेरे, १६. औषधि खाके पित्त गेरे, १७. वमन करे, १८. दांत गेरे, १९. हाथ पग मसलावे, २० घोड़ादि वांधे, २१. दांत का मैल गेरे, २२. आंख का मैल गेरे, २३. नख का मैल गेरे, २४. गाल का मैल गेरे, २५. नाक का मैल गेरे, २६. माथे का मैल गेरे, २७. शरीर का मैल गेरे, २८. कान का मैल गेरे, २९. भूतादि के कीलने के वास्ते मंत्र साधे, अथवा राजा प्रमुख का काम होवे तिस

का विचार करे, ३०. मन्दिर में विवाहादिक की पंचायत करे, ३१. व्यापार का लेखा करे, ३२. राज का काम वांट के देवे, अथवा भाई प्रमुख को धन का हिस्सा वांट के देवे, ३३ घर का भंडार मन्दिर में रक्खे, ३४. पगोपरि पग रक्ख के दुष्टासन करके वैठे, ३५. मंदिर की भीत से छाणा लगावे— गोवर का ढेर लगावे, ३६. वस्त्र सुखावे, ३७. दाल दले, ३८. पापड़ वेली सुखावे, ३९. वड़ा वनावे, उपलक्षण से कयर, चीभड़ा शाक प्रमुख सुकाने के वास्ते गेरे, ४०. राजा, भाई और लेनदार के भय से भाग कर मूलगंभारे में लुक जावे, ४१. पुत्र, कलत्रादि के मरण से मन्दिर में रोवे, ४२. स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, देशकथा, यह चार विकथा करे, ४३. वाण, ईक्षु का गन्ना घड़े, तथा धनुष्यादि शस्त्र घड़े, ४४. गाय, वैलादि को मन्दिर में रक्खे, ४५. शीत दूर करने को अग्नि तापे, ४६. धान्यादि रांधे, ४७. रुपैये परखे, ४८. विधि से नैषेधिकी न करे, ४९. छत्र, ५०. पगरखी, ५१. शस्त्र, ५२. चामर, यह चार, मंदिर के वाहिर न छोड़े, ५३. मन एकाग्र न करे, ५४. तैलादिक का मर्दन करे, ५५. शरीर के भोग के सचित्त फूलादिक का त्याग न करे, ५६. हार, मुद्रा, कुंडलादि, तिन को वाहिर छोड़ आवे [तो आशातना लगे, क्योंकि लोगों में ऐसा कहना हो जावे कि, अर्हंत के भक्त सर्व कंगाल भिक्षाचर हैं, इसी तरे जिनमत की लघुता होती है] ५७. भगवान् को देख के

हाथ न जोड़े ५८. एक साडी का उत्तरासंग न करे, ५९. मुकुट मस्तक में रक्खे, ६०. मौलि—सिर का लपेटना रखे, ६१. फूल का सेहरा रक्खे, ६२. नारियल आदिक का छोल गेरे, ६३. गेंद से खेले, ६४. पिता प्रमुख को जुहार करे, ६५. भांड चेष्टा करे, ६६. तिरस्कार के वास्ते रेकारा तुंकारा देवे, ६७. लेने वास्ते धरना देवे, ६८. संग्राम करे, ६९. मस्तक के केश सुखावे, ७०. पालठी मार कर बैठे, ७१. काष्ठ, पादुकादि पग में रक्खे, ७२. पग पसारे, ७३. सुख के वास्ते पुड़पुड़ी दबावे, ७४. शरीर का अवयव धोके कीचड़ कूड़ा करे, ७५. पगादि में लगी हुई धूल झाड़े, ७६. मैथुन-कामक्रीडा करे, ७७. जूंआं गेरे, ७८. भोजन जीमे, ७९. गुह्य चिन्ह को ढक के न बैठे, ८०. वैधक का काम करे, ८१. क्रय विक्रय रूप वाणिज्य करे, ८२. शय्या बना के सोवे, ८३. पानी पीने के वास्ते जल का मटका रक्खे, तथा मन्दिर के पत-नाले का पानी लेवे, ८४. स्नान करने की जगा बनावे। यह उत्कृष्ट चोरासी आशातना जिनमंदिर में वर्जे।

गुरु की ३३ आशातना

अब गुरु की तेत्तीस आशातना लिखते हैं। १. गुरु के आगे चले, तो आशातना है। जेकर रस्ता बतावने के वास्ते चले, तो आशातना नहीं होती है। २. गुरु के बराबर चले, ३. गुरु के पीछे अड़के चले, यह जैसे चलने की तीन आशातना कही हैं, ऐसे ही बैठने की भी तीन आशातना

जान लेनी। तथा खड़ा होने की भी तीन आशातना जान लेनी। यह सर्व नव आशातना हुई। १०. भोजन करते गुरु से पहिले शिष्य चुल्लु करे। ११. गमनागमन गुरु से पहिले आलोचे। १२. रात्रि में कौन जागता है, ऐसे गुरु के कहे को सुन कर जागता हुआ भी शिष्य उत्तर न देवे, तो आशातना लगे। १३. जब किसी को कुछ कहना होवे, तो गुरु से पहिले ही शिष्य कह देवे। १४. दूसरे साधुओं के आगे पहिले अशनादि आलोवे, पीछे गुरु के आगे आलोवे। १५. ऐसे ही अशनादि पहिले दूसरे साधुओं को दिखा के पीछे गुरु को दिखावे। १६. अन्नादिक की पहिले औरों को निमन्त्रणा करके पीछे गुरु को निमन्त्रणा करे। १७. गुरु के बिना पूछे स्वेच्छा से औरों को स्निग्ध मधुरादि आहार दे देवे। १८. गुरु को यत्किंचित् अन्नादि देकर पीछे यथेच्छा से स्निग्धादि आहार आप खावे। १९. गुरु बोलावें, तब बोले नहीं। २०. गुरु को बहुत कर्कश—कठोर वचन बोले। २१. जब गुरु बोलावे, तब आसन पर बैठा ही उत्तर देवे। २२. गुरु बोलावे तब कहे, क्या कहते हो? २३. गुरु को तूंकारा देवे। २४. गुरु ने कोई प्रेरणा करी हो, तब गुरु की प्रेरणा को उत्तर करके हने। जैसे गुरु कहे कि हे शिष्य! तुमने ग्लान की वैयावृत्य क्यों नहीं करी? तब शिष्य कहे कि तुम क्यों नहीं करते? २५. गुरु की कथा कहते हुए मन में प्रसन्न न होवे, किंतु बिमन होवे। २६. सूत्रादि कहते

गुरु को कहे तुम को अर्थ याद नहीं है, यह अर्थ ऐसे नहीं होवे है। २७. गुरु कथा कहता है, तिस कथा को वीच-में छेद करे, अरु कहे कि मैं कथा करूंगा। २८. पर्षदा को भांगे, जैसे कहे कि अब भिक्षा का अवसर है, इत्यादि कहे। २९. पर्षदा के विना उठे गुरु की कही कथा को अपनी चतुराई दिखलाने के वास्ते विशेष करके कहे। ३०. गुरु की शय्या—संथारकादि को पगों से संघट्टा करे। ३१. गुरु की शय्यादि उपर वैठना आदि करे। ३२. गुरु से ऊंचे आसन पर वैठे। ३३. गुरु के वरावर आसन करे।

यह गुरु की आशातना भी तीन प्रकार की है, एक पगादि से संघट्टा करे, सो जघन्य आशातना, दूसरी श्लेष्म, थूंकादि गुरु के लवमात्र लगावे, तो मध्यम आशातना है। तीसरी गुरु का आदेश न करे, जेकर करे, तो भी उलटा करे, कठोर वचन वोले, गुरु का कहा न सुने, इत्यादि उत्कृष्ट आशातना है।

स्थापनाचार्य की आशातना भी तीन प्रकार की है। १. इधर उधर हलावे, पगों का स्पर्श करे, अन्य आशातना तो जघन्य आशातना, २. भूमि में गेरे, अवज्ञा से धरे, सो मध्यम आशातना, ३. स्थापनाचार्य को खोवे, तथा तोड़े तो उत्कृष्ट आशातना है। ऐसे ही ज्ञानोपकरण, दर्शनोपकरण, तथा चारित्रोपकरण, रजोहरणादि, मुखवस्त्रिका, दंडक, दंडिका प्रमुख की भी आशातना

पहिले टाले ।

श्रावक को, सर्व धर्मोपकरण–चरवला, मुखवस्त्रिकादि विधिपूर्वक स्वस्थान में स्थापना करनी चाहिये, अन्यथा धर्म की अवज्ञादि दूषणों की आपत्ति होवे । शास्त्र में लिखा है कि, जो उत्सूत्र भाखे, तथा अर्हंत की अरु गुरु की अवज्ञादि महा आशातना करे, तो उसको सावद्याचार्य, मरीचि, जमाली, कूलवालकादि की तरें अनंत जन्म मरण की वृद्धि होवे । यतः—

उस्सुत्तभासगाणं, बोहीनासो अणंतसंसारो ।
पाणच्चएवि धीरा, उस्सुत्तं ता न भासंति ॥
तित्थयरपवयणसुयं, आयरियं गणहरं महिड्ढियं ।
आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ ॥

इन का अर्थ सुगम है—

ऐसे ही देव, ज्ञान, साधारण द्रव्य का तथा गुरु द्रव्य–वस्त्र, पात्रादि का विनाश, तिन की उपेक्षादिक जो करनी है, सो भी महाआशातना है ।

चेइअदव्वविणासे इसिघाए पवयणस्स उड्डाहे ।
संजइचउत्थभंगे मूलग्गी बोहिलाभस्स ॥

तथा श्रावकदिनकृत्य दर्शनशुद्धि आदि शास्त्रों में भी लिखा है—

चेइअदव्वं साहारणं च, जो दुहइ मोहिअमईओ ।
धम्मं च सो न याणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥

अर्थः—चैत्यद्रव्य तथा साधारण द्रव्य को नाश करे, या तो वो धर्म नहीं जानता है, अथवा उसने नरक का आयु बांधा है; इस वास्ते ही ऐसा अयोग्य काम करता है। तथा चैत्यद्रव्य का नाश, भक्षण, उपेक्षण कोई करे, तिसको जेकर साधु न हटावे, तो वो साधु भी अनंतसंसारी हो जावे।

देवादि सम्बन्धी द्रव्य

प्रश्नः—मन, वचन अरु काया करके जिसने सावद्य कर्म को त्यागा है, ऐसे यति को चैत्यद्रव्य की रक्षा में क्या अधिकार है ?

उत्तरः—जेकर राजा तथा वज़ीर को याचना करके, तिनों के पास से घर, हाट, गामादि लेकर विधि से नवीं पैदायश–उत्पन्न करे, तब तो यह विवक्षित दूषण आ सकता है, परन्तु किसी–यथा भद्रकादि ने धर्म के वास्ते पहिले दिया होवे; उसका नाश देखकर रक्षा करे, तो कोई दूषण नहीं होता है, बल्कि जिनआज्ञा की आराधना होने से धर्म की पुष्टि होती है।

तथा नवे मन्दिर के बनाने से जो पूर्व बना हुआ है, उसके प्रतिपंथी अर्थात् शत्रु को जो साधु हटावे; तो उस

साधु को न प्रायश्चित्त है, तथा न उस साधु की प्रतिज्ञा भङ्ग होती है। आगम भी ऐसा ही कहता है। इस वास्ते जो श्रावक जिनद्रव्य को खावे, उपेक्षा करे, वो श्रावक, अगले जन्म में बुद्धिहीन, अरु पापकर्म से लेपायमान होता है।

आयाणं जो भञ्जइ, पडिवन्नधणं न देइ देवस्स ।
भस्संतं समुविक्खइ, सो वि हु परिभमइ संसारे ॥

अर्थः—जो पुरुष मंदिर की आमदानी भांगे, अरु जो मुख से कह कर जिनद्रव्य न देवे, सो भी संसार में भ्रमण करे।

तथा—

जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥

अर्थः—जो जिनमत की वृद्धि करे, चैत्यपूजा, चैत्य-समारना, महापूजा सत्कारादि से ज्ञान, दर्शन की प्रभावना करे, परन्तु जिनद्रव्य का नाश करे, तो अनंतसंसारी होवे। अरु जेकर जिनद्रव्य की रक्षा करे, तो अल्पसंसारी हो जावे। देवद्रव्य की वृद्धि करे, तो तीर्थङ्करनामकर्म बांधे। परन्तु पंदरा कर्मादान, खोटा वाणिज्य वर्ज के सद्व्यवहार से जिनद्रव्य की वृद्धि करे। यतः—

जिणवरआणारहियं, वद्धारंतावि केवि जिणदव्वं ।
बुड्डंति भवसमुद्दे, मूढा मोहेण अन्नाणी ॥

इस का अर्थ सुगम है—

कोई कहते हैं कि, श्रावक विना औरों का अधिक गहना रक्ख कालांतर में व्याज की वृद्धि करे, सो उचित है। ऐसा कहना भी ठीक है। क्योंकि सम्यक्त्वपच्चीसी आदिक ग्रन्थों में संकाश की कथा में तैसे ही लिखा है। चैत्यद्रव्य के खाने से बहुत कष्ट होते हैं; सागरश्रेष्ठीवत्। यह कथा श्राद्धविधि ग्रन्थ से जान लेनी। ज्ञानद्रव्य भी देवद्रव्य की तरें अकल्पनीय है, अर्थात् नाश करना, भक्षण करना, विगड़ते की सारसंभाल न करनी। ऐसे ही साधारण द्रव्य भी संघ का दिया हुआ ही कल्पता है; विना दिया काम में लाना न कल्पे। संघ को भी सात क्षेत्र में ही साधारणद्रव्य लगाना चाहिये। मांगनेवालों को उसमें से देना न चाहिये। ऐसे ही ज्ञान सम्बन्धी कागज़ पत्रादि साधु का दिया हुआ श्रावक ने अपने कार्य में नहीं लगाना। अपनी पोथी में भी न रखना। स्थापनाचार्य अरु जपमालादि ले लेने का व्यवहार तो दीखता है। तथा गुरु की आज्ञा के विना साधु साध्वी को लिखारी से लिखाना अरु वस्त्र, सूत्रादि का लेना भी नहीं कल्पता। इत्यादि विचार लेना। तिस वास्ते थोड़ा सा भी ज्ञानद्रव्य अरु साधारणद्रव्य का उपभोग न करना चाहिये।

जो द्रव्यदेव के नाम का वोले, सो तत्काल दे देवे; क्योंकि देवद्रव्य जितना शीघ्र देवे, उतना अच्छा है। कदापि विलम्ब करे, तो पीछे क्या जाने धनहानि, मरणादि हो जावे;

तो देवद्रव्य का ऋण रह जाय। और संसारी का देना भी श्रावक को शीघ्र दे देना चाहिये, तो फिर देवद्रव्य का क्या कहना है ? जिस वक्त माला पहराई तथा और कुछ द्रव्य देव के भंडारे में देना करा, उसी वक्त में वो देवद्रव्य हो चुका। उस द्रव्य से जो लाभ होवे, सो भी देवद्रव्य है। उस द्रव्य को श्रावक ने भोगना नहीं। इस वास्ते शीघ्र दे देना चाहिये। जेकर मासादिक पीछे देने का कौल करे, तदा करार ऊपर विना मांगे जरूर दे देवे। जेकर करार उलंघ के देवे, तो देवद्रव्य खाये का दूषण लगे। देवद्रव्य की उगराही भी श्रावक अपनी उगराही की तरे यत्न से करे। जेकर देवद्रव्य लेने में ढील करे, अरु कदाचित् दुर्भिक्ष, दरिद्रादि अवस्था आ जावे, तो फिर मिलना दुष्कर हो जावे। तथा देनेवाला भी उत्साहपूर्वक कपट रहित होकर शीघ्र दे देवे। नहीं तो देवद्रव्य भक्षण का दोष है।

तथा देवज्ञान साधारण सम्बन्धी हाट, खेत, वाडी, पाषाण, ईंट, काष्ठ, वांस, मिट्टी, खड़िया, चन्दन, केसर, बरास, फूल, फूलचंगेरी, धूपपात्र, कलश, वासकूपी, छत्र सहित सिंहासन, चमर, चन्द्रोदय, झालर, भेरी, चान्दनी, तंबू, कनात, पड़दे, कंबल, चौकी, तखत, पाटा, पाटी, घड़ा, बड़ा उरसा, कज्जल, जल, दीवा प्रमुख चैत्यशाला, प्रनालादिक का पानी, ये सर्व पूर्वोक्त वस्तु देव की अपने काम में न वर्तनी चाहियें। टूट फूट अथवा मलिन हो

जावे, तो महापाप होवे। देव के आगे दीवा बाल के उस दीवे के चानणे में कोई सांसारिक काम करे, तो मर के तिर्यंच होवे। इस वास्ते देव के दीवे से खत–पत्र भी न वांचना चाहिये। रूपक भी न परखना। घर का काम भी देव के दीवे से न करना। तथा देव के चंदन, केसर से तिलक न करे। देव के जल से हाथ न धोवे, स्नात्रजल भी थोड़ा सा लेना चाहिये। तथा देव संबंधी झल्लरी, मृदंग, भेरी प्रमुख गुरु के तथा संघ के आगे न बजावे। जेकर कोई देव के उपकरण झल्लरी आदिक से कोई कार्य करना होवे तो बहुत निकराना देव के आगे रखके लेवे, कदाचित् कोई उपकरण टूट जावे, तब अपना धन खरच के नवा बनवावें, देव का दीवा लालटैन, फानूस प्रमुख को जुदा ही राखे। तथा साधारण द्रव्य से जो झल्लरी प्रमुख बनावे, और सर्वधर्मकार्य में वर्ते तो दोष नहीं जैसे भावों से करे, सोई प्रमाण है।

देव का तथा ज्ञान का घर आदिक भी श्रावक को निःशूकतादि दोष होने से भाड़े लेना न चाहिये। साधारण संबंधी घर आदि को संघ की अनुमति से लोक व्यवहार का भाड़ा देकर वरते, तो दोष नहीं; परन्तु भाड़ा करार के दिन में स्वयमेव दे देवे। उस मकान के समराने में जो धन लगे, तिस को भाड़े में गिन लेवे; तो दोष नहीं। अरु जो साधर्मी संकट—निर्धनपने से दुःखी होवे, वो संघ की आज्ञा से

विना भाड़ा दिये भी रहे, तो दोष नहीं। तथा तीर्थादिक में अरु देहरे में जो बहुत काल रहना पड़े, वहां सोवे, तो तहां भी लेखे के अनुसार अधिक भाड़ा देवे। थोड़ा देवे, तो दोष है। भाड़ा दिये विने देव, ज्ञान और साधारण सम्बन्धी वस्त्र, नारियल, सोने रूपे की पाटी, कलश, फूल, पक्वान्न, सूखडी प्रमुख को उजमने में, पुस्तक पूजा में, नन्दी मांडने में, न मेलना चाहिये। क्योंकि उजमणादि तो उसने अपने नाम का करा है। फिर देव, ज्ञान अरु साधारण सम्बन्धी पूर्वोक्त वस्तु भाड़े विना वर्ते, तो स्पष्ट दोष है।

तथा घर देहरे में अक्षत, सोपारी, फल, नैवेद्यादि के वेचने से जो धन होवे, तिस से खरीदे हुए फूलादिक को घर देहरे में न चढ़ावे, तथा पंचायती बड़े मन्दिर में भी आप न चढ़ावे। पूजारी के आगे सर्व स्वरूप कहे कि, यह मन्दिर ही का द्रव्य है, मेरा नहीं। पूजारी न होवे, तो संघ के समक्ष कह देवे। यदि न कहे, तो दूषण है। घर-देहरे का नैवेद्यादि माली को देवे, परन्तु उसको माली की नौकरी में न गिन लेवे जेकर पहिले ही सामग्री नोकरी में देनी कर लेवे, तो दोष नहीं। मुख्यवृत्ति से तो नौकरी चढ़ावे से अलग देनी चाहिये।

घर देहरे के चढे हुए चावलादि बड़े मन्दिर में भेज देवे, अन्यथा घर देहरे के द्रव्य से घर देहरे की पूजा होवेगी, स्वद्रव्य से नहीं होवेगी। यदि करे तो अनादर, अवज्ञादि

दोष है। ऐसा करना युक्त नहीं, क्योंकि स्वद्रव्य से ही पूजा करनी उचित है। तथा देहरे का नैवेद्य अक्षतादि अपने धन की तरे रखने चाहिये। पूरे मूल्य से वेच के देवद्रव्यों को वढाना चाहिये। परन्तु जैसे तैसे मोल से न जाने देवे, नहीं तो देवद्रव्य के नाश करने का दूषण लग जावेगा। तथा सर्व तरे से करते हुए भी चौर, अग्नि, आदिक के उपद्रव से देवद्रव्य नष्ट हो जावे, तो चिंता-कारक को दोष नहीं।

तथा देव, गुरु, यात्रा, तीर्थ अरु संघ की पूजा साधर्मि-वात्सल्य, स्नात्र, प्रभावना, ज्ञान लिखाना इत्यादिक कारणों के वास्ते दूसरों के पास से जव धन लेवे, तव चार पांच पुरुषों की साक्षी से लेवे, फिर खरचने के अवसर में भी गुरु, संघादिक के आगे प्रगट कह देवे कि, यह धन मैंने अमुक का दिया हुआ खरचा है; मेरा नहीं है।

तथा तीर्थादि में अरु पूजा स्नात्र ध्वजा चढ़ाने आदि आवश्यक कर्त्तव्य में दूसरों का सिर न करे; किंतु स्वयमेव ही यथाशक्ति करे। जेकर किसी ने धर्म खरच में धन दिया होवे, तव तिस का प्रगट नाम ले कर सर्व समक्ष न्यारा ही खरच करना चाहिये। यदा वहुत मिल कर यात्रा साधर्मि-वात्सल्य संघपूजादि करें, तव जितना जितना जिस का हिस्सा होवे, उतना उतना प्रगट कह देवे; नहीं तो पुण्य फल की चोरी लगे।

तथा मरण के समय में माता, पितादिक जो धर्म में खरच करना कहे तथा पुत्रादि जो खरच करना माने सो बहुत से श्रावकों के आगे कहना चाहिये; जैसे मैं तुमारे नाम से इतने दिनों के वीच में इतना धन खरचूंगा। तुम उस की अनुमोदना करो। पीछे सो धन सर्व समक्ष अपने नाम से नहीं रखना, किन्तु माता पितादि के नाम से तत्काल खरच कर देना चाहिये। धर्म में मुख्यवृत्ति करके तो साधारण द्रव्य ही का खर्च करना चाहिये, क्योंकि जहां जहां काम पड़े, तहां तहां खरच में लावे। सात क्षेत्रों में कौनसा क्षेत्र सीदते—नष्ट होते देखे, तिस में धन खरच के तिस को उपष्टंभ देवे। कोई श्रावक निर्धन हो जावे तो भी उसको उसी धन से दें। लोकेऽप्युक्तम्:—

दरिद्रं भर राजेंद्र ! मा समृद्धं कदाचन।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरोगस्य किमौषधम् ? ॥

इस वास्ते प्रभावना और संघ पहिरावणी, सम्यक्त्व के मोदकलम्भन आदि में जो निर्धन साधर्मी होवें, तिनको विशेष वस्तु देनी चाहिये; अन्यथा धर्मावज्ञादि दोष होवे। यह वात युक्त है कि, धनवान् से निर्धन को अधिक वस्तु देनी चाहिये। यदा शक्ति न होवे, तदा दोनों को वरावर देवे।

अपना खरच धर्म द्रव्य से न करना। यात्रादिक के निमित्त जो धन काढे, सो सर्व देवादि निमित्त हो गया

लेकर वो द्रव्य अपने भोजन में अथवा गाडी आदिक के भाडे में लगावेगा, तब जरूर उसको देवद्रव्य खाने का पाप लगेगा, कदाचित् अज्ञान करके, चूक के, वेसमझी से, इत्यादि कारणों से कोई श्रावकादि देवादि द्रव्य का उपभोग कर लेवे, तो तिसके प्रायश्चित्त में जितना द्रव्य खाया होवे, उतना द्रव्य देव साधारण संबंध में देवे। मरण अवस्था में शक्ति के अभाव से धर्मस्थान में थोड़ा ही खरचे। परन्तु देना किसी का न रक्खे। देवादि द्रव्य तो विशेष करके न रक्खे।

इस रीति से श्रीजिनराज की पूजा दृढ़ भावों से करनी चाहिये।

अब गुरुवंदना की विधि लिखते हैं। जो ज्ञानादि पांच आचार करके संयुक्त होवे, और शुद्ध धर्म के प्ररूपक होवें, सो गुरु हैं। पांच आचार का स्वरूप देखना होवे, तदा श्री रत्नशेखरसूरिकृत आचारप्रदीप ग्रंथ देख लेना।

यह पूर्वोक्त गुरु आचार्यादिक के पास, जो प्रत्याख्यान पूर्व में अपने आप करा था, सो विशेष करके विधिपूर्वक गुरु के मुख से उच्चरावे। क्योंकि प्रत्याख्यान तीन तरें से करा जाता है—एक आत्मसाक्षिक, दूसरा देवसाक्षिक, तीसरा गुरुसाक्षिक। तिस की विधि यह है।

गुरुवन्दन और प्रत्याख्यान

मंदिर में देववंदनार्थ, स्नात्रादि देखने के अर्थ, धर्मोपदेश देने के अर्थ, गुरु जिनमन्दिर में आये होवें, तहां मन्दिर की

तरें तीन निस्सही पंचाभिगमनादि यथायोग्य विधि से जा करके गुरु के धर्मोपदेश से पहिले तथा पीछे, यथाविधि से पच्चीस आवश्यक से शुद्ध द्वादशावर्त्त वंदना देवे। वंदना का बड़ा फल कहा हैं। कृष्णवासुदेववत्। तथा भाष्य में वंदना तीन तरें की कही हैं, एक तो मस्तक नमावणादि सो फेटा वंदना, दूसरी संपूर्ण दो खमासमण पढ़ने से स्तोभ-वंदना होती है। तीसरी द्वादशावर्त्त करने से द्वादशावर्त्त वंदना होती है। तिस में प्रथम वंदना तो सर्व संघ को करनी, दूसरी वंदना सर्व स्वदर्शनी साधुओं को करनी, अरु तीसरी वंदना जो है, सो पदवीधर आचार्यादिक को करनी।

जिस ने सवेरे का पड़िक्कमणा न करा होवे, तिस ने विधि-पूर्वक वंदना करनी। क्योंकि भाष्य में ऐसे ही लिखा है। १. भाष्योक्तविधि–ईर्यापथ प्रतिक्रमे २. पीछे कुस्वप्न का कायोत्सर्ग करे—सौ उच्छ्वास प्रमाण करे। जेकर स्वप्न में स्त्री से संगम करा होवे, तदा अशुचि की सर्व जगा धो के पीछे एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे। ३ पीछे चैत्यवंदना करे। ४. पीछे खमासमणपूर्वक मुखवस्त्रिका प्रतिलेखे। ५. पीछे दो वंदना देवे। ६. पीछे देवसि आदिक आलोवे। ७. फिर वन्दना दो देवे। ८. पीछे अब्भुट्ठिओमि कहे। ९. पीछे दो वन्दना

करे, १०. पीछे प्रत्याख्यान करे, ११. पीछे 'भगवन् अहं' इत्यादि चार खमासमण देवे, १२. पीछे स्वाध्याय सन्दिसावओ कहे। फिर खमासमणपूर्वक सज्झाय करूं, ऐसे कहे, पीछे स्वाध्याय करे, यह सवेर की वंदनविधि है।

तथा प्रथम १. ईर्यापथ पडिक्कमे, २. पीछे चैत्यवंदना करे, ३. पीछे क्षमाश्रमण पूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करे, ४. पीछे दो वन्दना करे. ५. पीछे दिवसचरिम का प्रत्याख्यान करे, ६. पीछे दो वंदना करे, ७. पीछे देवसि आलोउं कहे. ८. पीछे दो वन्दना करे, ९. पीछे अब्भुट्ठिउं कहे, १० पीछे भगवन् इत्यादि चार स्तोभवन्दना करे, ११. पीछे देवसिक प्रायश्चित्त का कायोत्सर्ग करे, १२. पीछे पूर्ववत् दो खमासमण देकर स्वाध्याय करे, यह सन्ध्या की वंदन विधि है।

जेकर किसी कार्य में प्रवृत्त होने से गुरु का चित्त और तर्फ होवे, तदा संक्षेप मात्र वन्दना करे, ऐसे वन्दनापूर्वक गुरु पासों प्रत्याख्यान करावे। क्योंकि श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्र में लिखा है कि, प्रत्याख्यान करने के परिणाम दृढ़ भी होवे, तो भी गुरु के पासों करावे। गुरु पासों प्रत्याख्यान कराने में यह गुण है—१. दृढता होती है, २. आज्ञा का पालन होता है, ३. कर्म का क्षय होता है, ४. उपशम की वृद्धि होती है।

ऐसे ही देवसिक, चातुर्मासिक नियमादि भी गुरु का संयोग होवे तो गुरुसाक्षिक ही करने चाहियें। योगशास्त्र

में गुरु की भक्ति करनी ऐसे लिखी है—

अभ्युत्थानं तदालोकेऽभियानं च तदागमे ।
शिरस्यंजलिसंश्लेपः स्वयमासनढौकनम् ॥ १ ॥

आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम् ।
तद्यानेऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरौ ॥ २ ॥
[यो० शा०, प्र० ३, श्लो० १२५, १२६]

गुरु विनय

अर्थः—१. गुरु को आते देख के खड़ा हो जाना, २. सन्मुख लेने जाना, ३. मस्तक पर अंजलि बांध कर प्रणाम करना, ४. गुरु को आसन देना, ५. जब गुरु आसन पर बैठ जावे तब मैं आसन पर बैठूंगा, ऐसा अभिग्रह लेवे, ६. भक्ति से वंदना पर्युपासना करे, ७. जब गुरु जावे, तब पहुंचाने जावे, ८. यह गुरु की भक्ति है। तथा १. अड के गुरु के बराबर न बैठे, २. आगे न बैठे, ३. गुरु की तर्फ पीठ दे कर न बैठे ४. पग ऊपर पग चढ़ा करके गुरु के पास न बैठे। ५. पालठीमार के न बैठे। ६. हाथों से जंघा को लपेट के न बैठे, ७. पग पसार के न बैठे, ८. विकथा न करे, ९. बहुत हसे नहीं, १०. नींद न लेवे, ११. मन, वचन, काया को गोप करके हाथ जोड़ भक्ति बहुमान पूर्वक उपयोग सहित सुधर्म को सुने क्योंकि गुरु पासों धर्म सुनने से इस लोक तथा

परलोक में बहुत गुण होता है।

तथा किसी साधु को रोगादि होवे तो गुरु से पूछे कि, वैद्य को बोलाऊं? औषधि का योग मिलाऊं? इत्यादि गुरु और गच्छ की सर्व तरे से खबर-सार लेवे। भोजन के अवसर में उपाश्रय में जा कर के साधुओं को निमन्त्रणा करे। तथा औषधि पथ्यादि जो जिस को योग्य होवे, सो देवे। जब साधु श्रावक के घर में आवे, तब जो जो वस्तु साधु के योग्य होवे, सो सो सर्व वस्तु देने के वास्ते निमन्त्रणा करे। सर्व वस्तुओं का नाम लेवे, जेकर साधु नहीं भी लेवे, तो भी दाता को जीर्णशेठवत् पुण्य फल है। रोगी साधु की प्रतिचर्या करने से जीवानंद वैद्यवत् महापुण्य फल होता है। साधुओं के रहने को स्थान देवे, तथा जिन-शासन के प्रत्यनीक को सर्वशक्ति से निवारण करे। तथा साधवियों की दुष्ट, नास्तिक, दुःशील जनों से रक्षा करे। अपने घर के पास बन्दोवस्तवाला गुप्त उपाश्रय रहने को देवे। उनों की अपनी स्त्री, बहु, बहिन, बेटी प्रमुख से सेवा-भक्ति करावे। अपनी बेटियों को साधवियों से विद्या सिखलावे। जेकर किसी बेटी को वैराग्य चढे, तब साध-वियों को दे देवे। जेकर कोई साधवी धर्मकृत्य भूल जावे, तदा स्मरण करा देवे। जेकर कोई साधवी अन्याय में प्रवृत्त होवे, तो निवारण करे। तथा आप रोज गुरु पासों नवीन नवीन शास्त्र पढे, जेकर बुद्धि थोड़ी होवे, तदा ऐसा विचारे

कि सुरमें दानी में से थोड़ा थोड़ा अंजन निकलने से अंजन क्षय हो जाता है, तथा वर्मी का बन्धना। ऐसे परिश्रम अभ्यास करने से निष्फल दिन न जाने देवे। थोड़ी बुद्धि भी होवे तो भी पढ़ने का अभ्यास न छोड़े।

इत्यादि धर्मकृत्य करके पीछे जेकर राजा श्रावक होवे, तब तो राजसभा में जावे, प्रधान होवे, तो न्याय सभा में जावे, बनिया होवे तो हट्टी बाजार में जावे, इत्यादि उचित स्थान में जा करके धर्म से विरुद्ध न होवे, उस रीति से धन उपार्जन की चिन्ता करे।

अर्थचिन्ता

अब प्रथम राजा किस रीति से प्रवर्त्ते, सो लिखते हैं। जो राजा होवे, सो दरिद्री, मान्य, अमान्य, उत्तम, अधम आदि सर्व लोकों का पक्षपात रहित मध्यस्थ हो कर न्याय करे। राजा के कारभारी—मंत्री आदिक तिन का धर्माविरोध यह है, राजा का अरु प्रजा का नुकसान न होवे, तैसे प्रवर्त्ते। क्योंकि जो मन्त्री राजा का हित वांछता है, उस पर प्रजा द्वेष करती है, अरु जो प्रजा का हितकारी है, उसको राजा छोड़ देता है, इस वास्ते राजमन्त्री आदि को दोनों का हितकारी होना चाहिये।

वणिक् व्यापारी लोगों का धर्माविरोध यह है कि, व्यापार शुद्धि करे। यथा—

ववहारसुद्धि देसाइविरुद्धच्चायउचिअचरणेहिं ।
तो कुणइ अत्थचिंतं निव्वाहिंतो नियं धम्मं ॥

अर्थः—व्यापार की शुद्धि, देशादि विरुद्ध का त्याग, उचित आचरण, इन तीनों प्रकार से धन उपार्जन करने की चिंता करे, अरु अपने धर्म का भी निर्वाह करे। क्योंकि ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो धन से सिद्ध न होवे। तिस वास्ते बुद्धिमान् धन के उपार्जन में यत्न करे। यदाह—

नहि तद्विद्यते किंचिद्यदर्थेन न सिद्ध्यति ।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ॥

इहां जो अर्थचिंता है, सो अनुवादरूप है, क्योंकि धन के उपार्जन की चिंता लोक में स्वतः ही सिद्ध है, कुछ शास्त्रकार के उपदेश से नहीं। अरु "धर्म निर्वाहयन्" यह जो कहना है, सो विधेय—करने योग्य है, क्योंकि इस की आगे प्राप्ति नहीं है। शास्त्र का जो उपदेश है, सो अप्राप्त अर्थ की प्राप्ति के वास्ते है, शेष सर्व अनुवादादि रूप है।

अब आजीविका चलाने के प्रकार कहते हैं—आजीविका सात प्रकार से होती है—१. व्यापार करने से, २. विद्या से, ३. खेती करने से, ४. पशुओं के पालने से, ५. कारीगरी करने से, ६. नौकरी करने से, ७. भीख मांगने से।

आजीविका के साधन

तिन में १ वाणिज्य करने से वणिक् लोकों की आजीविका है, २. विद्या से वैद्यादिकों की आजीविका है, ३. खेती करने से कौटुम्बिकादिकों की है, ४. पशु पालने से गोपाल अजा-पालादिकों की है, ५. शिल्प करके चितारादिकों की है, ६. नौकरी करने से सिपाही लोकों की है, ७. भिक्षा से मांग खानेवालों की आजीविका है।

तिन में—१. वाणिज्य सो धान्य, घृत, तैल, कार्पास, सूत्र, वस्त्र, धातु, मणि, मोती, रुपया, सोनैया प्रमुख जितनी जात का करयाणा है, सो सर्व व्यापार है। अरु जो व्याजु देना है, सो भी व्यापार है।

२. विद्या भी औषधि, रस, रसायन, चूर्ण, अंजनादि, वास्तुक शास्त्र, पंखी का शकुन, भूत भविष्यादि निमित्त, सामुद्रिक, चूड़ामणि, जवाहिर परखने का शास्त्र, धर्म, अर्थ, काम, ज्योतिष, तर्कादि भेद से अनेक प्रकार की है। इस वैद्यविद्या में अतारपना, पंसारीपना करना ठीक नहीं, क्योंकि इस में प्रायः दुर्ध्यान होने से बहुत गुण नहीं दीखता है। क्योंकि जिस को जिस से लाभ होता है, वो उसी बात को चाहता है। तदुक्तं—

विग्रहमिच्छंति भटा वैद्याश्च व्याधिपीडितं लोकम्।
मृतकबहुलं विप्राः, क्षेमं सुभिक्षं च निर्ग्रंथाः ॥

अर्थः—सुभट संग्राम चाहते हैं, वैद्य रोगपीडित लोगों

को चाहते हैं, अरु ब्राह्मण बहुत लोगों का मरण चाहते हैं, तथा निरुपद्रव सुकाल को साधु निर्ग्रंथ चाहते हैं। परन्तु जो वैद्य अत्यंत लोभी होवे, धन लेने के वास्ते उलटी औषधि जान के देवे, जिसके मन में दया न होवे, जो त्यागी साधुओं की औषधि न करे, जो दरिद्री, अनाथादि लोगों को मरते जान के भी धन खोस लेवे, मांस मद्यादि अभक्ष्य वस्तु का भक्षण करना बतावे, झूठी औषधि बना के लोगों को ठगे, वो वैद्यविद्या नरक की देनेवाली है—सो न करनी चाहिये। अरु जो वैद्य सत् प्रकृतिवाला होवे, लोभी न होवे, पूर्वोक्त दूषण रहित होवे, परोपकारी होवे, ऐसे की वैद्यविद्या श्रीऋषभदेवजी के जीव जीवानंद वैद्य की तरे दोनों भवों में गुण देनेवाली है। ऐसी वैद्य-विद्या से आजीविका करे, तो अच्छा है।

३. खेती—सो तीन तरे से होती है, एक मेघ से, दूसरी कूप, नहरादि से, तीसरी दोनों से।

४. पशु पालकपना—सो गौ, महिष, बकरी, ऊंट, बैल, घोड़ा, हाथी इनको वेच कर आजीविका करनी।

खेती अरु पशुपालन, यह दोनों काम विवेकी को करने उचित नहीं। जेकर इनके करे बिना निर्वाह न होवे, तदा बीज बोने का काल जाने, भूमि की सरस नीरसता को जाने, अरु जो खेत पहिले वाहे बिना बोया न जावे, दूसरा रस्ते का क्षेत्र, यह दोनों क्षेत्र को वर्जे, तो धन की वृद्धि

होवे। अरु जो पशुपाल्यपना करे, तो पशुओं के ऊपर निर्दय न होवे, पशु का कोई अवयव न छेदे। इसी तरे पशुपालकपना करे।

५. शिल्प आजीविका है। सो शिल्प सौ तरे का है। मूल शिल्प तो पांच हैं—१. कुम्भार, २. लोहार, ३. चितारा, ४. बनकर अर्थात् बुननेवाला, ५. नाई। इन पांचों के वीस वीस भेद हैं। यद्यपि इस काल में न्यूनाधिक कभी होवेंगे, परन्तु श्रीऋषभदेवजी ने प्रथम सौ तरें का शिल्प ही प्रजा को सिखलाया था, इस वास्ते सौ ही लिखा है। जो सांसारिक विद्या है, सो सर्व कोई शिल्प में हैं, कोई कर्म में है। शिल्प गुरु के उपदेश से आता है, अरु कर्म स्वयमेव ही आ जाता है। यह कर्म भी सामान्य से चार प्रकार का है—१. उत्तम बुद्धि से धन कमाता है, २. मध्यम हाथों से कमावे, ३. अधम पगों से कमावे, ४. अधमाधम मस्तक से बोझा ढो कर कमावे।

६. सेवा करके आजीविका करे। सो सेवा राजा की, मन्त्री की, सेठ की, सामान्य लोगों की नौकरी, यह चार प्रकार से है। प्रथम तो नौकरी किसी की भी न करनी चाहिये, क्योंकि नौकर परवश हो जाता है। जेकर निर्वाह न होवे, तदा नौकरी भी करे, परन्तु जिस की नौकरी करे, उसमें यह कहे हुए गुण होवें, तो उसके वहां नौकर

रहे। जो पुरुष कानों का दुर्बल न होवे, सूरमा होवे, कृतज्ञ होवे, सात्त्विक, गम्भीर, धीर, उदार, शीलवान्, गुणों का रागी होवे; उसकी नौकरी करे। अरु जो क्रूर प्रकृतिवाला होवे, कुव्यसनी होवे, लोभी होवे, चतुर न होवे, सदा रोगी रहे, मूर्ख होवे, अन्यायी होवे, उसकी नौकरी न करे; क्योंकि कामंदकीय नीतिशास्त्र में लिखा है कि, जिस राजा की वृद्ध पुरुषों ने सेवा करी होवे, सो राजा अच्छा है। स्वामी को भी चाहिये कि जैसा सेवक होवे, तैसा उसका सन्मान करे। सेवक भी थके हुए, भूखे हुए, क्रोध में हुए, व्याकुल होये, तृषावंत होये, शयन करने लगे, दूसरे के अर्ज करते हुये, इन अवस्थाओं में स्वामी को विनति न करे। तथा राजा की माता, राजा की रानी, राजकुमार, मुख्य मंत्री, अदालती, राज का दरवान, इनके साथ राजा की तरें वर्त्तना चाहिये। इस रीति से प्रवर्त्ते, तो धन की प्राप्ति दुर्लभ नहीं। यथा—

इक्षुक्षेत्रं समुद्रश्च, योनिपोषणमेव च।
प्रसादो भूभुजां चैव, सद्यो घ्नंति दरिद्रताम् ॥ १ ॥

निंदंतु मानिनः सेवां, राजादीनां सुखैषिणः।
स्वजनास्वजनोद्धारसंहारौ न तया विना ॥ २ ॥

मन्त्री, श्रेष्ठी, सेनानी इत्यादि व्यापार भी सर्व नृपसेवा

के अंतर्भूत ही हैं। परन्तु जेलखाने का दारोगादि, नगर का कोटवाल, सीमापाल इत्यादि नौकरी न करनी चाहिये, क्योंकि यह नौकरी निर्दयी लोगों के करने की है; तिस वास्ते श्रावक को नहीं करनी। जेकर कोई श्रावक राज्याधिकारी हो जावे, तो वस्तुपालादिक मन्त्रियों की तरें महाधर्म कीर्त्ति का करनेवाला होवे। श्रावक मुख्यवृत्ति करके तो सम्यग्‌दृष्टि की ही नौकरी करे।

७. भीख मांगने से आजीविका है। सो भीख मांगने के भी अनेक भेद हैं। तिन में धर्मोपष्टंभ मात्र आहार, वस्त्र, पात्रादिक की भिक्षा लेवे। सो भी जिस साधु ने सर्व संसार और परिग्रह का संग त्यागा है, तिस को मांगनी उचित है। क्योंकि उसकी भीख मांगने के सिवाय और गति नहीं है। श्रीहरिभद्रसूरिजी ने पांचमे अष्टक में भिक्षा तीन प्रकार की लिखी है। प्रथम भिक्षा सर्वसंपत्करी, दूसरी पौरुषघ्नी, तीसरी वृत्तिभिक्षा है। जो साधु परिग्रह का त्यागी, धर्म ध्यान संयुक्त, जिनाज्ञासहित होने से षट्काय के आरम्भ से रहित है तिसकी भिक्षा सर्वसंपत्करी है। तथा जो साधु तो बन गया है, परन्तु साधु के गुण उसमें नही हैं, तथा जो गृहस्थावास में लष्टपुष्ट, षट्काय का आरम्भी, पडिमा वहे बिना का श्रावक तथा और गृहस्थ जो मांग के खावे, तिस की पौरुषघ्नी भिक्षा है। वो पुरुष धर्म की लाघवता का करनेवाला है, पूर्वजन्म में जिनाज्ञा का खण्डन करनेवाला

है, आगे अनंत जन्म लग दुःखी रहेगा। तथा जो निर्धन, अंधा, पांगला, असमर्थ और कोई काम करने में समर्थ नहीं, वो भीख मांग के खावे, तो तीसरी वृत्तिभिक्षा है। यह भिक्षा दुष्ट नहीं। इस भीख के मांगने से लघुतादि धर्म के दूषण नहीं होते हैं। क्योंकि जो इनको देता है, वो अनुकंपा-दया करके देता है, देनेवाला पुण्य उपार्जन करता है। इस वास्ते गृहस्थ को भीख न मांगनी चाहिये। धर्मी श्रावक को तो विशेष करके भीख न मांगनी चाहिये। भिक्षा मांगने से धर्म की निंदा, अरु धर्म की निंदा से दुर्लभबोधी होता है। भीख मांगने से उदर पूर्ण तो हो जाता है, परन्तु लक्ष्मी नहीं होती है। यतः—

> लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये, किंचिदस्ति च कर्षणे।
> अस्ति नास्ति च सेवायां, भिक्षायां न कदाचन॥

यह बात मनुस्मृति के चौथे अध्याय में भी लिखी है।

व्यापार और व्यवहार नीति — तथा जब वाणिज्य करे, तब कष्ट में सहायक, पूंजी का बल, स्वभाग्योदय, देश, काल, देख के करे। वाणिज्य करने लगे, परन्तु पहिले थोड़ा करे, पीछे लाभ जाने तो यथा-योग्य करे। कदाचित निर्वाह के न हुए खरकर्म भी करे, तो भी अपने आप को निंदता हुआ करे। विना देखा विना परीक्षा के सौदा न लेवे। जो सौदा संदेहवाला

होवें वो बहुतों के साथ मिल कर लेवे । जहां स्वचक्र पर-चक्रादि का उपद्रव न होवे, अरु धर्म की सामग्री होवे, तिस क्षेत्र में व्यापार करे ।

काल से तीन अट्ठाई और पर्वतिथि के दिन व्यापार न करे । जो वस्तु वर्षा काल के साथ विरोधी होवे, सो त्यागे । भाव से जो क्षत्रिय जाति का व्यापारी राजा प्रमुख होवे, तिसके साथ व्यापार न करे । अपने विरोधी को उधारा न देवे । तथा नट, विट, वेश्या, जुआरी प्रमुख को तो विशेष करके उधारा नहीं देवे । हथियारबंध के साथ तथा व्यापारी ब्राह्मण के साथ लेनदेन न करे । मुख्य तो अधिक मोल का गहना रख के व्याजु देवे, क्योंकि उससे मांगने का क्लेश, विरोध, धर्महानि, धनिरणादिक कष्ट नही होते हैं । जेकर ऐसे निर्वाह न होवे, तब सत्यवादी को व्याजु उधार देवे । व्याज भी एक, दो, तीन, चार, पांच प्रमुख सैकड़े पीछे महीने में भले लोक जिसको निंदे नहीं, ऐसा लेवे ।

जेकर देना होवे तदा करार पर विना मांगे ही देना चाहिये । कदाचित् निर्धनपने से एक वार में न दे सके, तो किमत प्रमाणे तो ज़रूर दे देवे । क्योंकि देना किसीका न रखना चाहिये । यदुक्तम्—

धर्मारंभे ऋणछेदे, कन्यादाने धनागमे ।
शत्रुघातेऽग्निरोगे च, कालक्षेपं न कारयेत् ॥

जेकर देना न उतरे, तब उसका नौकर रहकर भी देना उतार देवे। नहीं तो भवांतर में उसका कर्मकर-चाकर, महिष, बैल, ऊंट, खर, खच्चर, घोड़ा, प्रमुख बन कर देना पड़ेगा। लेनेवाला भी जब जान लेवे कि, यह देने में समर्थ नहीं, तब बिलकुल मांगना छोड़ देवे। ऐसे कहे कि, जब तू देने में समर्थ होवेगा तब दे देना, नहीं तो यह धन मैं कुछ अपने धर्म में लगाया, वही में लिख लेता हूं, तेरे से मैं कुछ नहीं लेऊंगा।

श्रावक को मुख्यवृत्ति से तो धर्मी जनों से ही व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि दोनों पासे धन रहेगा तो धर्म में लगेगा। अरु किसी म्लेच्छ पास धन रह जावे, तदा व्युत्सर्जन कर देवे। व्युत्सर्जन करे पीछे जेकर वो म्लेच्छ फिर धन दे देवे, तदा वो धन धर्म में खरचने के वास्ते संघ को सौंप देवे, अरु व्युत्सर्जन करा है, ऐसा भी कह देवें। ऐसे ही जो कोई वस्तु खोई जावे, अरु ढूंढने से न मिले, तो तिस वस्तु का भी व्युत्सर्जन कर देवे। पीछे कदाचित् अपने पास धनहानि हो जावे, धन की अप्राप्ति हो जावे, तो भी खेद न करे; क्योंकि खेद का न करना, यही लक्ष्मी का मूल कारण है।

बहुत धन जाता रहे, तो भी धर्म करने में आलस न करे, क्योंकि संपदा अरु आपत् बड़े आदमी को ही होती है। सदा एक सरीखे दिन किसी के नहीं जाते हैं, पूर्व जन्म

जन्मांतर के पुण्यपापोदय से संपदा, विपदा होती है, इस वास्ते धैर्य का अवलंबन करना श्रेष्ठ है। यदा अनेक उपाय करने से भी दरिद्र दूर न होवे, तदा किसी भाग्यवान् का आधार लेवे, अर्थात् सांजी वन के व्यवहार करे; क्योंकि काष्ठ के संग से लोहा भी तर जाता है।

जेकर बहुता धन हो जावे, तदा अभिमान न करे, क्योंकि लक्ष्मी के साथ पांच वस्तु होती हैं—१. निर्दयत्व, २. अहंकार, ३. तृष्णा, ४. कठिन वचन बोलना, ५. वेश्या, नट, विट, नीच पात्र, वल्लभ होते हैं। इस वास्ते बहुत धन हो जावे, तो इन पांचों को अवकाश न देवे। किसी के साथ लड़ाई न करे, जबरदस्त के साथ तो विशेष कर के लड़ाई नहीं करे। तथा—१. धनवंत, २. राजा, ३. पक्षवाला, ४. बलवान्, ५. दीर्घरोषी, ६. गुरु, ७. नीच, ८. तपस्वी, इन आठों के साथ वाद न करे। जहां तक नरमाई से काम बने, तहां तक कठिनाई न करे। लेने देने में भ्रांति भूलादिक से अन्यथा हो जावे, तो विवाद न करे, किंतु न्याय से झगड़ा मिटावे। न्याय करनेवाले को भी निर्लोभी पक्षपात रहित होना चाहिये। तथा जिस वस्तु के महंगे होने से प्रजा को पीड़ा होवे ऐसी वस्तु के महंगे होने की चिंता न करे। परन्तु कर्मयोग से दुर्भिक्षादिक हो जावे, तब भी सौदे में दुगने तिगने लाभ हो जावे, तदा अन्न में अधिक न लेवे।

तथा एक, दो तीन, चार, पांच रुपये सैंकडे से अधिक व्याज न लेवे। किसी का गिर पड़ा धन न लेवे। तथा कालांतर में क्रयविक्रयादि में देशकालादि की अपेक्षा से उचित शिष्टजन अनिंदित लाभ होवे, सो लेवे। यह कथन प्रथम पंचाशकसूत्र में है। तथा खोटा तोल, खोटा मांप, न्यूनाधिक वाणिज्य रस में भेलसंभेल न करे। वस्तु का अनुचित मोल, अनुचित व्याज, लंचा अर्थात् घूस, कोड़वट्टी न लेवे। घिसा हुआ तथा खोटा रूपकादि किसी को खरे में न देवे। दूसरों के व्यापार में भंग न करे—ग्राहक न बहकावे। वानगी और न दिखावे, अंधेरा करके वस्तु न वेचे, जाली खत–पत्रादि न बनावे। इत्यादि परवंचनपने को वर्जे। सर्वथा प्रकारे व्यवहारशुद्धि करे, क्योंकि व्यवहारशुद्धि ही गृहस्थधर्म का मूल है।

तथा स्वामिद्रोह, मित्रदोह, विश्वासघात, बालद्रोह, वृद्धद्रोह और देवगुरुद्रोह न करे। तथा थापणमोसा न करे। ये सर्व महापाप के काम हैं, अतः इन को वर्जे। तथा कूड़ी साक्षी, रोष, विश्वासघात, कृतघ्नपना, ये चारों कर्म चण्डालपने के हैं, तिनको वर्जे। झूठ सर्व पापों से बड़ा पाप है, इस वास्ते झूठ सर्वथा न बोले। न्यास से धन उपार्जन करे।

जो अन्यायी लोग सुखी दीखते हैं, वो अन्याय से सुखी नहीं हैं। किंतु उनके पूर्वजन्म के पुण्य के फल से सुखी हैं, क्योंकि कर्मफल चार तरे का है। जैसे कि श्रीधर्म-

घोषसूरिजी ने कहा है—एक पुण्यानुबन्धी पुण्य है, दूसरा पापानुबन्धी पुण्य है, तीसरा पुण्यानुबन्धी पाप है, चौथा पापानुबन्धी पाप है। यह चार प्रकार जो हैं, तिनको किंचित् विस्तारपूर्वक कहते हैं—

१. जिस ने जिनधर्म की विराधना नहीं की, किंतु संपूर्ण रीति से आराधन किया है, सो संसार में—भवांतर में महासुखी धनाढ्य उत्पन्न होवे, भरत बाहुबल की तरे, सो पुण्यानुबन्धी पुण्य है।

२. जो पुरुष नीरोगादि गुणयुक्त होवे, अरु धनाढ्य भी होवे, परन्तु कोणिक राजा की तरे पाप करने में तत्पर होवे; यह पुण्य पूर्व भव में अज्ञान कष्ट करने से होता है, सो पापानुबन्धी पुण्य है।

३. जो पुरुष पाप के उदय से दरिद्री अरु दुःखी होवे, परन्तु श्रीजिनधर्म में बड़ा अनुरक्त होवे, धर्म करने में तत्पर होवे; सो पुण्यानुबन्धी पाप है। यह द्रुमकमहर्षिवत् पूर्व भव में लेश मात्र दया आदि सुकृत करने से होता है।

४. पापी प्रचण्ड कर्म के करनेवाला विधर्मी, निर्दय, पाप करके पश्चात्ताप रहित, यह पुरुष दुःखी है, तो भी पाप करने में तत्पर है, सो पापानुबन्धी पाप है, काल-सौकरिकादिवत्।

तथा बाह्य जो नव प्रकार की परिग्रह रूप ऋद्धि, अरु अन्तरंग, जो आत्मा की अनंत गुणरूप ऋद्धि है, सो पुण्या-

नुबन्धी पुण्य से होती है। अतः जेकर कोई जीव पापा-नुबंधी पुण्य के प्रभाव से इस लोक में सुखी भी दीखता है, तो भी अगले भव में महा आपदा को प्राप्त होगा। अरु जो महसूल की चोरी है, सो स्वामिद्रोह में है। यह चोरी इस लोक अरु परलोक में अनर्थ की दाता है। जिस में दूसरों को पीड़ा होवे, ऐसा व्यवहार न करे। यतः—

शाठ्येन मित्रं कपटेन धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावम्।
सुखेन विद्यां परुषेण नारीं, वांछंति ये व्यक्तमपंडितास्ते॥

तथा जिस तरे लोगों को रागभाव होवे तैसे यत्न करे। यतः—

जितेंद्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यंते, जनानुरागप्रभवा हि संपदः॥

तथा धनहानि, वृद्धि, संग्रहादि, गुह्य, दूसरों के आगे प्रकाश न करे। यतः—

स्वकीयं दारमाहारं, सुकृतं द्रविणं गुणम्।
दुष्कर्ममर्म मन्त्रं च, परेषां न प्रकाशयेत्॥

तथा झूठ भी न बोले, जेकर राजा गुरु आदिक पूछे, तो सत्य कह देवे, सत्य बोलना ही पुरुषत्व की परम दशा है।

तथा यथार्थ कहने से मित्र का मन हरे, तथा बांधव-

जनों को सन्मान से वश करे, तथा स्त्री को प्रेम से वश करे, तथा चाकरों को दान देने से वश करे, तथा दाक्षिण्यता करके इतर लोगों का मन हरे, तथा किसी जगे अपने कार्य की सिद्धि करने के वास्ते दुष्ट जनों को भी अगुवा—अगाडी करे। तथा जिस जगे प्रीति होवे, तहां लेने देने का व्यापार न करे, यह कथन सोमनीति में भी है।

तथा साक्षी के विना मित्र के घर में भी धनादिक न रखना चाहिये, क्योंकि लोभ बड़ा दुर्दांत है। तथा जो धन रखनेवाला मर जावे तो वो धन उसके पुत्रादि को दे देना चाहिये। जेकर धन रखनेवाले का कोई भी संबंधी न होवे, तब वो धन सर्व लोगों के समक्ष धर्मस्थान में लगा देवे। तथा श्रावक, देवगुरु, चैत्य, जिनमन्दिर की चाहे सच्ची, चाहे झूठी भी शपथ अर्थात् सौगंद न खावे। तथा दूसरों का साक्षी भी न बने। कार्पासिक ऋषि कहते हैं—

अनीश्वरस्य द्वे भार्ये, पथि क्षेत्रं द्विधा कृषिः।
प्रातिभाव्यं च साक्ष्यं च, पंचानर्थाः स्वयं कृताः॥

तथा श्रावक मुख्यवृत्ति से तो जिस गाम में रहे, तहां ही व्यापार करे, क्योंकि ऐसे करने से कुटुम्ब का अवियोग तथा घर का कार्य अरु धर्मकार्यादिक सर्व बने रहते हैं। कदापि अपने गाम में निर्वाह न होवे, तदा निकट देशांतर में व्यवहार करे। जहां से कोई योग्य काम पड़े

तो शीघ्र घर में आजावे। ऐसा कौन पामर है कि जिस का स्वदेश में निर्वाह होवे, तो भी परदेश में जावे? कहा भी है—

जीवंतोऽपि मृताः पंच, श्रूयंते किल भारत !।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः, प्रवासी नित्यसेवकः ॥

जेकर निर्वाह न होवे, तदा आप तथा पुत्रादिकों को परदेश में न भेजे, किंतु सुपरीक्षित गुमास्ते को भेजे। जेकर स्वयमेव देशांतर में जावे, तदा भला मुहूर्त्त शकुन निमित्त देख के अरु देव गुरु को वंदना करके, मंगलपूर्वक भाग्यवान् साथ के बीच में, निद्रादि प्रमाद वर्ज के कितनेक अपने ज्ञातियों को साथ लेकर जावे। क्योंकि भाग्यवान् के साथ जाने से विघ्न टल जाता है। तथा लेना, देना, गड़ा हुवा धन, सर्व, पिता, भाई, पुत्रादिकों को कह जावे। अपने सम्बंधियों को भली शिक्षा दे जावे। बहुमानपूर्वक सर्व को बोला के जावे। परन्तु जो जीवने की इच्छा होवे, तो देव गुरु का अपमान करके, किसी को निर्भर्त्स के, स्त्री आदि को ताड़ना कूटना करके, वालक को रुदन करवा करके न जावे। कदापि कोई पर्व महोत्सवादि का दिन निकट होवे, तदा उत्सव करके जावे। यतः—

उत्सवमशनं स्नानं प्रगुणं चोपेक्ष्य मंगलमशेषम् ।
असमापिते च सूतकयुगेऽगनर्त्तौ च नो यायात् ॥

तथा दूध पीके, मैथुन करके, स्नान करके, अपनी स्त्री को मारपीट करके, वमन करके, थूक के, रुदन करके, कठिन शब्द सुन के, गालियां सुन के प्रदेश को न जावे । तथा शिर मुंडन करवा के, आंसु गिरा के, खोटे शुकन के हुये ग्रामांतर को न जावे ।

तथा कार्य के वास्ते जब चले, तब कौनसा स्वर वहता होवे, उस पासे का पग पहिले उठा के धरे, जिस से कार्य-सिद्धि होवे । तथा रोगी, बूढ़ा, ब्राह्मण, अंधा, गौ, पूजनिक, राजा, गर्भवती स्त्री, भार उठानेवाला, इन को कुछ दे कर ग्रामांतर में जावे । तथा धान्य पक्का वा कच्चा पूजा योग्य मंत्रमंडल, इन को त्यागे नहीं । तथा स्नान का जल, रुधिर, मुरदा, थूंक, श्लेष्म, विष्टा, मूत्र, बलती अग्नि, सांप, मनुष्य, शस्त्र, इन को उलंघे नहीं । तथा नदी के कांठे, गौओं के गोकुल में, बड़ वृक्ष के हेठ, जलाश्रय में, अरु कूप कांठे में विष्टा न करे, तथा रात्रि को वृक्ष हेठ न रहे, उत्सव, सूतक पूरा हुये परदेश को जावे । विना साथ के न जावे, दास के साथ न जावे, मध्यान्ह में तथा अर्ध रात्रि में मार्ग में न चले । तथा क्रूर प्रकृतिवाला मनुष्य, कोटवाल, चुगल, दरजी, धोबी प्रमुख अरु कुमित्र, इतनों के साथ गोष्ठी न करे । इनों

के साथ अकाल में चले नहीं। तथा महिष, गर्दभ, अरु गौ, इन की सवारी न करे। तथा हाथी से हज़ार हाथ, गाडे से पांच हाथ अरु घोडे तथा सींगवाले जनावरों से भी पांच हाथ दूर रहे। तथा खरची विना रस्ते में न चले। बहुत सोवे नहीं। रस्ते में किसी का विश्वास न करे। अकेला किसी के घर में न जावे। जीर्ण नाव पर चढे नहीं। एकला नदी में प्रवेश न करे। कठिन जगा में उपाय बिना न जावे। अगाध पानी में प्रवेश न करे। जहां बहुते क्रोधी होवें, अरु बहुते सुखों के इच्छुक होवें, तथा जहां घणे सूम होवें; ऐसे साथ के साथ कदापि परदेश में न जावे। तथा बांधने के, मरने के, जूआ खेलने के, पीड़ा के, खजाने के, अंतेउर के स्थान में न जावे। तथा बुरे स्थान में, श्मशान में, शून्यस्थान में, चौक में, सूखे घास में, कूडे में, ऊंची नीची जगा में, उकरूडी में, वृक्षाग्र में, पर्वताग्र में, नदी के कांठे में, कूप के कांठे में, बैठे नहीं। तथा जो जो कृत्य जिस जिस काल में करना है, सो करे, परन्तु छोडे नहीं।

तथा पुरुष को जो भले वस्त्रादि पहरने का आडंबर चाहिये सो न छोडे। परदेश में तो विशेष करके आडम्बर नहीं छोड़ना, क्योंकि आडम्बर से अनेक कार्य सिद्ध हो जाते हैं। तथा जो कार्य करना हो सो पंचपरमेष्ठिस्मरणपूर्वक तथा गौतमादि गणधरों का नामग्रहणपूर्वक करे। तथा देव गुरु की भक्ति के वास्ते धन की कल्पना करे। क्योंकि

जब धन कमाने का प्रारम्भ करना, तब ही नफे में से इतना हिस्सा सात क्षेत्र में लगाऊंगा; ऐसी भावना जरूर करनी चाहिये।

यदा लाभ हो जावे, तदा चिंता के अनुसार अपने मनोरथ को सफल करे, क्योंकि व्यापार का फल यह हैं कि, धन होना, अरु धन होने का फल यह है कि, धर्म में धन लगाना, नहीं तो व्यापार करना नरक तिर्यंचगति का कारण है। जेकर धर्म में खरचे, तो धर्मधन कहा जावे, जेकर नहीं खरचे तो पापधन कहा जावे। क्योंकि ऋद्धि तीन प्रकार की है–एक धर्म ऋद्धि, दूसरी भोग ऋद्धि, तीसरी पाप ऋद्धि। उस में जो धर्मकार्य में लगावे, सो धर्म ऋद्धि तथा जो शरीर के भोग में आवे सो भोगऋद्धि, अरु धर्म तथा भोग से जो रहित, सो पाप ऋद्धि जाननी। इस वास्ते नित्य प्रति स्वधन को दानादि धर्म में लगाना चाहिये। जेकर थोड़ा धन होय तो थोड़ा लगावे, क्योंकि किसी को ही इच्छानुसारिणी शक्ति होती है। तथा धन उत्पन्न करने का उपाय नित्य करना चाहिये, परन्तु अत्यन्त लोभ न करना चाहिये। तथा धर्म, अर्थ, अरु काम यथा अवसर में सेवना; परन्तु अत्यन्त कामासक्त न होना चाहिये। अरु जो धन उत्पन्न करना सो भी न्याय से उत्पन्न करना चाहिये। यहां पर जो न्यायार्जित धन सत्पात्र में देना, लगाना है, तिस के चार भंग हैं। यथा—

न्यायोपार्जित सत्पात्रविनियोगरूप प्रथम भंग । इस का पुण्यानुबन्धी पुण्य का हेतु होने से वैमानिक देवतापना, भोगभूमि, मनुष्यपना, सम्यक्त्वादि की प्राप्ति और निकट मोक्षफल है । धनसार्थवाह तथा शालिभद्रादिवत् ।

न्यायोपार्जित असत्पात्रविनियोगरूप दूसरा भंग । इनका पापानुबन्धी पुण्य का हेतु होने से भोग मात्र फल भी है, तो भी छेकड़ में विरस फल है । जैसे लक्ष भोज्य करनेवाला ब्राह्मण बहुत भवों में किञ्चित्सुख भोग के सेचनक नामा सर्वांग सुलक्षण भद्र हस्ती हुआ ।

अन्याय से आया सत्पात्रपरिपोषरूप तीसरा भंग है । तिसका अच्छे खेत में जैसे सामक बो देनेवत् फल है । यह सुखानुबन्धी होने करके राजा के कारभारियों के बहुत आरम्भोपार्जित धनवत् है । परन्तु ऐसा धन भी धर्म में लगावे, तो अच्छा है । आबू के पर्वत पर जिनमन्दिर बनानेवाले विमलचन्द्र अरु तेजपाल मन्त्री की तरे जेकर ऐसा धन भी धर्म में न लगावे, तो दुर्गति अरु अकीर्त्ति ही इस का फल है, मम्मन शेठवत् ।

अन्यायार्जित कुपात्रपोषरूप चौथा भंग है । यह भंग सर्वथा त्यागने योग्य है, क्योंकि अन्यायार्जित जो धन कुपात्र को देना, सो ऐसा है कि, जैसा गौ को मार के उस के मांस कागों का पोषण करना । इस वास्ते गृहस्थ को न्याय से ही धनोपार्जन करना चाहिये ।

श्राद्धदिनकृत्य सूत्र में लिखा है कि, व्यवहारशुद्धि जो है, सो ही धर्म का मूल है। जिसका व्यापार शुद्ध है, उसका धन भी शुद्ध है, जिसका धन शुद्ध है, उसका आहार शुद्ध है, जिसका आहार शुद्ध है उसकी देह शुद्ध है, जिस की देह शुद्ध है, वो धर्म के योग्य है। ऐसा पुरुष जो जो कृत्य करे, सो सर्व ही सफल होवे। अरु जो व्यवहार शुद्ध न करे, वो धर्म की निंदा कराने से स्वपर को दुर्लभबोधी करे। इस वास्ते व्यवहारशुद्धि जरूर करनी चाहिये।

देशादि विरुद्ध का त्याग

तथा देशादि विरुद्ध को त्यागे, अर्थात् देश, काल, राजविरुद्धादि को परिहारे। यह कथन हितोपदेशमाला में भी है कि, देश, काल, राज, अरु धर्म विरुद्ध जो त्यागे, सो पुरुष सम्यग् धर्म को प्राप्त होता है। तिन में—

१. देशविरुद्ध—जैसे कि सौवीर देश में खेती करनी। लाट देश में मदिरा बनानी, यह देशविरुद्ध है। तथा और भी जो जिस देश में शिष्टजनों के अनाचीर्ण है, सो तिस देश में विरुद्ध जानना। जाति, कुलादि की अपेक्षा जो अनुचित होवे, सो भी देशविरुद्ध है। जैसे ब्राह्मण जाति को सुरापान करना, तिल लवणादि बेचना, सो कुलापेक्षा विरुद्ध है। तथा जैसे चोहाण को मद्यपान करना, तथा और देशवालों के आगे और देशवालों की निन्दा करनी, यह भी देशविरुद्ध है।

२. कालविरुद्ध—सो जैसे हिमालय के पास अत्यन्त शीत में, गर्मी के समय जंगल तथा मरुदेश में, वर्सात में अत्यन्त पिच्छिल—पंक संयुक्त दक्षिण समुद्र के पर्यंत भागों में, तथा अति दुर्भिक्ष में, दो राजाओं के परस्पर विरोध में, तथा धाड़ ने जहां रस्ता रोका होवे, दुरुचार महाअटवी में, सांझ की वेला भय स्थान में, इतने स्थानकों में तैसा सामर्थ्य सहायादि दृढ वल विना जावे, तो प्राण, धन-नाशादि अनर्थकारी है। तथा फाल्गुन मास पीछे तिलों का व्यापार, तिल पीलाने, तिल भक्षण करने। वर्षा ऋतु चौमासे में पत्र शाक का ग्रहण करना, तथा वहुजीवाकुल भूमि में हल फिराना, यह महादोष के कारण हैं। यह सर्व कालविरुद्ध जान लेना।

३. राजविरुद्ध यह है कि, राजा के दोष वोलना, जिस को राजा माने तिसको न मानना, तथा राजा के वैरियों से मेल करना, राजा के शत्रु के स्थान में लोभ से जाना, स्थान पर आये हुए राजा के शत्रु के साथ व्यापार करना, राजा के काम में अपनी इच्छा से विधि निषेध करना।

४. लोकविरुद्ध यह है कि, नगर-निवासियों के साथ प्रतिकूलता करनी, तथा स्वामिद्रोह करना, लोगों की निन्दा करनी, गुणवान् अरु धनवान् की निन्दा करनी, अपनी वड़ाई करनी, सरल की हांसी करनी, गुणवान् में मत्सर रखना, कृतघ्नता करना, वहुत लोगों का जो विरोधी

होवे, उसकी संगति करनी, लोकमान्य की अवज्ञा करनी, भले आचारवाले को कष्ट पड़े, तब राजी होना। अपनी शक्ति के हुये साधर्मी के कष्ट को दूर न करना, देशादि उचिताचार का लंघन करना, थोड़े धन के हुए गुण्डों का सा वेष रखना, मैले वस्त्र पहिरने, इत्यादि लोकविरुद्ध है। यह सर्व इस लोक में अपयश का कारण है।

यदुवाच वाचकमुख्यः—

लोकः खल्वाधारः सर्वेषां धर्मचारिणां स्यात्।
तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम्॥

अर्थः—उमास्वाति पूर्वधारी आचार्य कहते हैं कि, सर्व धर्म करनेवालों का लोक—जन समुदाय आधार है, तिस वास्ते लोकविरुद्ध अरु धर्मविरुद्ध यह दोनों त्यागने योग्य हैं, क्योंकि ऐसे करने से धर्म का सुखपूर्वक निर्वाह होता है। लोगविरुद्ध के त्यागने से सर्व लोगों को वल्लभ होता है, अरु जो लोगों को वल्लभ होना है, सोई सम्यक्त्वतरु का बीज है।

५. धर्मविरुद्ध—मिथ्यात्व की करनी, सर्व गौ आदिक को निर्दय हो के ताड़ना, बांधना, जूं, माकड़ादि को निराधार गेरना, धूप में गेरना, सिर में कंघी से लीख फोड़नी। उष्ण काल में तथा शेष काल में चौड़ा, लम्बा, गाढ़ा गलना पानी गलने के वास्ते न रखना। पानी छान के पीछे जीवों को

युक्ति से पानी में न गेरना। तथा अन्न, इंधन, शाक, दाल, तांवूल, अरु फलादिकों को विना शोधे खाना। तथा अक्षत, सोपारी, खारीक, वारह, उलि, फलि, प्रमुख सम्पूर्ण मुख में गेरे। टूटी के रास्ते तथा पानी आदिक को धारा बांध कर पीवे। तथा चलने में, बैठने में, स्नान करते, हरेक वस्तु रखते, लेते, रांधते, धान छड़ने, पीसते, औपधि घिसते, तथा मूत्र, श्लेष्म, कुरलादि का जल, तंबोल का ऊगाल गेरते, उपयोग न करे। तथा धर्म में अनादर करे। देव, गुरु, अरु साधर्मी से द्वेष करे। जिनमंदिर का धन खावे। अधर्मी की संगति करे। धर्मियों का उपहास करे। कपाय बहुलता होवे। तथा बहुत पापकारी क्रय विक्रय खर कर्म करना, पाप की नौकरी करनी। इत्यादि सर्व धर्मविरुद्ध है। यह पांच प्रकार का विरुद्ध श्रावक को त्यागना चाहिये।

अथ उचित आचरण कहते हैं। उचित आचरण पिता आदि विषय भेद से नव प्रकार का है। तथा स्नेहवृद्धि और कीर्त्यादि का हेतु है। सो हितोपदेशमाला ग्रंथ से लिखते हैं। एक पिता के साथ उचित, दूसरा माता के साथ उचित, तीसरा भाइयों के साथ, चौथा स्त्री के साथ, पांचमा पुत्र के साथ, छट्ठा स्वजन के साथ, सातमा गुरु के साथ, आठमा नगरवालों के साथ, नवमा परतीर्थी अर्थात् दूसरे मतवालों के साथ, इन नव के साथ उचित आचरण करना।

पिता के साथ उचित आचरण—सो मन, वचन अरु काया करके तीन प्रकार से है। तिस में काया करके तो पिता के शरीर की शुश्रूषा करे, किंकर दास की तरे विनय करे। विना मुख से निकला हीं पिता का वचन प्रमाण करे। पिता के शरीर की शुश्रूषा करे, पिता के चरण धोवे, मुट्ठी चांपी करें, उठावे, बैठावे। देश काल उचित भोजन, शय्या, वस्त्र, शरीर विलेपनादिका योग मिलावे। विनय से करे, आग्रह से न करे, आप करें, नौकरों से न करावे। पिता के वचन को प्रमाण करने के वास्ते श्रीरामचन्द्रजी राज्याभिषेक छोड़ के वनवास में गये। तथा पिता का वचन सुना अनसुना न करे। मस्तक धुनना और कालक्षेप भी न करे। पिता के मन के अनुसार प्रवर्त्ते तथा सर्व कृत्यों में यत्नपूर्वक जो अपने मन में कार्य करना उत्पन्न हुआ है, सो पिता के आगे कह देवे। पिता के मन को जो कार्य गमे, सो करे। क्योंकि माता, पिता, गुरु, बहुश्रुत, ये आराधे हुये, सर्व कार्य का रहस्य प्रकाश देते हैं। माता, पिता, कदाचित् कठिन वचन भी बोले, तो भी क्रोध न करे। जो जो धर्म का मनोरथ माता पिता के होवे, सो सो पूरा करे। इत्यादि माता पिता के साथ उचित आचरण करे।

पिता से उचित व्यवहार

माता के साथ उचित आचरण—सो भी पितावत् करे,

माता से उचित व्यवहार

परन्तु माता के मनोरथ पिता से भी अधिक पूरे । देवपूजा, गुरुसेवा, धर्म सुनना, देशविरति अंगीकार करनी, आवश्यक करना, सात क्षेत्रों में धन लगाना, तीर्थयात्रा, अनाथ, दीन का उद्धार करना, इत्यादि माता के मनोरथ विशेष करके पूर्ण करे; क्योंकि यह करने योग्य ही है। ये पूर्वोक्त कृत्य भले-सपूत पुत्रों के हैं। इस लोक में गुरु, माता पिता है, सो माता पिता को जो पुत्र श्री अर्हत के धर्म में जोड़े, तो ऐसा और कोई उपकार जगत् में नहीं है। उस पुत्र ने माता पिता का सर्व ऋण दे दिया, और किसी प्रकार से भी माता पिता का देना पुत्र नहीं दे सकता है। यह कथन श्रीस्थानांग सूत्र में है।

अब इस मात पिता के उचिताचरण में जो विशेष है, सो लिखते हैं। माता के चित्त के अनुसार प्रवर्त्ते, क्योंकि स्त्री का स्वभाव ही ऐसा होता है कि, जल्दी पीड़ा को प्राप्त हो जाना। इस वास्ते जिस काम से माता को पीड़ा होवे, सो काम न करे। क्योंकि पिता से भी माता विशेष पूज्य है।

यन्मनुः—

उपाध्यायान् दशाचार्या, आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता, गौरवेणातिरिच्यते ॥

[अ० २, श्लो० १४५]

तथा औरों ने भी कहा है कि, जहां तक दूध पीवे, तहां तक यह अपनी माता है, ऐसे पशु जानते हैं, तथा जब तक स्त्री की प्राप्ति नहीं हुई, तब तक अधम पुरुष माता जानते हैं, तथा जहां तक घर का काम करे, तहां तक मध्यम पुरुष माता जानते हैं, अरु तहां तक जीवे, जहां तक तीर्थ की तरे माता को उत्तम पुरुप मानते हैं। पशुओं की माता पुत्र से सुख मानती है। धन का उपार्जन करे तो मध्यम पुरुष की माता सुख मानते है। तथा पुत्र वीर होवे, संपूर्ण धर्माचरण से युक्त होवे, निर्मल चरितवाला होवे, तब उत्तम पुरुप की माता संतोष पाते है।

३. अथ सहोदर के साथ उचित आचरण लिखते हैं—

भाई से उचित व्यवहार

बड़े भाई को तो पिता समान जाने, अरु छोटे भाई को सर्व कार्यों में माने। तथा जेकर दूसरी माता का वेटा होवे, तो जैसे श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की परस्पर प्रीति थी, तैसी प्रीति करना चाहिये। ऐसे ही बड़े भाई अरु छोटे भाई की स्त्रियों के साथ तथा पुत्र पुत्रियों के साथ भी उचिताचरण यथायोग्य करे। पृथग्भाव न करे। भाई को व्यापार में पूछे, उससे कोई छानी वात न रक्खे, तथा धन भी भाई से गुप्त न रक्खे। अपने भाई को ऐसी शिक्षा देवे, जिस से उसको कोई धूर्त्त न छल सके। जेकर भाई को खोटी संगति लग जावे, तथा अविनीत होवे, तदा

आप शिक्षा देवे, तथा भाई के मित्र पासों उलांभा दिलावे। तथा सगे सम्बन्धियों से शिक्षा दिलावे; काका से, मामा से, सुसरासे, इन के पुत्रों से अविनीत भाई को शिक्षा दिलावे, अन्योक्ति करके शिक्षा दिलावे, परन्तु आप तर्जना न करे। अरु जेकर आप तर्जना करे, तब क्या जाने निर्लज्ज हो कर निर्मर्याद हो जावे, सन्मुख बोल उठे। तिस वास्ते हृदय में स्नेह सहित ऊपर से जब भाई को देखे, तब ऐसे जान पड़े कि भाई मेरे ऊपर बहुत नाराज़ है। जब भाई विनय-मार्ग में आ जावे, तदा निष्कपट मीठे वचन बोल के प्रेम बतावे। कदाचित् भाई अविनीतपना न छोड़े, तब चित्त में ऐसा विचारे कि इसकी प्रकृति ही ऐसी है, तब उदा-सीनपने से प्रवर्त्ते। तथा भाई की स्त्री अरु पुत्रों के साथ दान सन्मान देने में समदृष्टि होवे। तथा विमाता के पुत्र के साथ विशेष करके दान सन्मान प्रेमादि करे, क्योंकि उसके साथ थोड़ा भी अन्तर करे, तो उसको बेप्रतीति हो जावे, अरु लोगों में निन्दा होवे। ऐसे ही माता पिता अरु भाई के समान जो और जन हैं, तिनों के साथ भी यथोचित उचिता-चरण विचार लेना। यतः—

जनकश्चोपकर्त्ता च, यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदः प्राणदश्चैव, पंचैते पितरः स्मृताः ॥ १ ॥

राजपत्नी गुरोः पत्नी, पत्नीमाता तथैव च ।
स्वमाता चोपमाता च, पंचैता मातरः स्मृताः ॥ २ ॥

सहोदरः सहाध्यायी, मित्रं वा रोगपालकः ।
मार्गे वाक्यसखा यश्च, पंचैते भ्रातरः स्मृताः ॥ ३ ॥

इन का अर्थ सुगम है । तथा अपने भाई को धर्मकार्य में अवश्य प्रेरणा करे । भाई की तरे मित्र के साथ भी उचिताचरण करे ।

स्त्री से उचित व्यवहार

४. अथ स्त्री के साथ उचित कहते हैं—स्त्री विवाहिता के साथ स्नेह संयुक्त वचन बोल के स्त्री को अभिमुख करे । वल्लभ और स्नेह संयुक्त वचन, निश्चय प्रेम का जीवन हैं । तथा स्त्री पासों स्नान करावे, अपना स्नान पग-चंपी प्रमुख में स्त्री प्रति प्रवर्त्तावे । जब स्त्री विश्वास पा करके सच्चा स्नेह धरेगी, तब कदापि बुरा आचरण न करेगी । तथा देश काल कुटुंब के अनुसार धनादि उचित वस्त्राभरण देवे; क्योंकि अलंकार संयुक्त स्त्री लक्ष्मी की वृद्धि करती है । तथा स्त्री को रात्रि में कहीं जाने न देवे, तथा कुशील पुरुष की अरु पाखण्डी भगत योगी योगिनियों की संगति न करने देवे । स्त्री को घर के काम में जोड़ देवे । तथा राजमार्ग में वेश्या के पाड़े में न जाने देवे ।

यदि धर्मकृत्य पडिकमणा, सामायिकादिक करने के वास्ते धर्मशाला—उपाश्रय में जावे, तदा माता वहिंनादि सुशील धर्मिणी स्त्रियों की टोली में जावे आवे। घर का काम, दान देना, सगे सम्बन्धी का संन्मान करना, रसोई का करना, यह सब करे। तथा प्रभात समय में शय्या से उठावे, घर प्रमार्जन करे, दूध के वर्त्तन धोवे, चौकादि चुल्हे की क्रिया करे, तथा भांडे धोनें, अन्न पीसना, गौ, भैंस दोहनी, दही विलोना, रसोई करनी, खानेवालों को परोसना, जूठे वर्त्तन शुचि करने। सासु, भरतार, ननद, देवर, इतनों का विनय करना, इत्यादि पूर्वोक्त कामों में स्त्री को जोड़े अर्थात् काम करने में तत्पर करे। जेकर स्त्री को पूर्वोक्त कामों में न जोड़े, तब स्त्री चपलता से विकार को प्राप्त हो जाती है। काम में लगे रहने से स्त्री की रक्षा, गोपना होती है। तथा भरतार स्त्री के सन्मुख देखे, बोलावे, गुणकीर्त्तन करे, धन, वस्त्र, आभूषण देवे। जिस तरे स्त्री कहे, उस तरे करे। स्त्री को दूर न छोड़े। तब उस स्त्री का भरतार के ऊपर अत्यंत प्रेम हो जाता है, तथा स्त्री को न देखने से, अति देखने से, देख कर न बुलाने से, अपमान करने से, अहंकार करने से, इन पूर्वोक्त वातों से प्रेम टूट जाता है।

तथा भरतार बहुत परदेश में रहे, तब स्त्री कदाचित् अनुचित काम कर लेवे; इस वास्ते बहुत काल परदेश में

सी न रहना चाहिये। तथा स्त्री का अपमान न करे। स्त्री भूल जावे, तो शिक्षा देवे। रूस जावे, तो मना लेवे। तथा धन की हानि वृद्धि, घर का गुह्य, स्त्री के आगे प्रगट न करे। तथा क्रोध में आ करके दूसरी स्त्री न विवाहे, क्योंकि दो स्त्री करनी महादुःखों का कारण है। कदाचित् संतानादिक के वास्ते दो स्त्री भी कर लेवे, तदा दोनों पर समभाव से प्रवर्त्ते। तथा स्त्री किसी काम में भूल जावे, तदा ऐसी शिक्षा देवे कि, फिर वो स्त्री उस काम को न करे। तथा रूसी स्त्री को जेकर नहीं मनावे, तो सोमभट्ट की भार्या अंबावत् कूवें में गिर पड़े, इत्यादि अनर्थ करे। इस वास्ते स्त्री से सर्व काम, स्नेहकारी वचनों से करावे, न कि कठिनता से।

जेकर निर्गुण स्त्री मिले, तब विशेष करके नरमाई से प्रवर्त्ते, परन्तु स्त्री को घर में प्रधान न करे। जिस घर में पुरुष की तरें स्त्री प्रधानपना करे, वो घर नष्ट हो जाता है। यह कहना, बाहुल्य से है, क्योंकि कोई स्त्री तो ऐसी बुद्धिमती होती है कि, जेकर उसको पूछ के कार्य करे, तो बहुत गुण के वास्ते होता है। जैसे तेजपाल की भार्या अनूप देवी को तेजपाल अरु वस्तुपाल पूछ के काम करते थे। तथा स्त्री जब धर्मकार्यों में तप करे, चारित्र लेवे, उद्यापन करे, दान देवे, देवपूजा, तीर्थयात्रादि करे, तथा इन बातों के करने का मन में उत्साह धरे, तब धन देवे, सुशील सहायक दे के

उसका मनोरथ पूर्ण करे; परन्तु अंतराय न करे। क्योंकि स्त्री जो धर्मकृत्य करेगी उस में से पति को भी पुण्य होगा, क्योंकि पति उस कृत्य करने में बहुत राजी रहे है।

पुत्र से उचित व्यवहार

५. अथ पुत्र के साथ उचिताचरण लिखते हैं—पिता अपने पुत्र को बाल अवस्था में बहुत मनोज्ञ पुष्टाहार से पोषे, स्वेच्छापूर्वक नाना प्रकार की क्रीडा करावे। क्योंकि मनोज्ञ पुष्ट आहार देने से बालक के बुद्धि बल, अरु कांति की वृद्धि होती है। स्वेच्छा क्रीड़ा कराने से शरीर पुष्ट होता है। अरु अंगोपांग संकुचित नहीं होते हैं। नीति में कहा भी है—

लालयेत् पंच वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

तथा गुरु, देव, धर्म अरु सुखी स्वजन, इनकी संगति करावे। भली जाति, कुल आचार, शीलवान् ऐसे पुरुष के साथ मित्राचारी करावे। क्योंकि गुरु आदि का परिचय होने से बाल्यावस्था में भली वासनावाला हो जाता है, वल्कलचीरीवत्। जाति, कुल, आचारशील संयुक्त की मित्रता से, दैवयोग से कदापि अनर्थ भी आ पडे, तो भी भले मित्र की सहायता से कष्ट दूर हो जाता है। जैसे अभयकुमार के साथ मित्रता करने से आर्द्रकुमार को भली वासना हो गई। तथा जब अठारां वर्ष का पुत्र हो जावे, तब उसका विवाह

करे, क्योंकि बाल्यावस्था में वीर्यक्षय हो जाने से बुद्धि, पराक्रम अरु आयु अधिक नहीं होता है। सर्व जैनमत के शास्त्रों में ऐसे ही लिखा है कि, जब पुत्र को भोगसमर्थ जाने, तब पुत्र का विवाह करे। तथा जिस कन्या से विवाह करावे, उस कन्या का कुल, जन्म, रूप सरीखा होवे, तब विवाह करावे। तथा पुत्र के ऊपर घर का भार सर्व गेरे, घर का स्वामी बना देवे। तथा जिस कन्या में सरीखे गुण न होवें, उसके साथ विवाह करना महाविडंबना है। विवाह के भेद आगे लिखेंगे। जब पुत्र के ऊपर घर का भार होवेगा, तब चिंताक्रांत होने से कोई भी स्वच्छंद उन्मादादि न करेगा, क्योंकि वो जान जावेगा कि, धन बडे क्लेश से प्राप्त होता है; इस वास्ते अनुचित व्यय न करना चाहिये। ऐसा वो आप से आप जान जावेगा। परन्तु पुत्र की परीक्षा करके पीछे उसके ऊपर घर का भार डाले; जैसे प्रसेनजित राजा ने श्रेणिक पुत्र को दिया। तथा पुत्र की तरें पुत्री के साथ अरु भतीजादिक के साथ भी यथायोग्य उचित जान लेना। ऐसे ही बेटे की बहु के साथ भी धनश्रेष्ठी की तरें उचिताचरण करे। तथा प्रत्यक्षपने पुत्र की प्रशंसा न करे। तथा जब कष्ट पड़े, तब दुःख सुख की बात कहे। तथा आय व्यय का स्वरूप कहे। तथा पुत्र को राजसभा दिखावे, क्योंकि क्या जाने बिनाविचारे कोई कष्ट आ पड़े, तब क्या करे। तथा

कोई दुष्टजन उपद्रव कर देवे, तब राजसभा बिना छुटकारा नहीं होता है। यथा—

> गंतव्यं राजकुले, द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः ।
> यद्यपि न भवंत्यर्थास्तथाप्यनर्था विलीयंते ॥

तथा पुत्र को परदेश के आचार, व्यवहारादि से जानकार करे, क्योंकि प्रयोजन के वश से किसी काल में देशांतर में भी जाना पड़े, तो कोई कष्ट न होवे। तथा विमाता के पुत्र के साथ विशेष उचित करे।

स्वजन से उचित व्यवहार

६. अब सगों के साथ उचित करना लिखते हैं—पिता, माता, स्त्री के पक्ष के जो लोग हैं, तिन को स्वजन कहते हैं। इन स्वजनों का कोई घर के बड़े काम में तथा सदा काल सन्मान करे। तथा आप भी स्वजनों के काम में अग्रेश्वरी बने, जो स्वजन धनहीन होवे, रोगातुर होवे, तिसका उद्धार करे। क्योंकि स्वजन का जो उद्धार करता है, सो तत्त्व से अपना ही उद्धार करता है। तथा स्वजन के परोक्ष उनकी निंदा न करे, तथा स्वजन के बैरियों से मित्राचारी न करे। स्वजनादिक से प्रीति करती होवे, तदा शुष्क कलह, हास्यादि, वचन की लड़ाई न करे। स्वजन घर में न होवे, तो उसके घर में अकेला न जावे,

देव, गुरु, धर्म, अरु धन के कार्य में स्वजन के साथ शामिल रहे। जिस स्त्री का पति परदेश में गया होवे, ऐसे स्वजन के घर में अकेला न जावे। तथा स्वजनों के साथ लेने देने का व्यापार न करे। तथाहि—

यदीच्छेद्विपुलां प्रीतिं, त्रीणि तत्र न कारयेत्।
वाग्वादमर्थसम्बन्धं, परोक्षे दारदर्शनम्॥

तथा इस लोक के कार्य में स्वजनों के साथ एकचित्त रहे, अरु जिनमन्दिरादि कार्य में तो विशेष करके स्वजन से ही मिल के करे। क्योंकि ऐसे कार्य जेकर बहुतों से मिल के करे, तो ही शोभा है।

गुरु से उचित व्यवहार

७. अब गुरु उचित कहते हैं—धर्माचार्य के साथ उचित भक्ति अन्तरंग का बहुमान, वचन, काया का आवश्यक प्रमुख कृत्य करना। गुरु के पास शुद्ध श्रद्धापूर्वक धर्मोपदेश श्रवण करना। गुरु की आज्ञा माने। मन से भी गुरु का अपमान न करे, गुरु का अवर्णवाद किसी को बोलने न देवे। गुरु की प्रशंसा सदा प्रगट करे, गुरु की प्रत्यक्ष वा परोक्ष स्तुति करे। गुरु स्तुति जो है, सो अगणित पुण्यबंधन का कारण है। गुरु के छिद्र कदापि न देखे। गुरु से मित्र की तरे अनुवर्त्तन करे। गुरु के प्रत्यनीक–निंदक को सर्व शक्ति से निवारण करे। कदाचित्

गुरु प्रमाद के वश से कहीं चूक जावे, तब एकांत में हित-शिक्षा देवे, अरु कहे कि, हे भगवन्! तुम सरीखों को यह काम करना उचित नहीं। गुरु का विनय करे, गुरु के सन्मुख जावे, गुरु निकट आवे, तो आसन छोड़ के खड़ा हो जावे, गुरु को आसन देवे, गुरु की पगचम्पी करे। गुरु को शुद्ध, निर्दोष, वस्त्र, पात्राहारादि देवे। यह द्रव्योपचार है। अरु भावोपचार, सो गुरु का परदेश में सदा स्मरण करे।

नगरवासी से उचित व्यवहार

८. अब नगरनिवासी जनों का उचित कहते हैं—जिस नगर में रहे, उस नगर के निवासी जनों के साथ उचित इस प्रकार से करना। अपने सरीखी जिन व्यापारियों की वृत्ति होवे, उनके साथ जो एकचित्त से सुख, दुःख, व्यसन, कष्ट, राज के उपद्रवादि में बराबर रहे, उनके उत्साह में उत्साहवान् होवे। राजदरबार में किसी की चुगली न करे। तथा नगरनिवासियों से फटे नहीं। सर्व से मिल कर राज का हुकुम करे, क्योंकि जब निर्बल पुरुष बहुत इकट्ठे हो के कार्य करें, तब तृणरज्जुवत् बलवान् हो जाते हैं। जब विवाद हो जावे, तब निष्पक्ष हो के कार्य करे। किसी से लांच ले कर झूठा काम न करे। तथा किसी से थोड़ी सी लड़ाई हो जावे, तो उसकी राज में पुकार न करे। तथा राजा के कारभारियों से लेने देने का व्यापार न करे, क्योंकि उन लोगों को नाणा देने के अवसर में क्रोध

आजाता है, तब वो कोई और अनर्थ कर देते हैं। तथा समान-वृत्ति नागरों की तरे असमान वृत्तिवाले नगरनिवासियों के साथ भी यथायोग्य उचिताचरण करे।

९. अथ परतीर्थी—परमतवालों के साथ उचिताचरण लिखते हैं—जो पर मतवाला साधु भिक्षा के वास्ते घर में आवे, तो उसका उचित सत्कार करे। तथा राजा के माननीय का विशेष उचित करे। उचित कृत्य सो यथायोग्य दान देना। जेकर उन साधुओं के मन में भक्ति नहीं भी होवे, तो भी घर में मांगने आये को देना चाहिये; क्योंकि दान देना यह गृहस्थ का धर्म ही है। तथा महंत कोई घर में आ जावे, तो आसन, दान, सन्मुख जाना, उठ के खड़ा होना प्रमुख सत्कार करे। तथा परमतवाला किसी कष्ट में पड़ा होवे, तदा उसका उद्धार करे। दुःखी जीवों पर दया करे। पुरुषापेक्षा मधुर आलापादि करे। तथा अन्य-मतवाले को काम का पूछनादि करे, जैसे कि आप का आना किस प्रयोजन के वास्ते हुआ है? पीछे जो कार्य वो कहे, सो कार्य जेकर उचित होवे, तो पूरा कर देवे, तथा दुःखी, अनाथ, अन्धा, बधिर, रोगी प्रमुख दीन लोगों की दीनता को यथाशक्ति दूर करे।

परमतवाले से उचित व्यवहार

जो श्रावकादि पूर्वोक्त लौकिक उचिताचरण में कुशल नहीं होवे, तो वो जिनमत में भी क्योंकर कुशल होवेंगे?

तिस वास्ते अवश्य धर्मार्थियों को उचिताचरण में निपुण होना चाहिये।

अब अवसर में उचित बोलना, यह बड़ा गुणकारी है, तथा और भी जो कुशोभाकारी होवे, सो सामान्य शिष्टाचार त्यागे। विवेकविलास आदि में कहा है—जंभाई, छींक, डकार, तथा हसना, यह सब मुख ढ़ांक के करे। सभा के बीच नाक में अंगुली डाल के मैल न काढे, हाथ मोडे नहीं, पर्यस्तिका न करे, पग न पसारे, निद्रा विकथा न करे, सभा में कोई बुरी चेष्टा न करे। जो कुलीन पुरुष है सो अवसर में हसे, तो होठ फरकने मात्र हसे, परन्तु मुख फाडके न हसे। अपना अंग बजावे नहीं, तृण तोडे नहीं, व्यर्थ भूमि में लिखे नहीं। नखों करके दांत घिसे नहीं, दांतों करी नख न तोड़े। अभिमान न करे। भाट-चारण की करी हुई प्रशंसा सुनके गर्व न करे। अपने गुणों का निश्चय करे। बात को समझ के बोले। नीच जन को अपने को हीन वचन कहे, तो उसको बदले का हीन वचन न बोले। जिस वस्तु का निश्चय न होवे, सो बात प्रगट न कहे। जो कोई पुरुष कार्य करे, अरु उस कार्य के करने में वो समर्थ न होवे, तिस को पहिले वर्ज देवे, कहे कि—यह काम तुम न करो। तथा किसी का बूरा न बोले, जेकर वैरी का बूरा बोले, उसका अटकाव नहीं, परन्तु सो भी अन्योक्ति करके बोले। तथा माता, पिता, रोगी, आचार्य, पराहुणा, अभ्यागत,

भाई, तपस्वी, वृद्ध, बाल, स्त्री, वैद्य, पुत्री, गोत्री, पामर, बहिन, बहिनोई, मित्र, इन सर्व के साथ वचन की लड़ाई न करे। सदा सूर्य को न देखे। तथा चन्द्र सूर्य के ग्रहण को न देखे। ऊंडे-गहरे कूवें को झूक के न देखे। संध्या समय आकाश न देखे। तथा मैथुन करते को, शिकार मारते को, नंगी स्त्री को, यौवनवती स्त्री को, पशुक्रीड़ा को और कन्या की योनि को न देखे। तथा तेल में, जल में, शस्त्र में, मूत में, रुधिर में, इतनी वस्तुओं में अपना मुख न देखे, क्योंकि इस काम से आयु टूट जाती है। तथा अंगीकार करे को त्यागे नहीं। नष्ट हो गई वस्तु का शोक न करे, किसी की निद्रा का छेद न करे। बहुतों से वैर न करे, जो बहुतों को सम्मत होवे, सो बोले। जिस काम में रस न होवे, सो न करे। कदापि करना पड़े, तो भी बहुतों से मिल के करे। तथा धर्म, पुण्य, दया, दानादि शुभ काम में बुद्धिमान् मुख्य होवे—अग्रेश्वरी बने। तथा किसी के बूरे करने में जलदी अग्रेश्वरी न बने। तथा सुपात्र साधु में कदापि मत्सर ईर्ष्या न करे। तथा अपने जातिवाले के कष्ट की उपेक्षा न करे। किन्तु मिल कर आदर से उसका कष्ट दूर करे। तथा माननीय का मान भंग न करे तथा दरिद्रपीडित, मित्र, साधर्मिक, न्याति में बुद्धिवाला होवे, तथा गुणों करके बड़ा होवे, बहिन संतान रहित होवे, इन सर्व की पालना करे। अपने कुल में जो काम करने

योग्य न होवे, सो न करे। तथा नीति शास्त्रोक्त तथा और शास्त्रों में जो उचिताचरण होवे, सो करे, अरु अनुचित होवे, सो वर्जे।

मध्यान्ह में पूर्वोक्त विधि से विशेष करके प्रधान शाल्योदनादि निष्पन्न निःशेष रसवती ढोवे। दूसरी वार जिनपूजा, जो मध्यान्ह की पूजा, अरु भोजन, इन दोनों का कालनियम नही। क्योंकि जब भूख लगे, सोई भोजन काल है। इस वास्ते मध्यान्ह से पहिले भी प्रत्याख्यान पार के देवपूजापूर्वक भोजन करे, तो दोष नहीं। वैदक ग्रंथो में भी लिखा है कि, एक प्रहर में दो वार भोजन करे, तथा दो प्रहर उल्लंघे नहीं, क्योंकि एक प्रहर में दो वार खाने से रसोत्पत्ति होती है, अरु जेकर दो प्रहर पीछे न खावे, तो बलक्षय होता है।

अब सुपात्रदानादि की युक्ति लिखते हैं। सो ऐसे है—

सुपात्रदान

भोजन वेला में भक्ति सहित साधुओं को निमंत्रणा करके, साधु के साथ घर में आवे, अथवा साधु स्वयमेव आता होवे तब सन्मुख जा के आदर करे। विनय सहित संविज्ञ भावित अभावित क्षेत्र देखे, तथा सुभिक्ष दुर्भिक्षादिक काल देखे, तथा सुलभ दुर्लभादिक देने योग्य वस्तु देखे, तथा आचार्य, उपाध्याय, गीतार्थ, तपस्वी, बाल, वृद्ध, ग्लान, सह असहादि अपेक्षा करके महत्त्व, स्पर्द्धा, मत्सर, स्नेह, लज्जा, भय,

दाक्षिण्य, परानुयायिपना, प्रत्युपकार, इच्छा, माया, विलंब, अनादर, बुरा बोलना, पश्चात्तापादि, ये सर्व दान के दूषण वर्ज के आत्मा को संसार से तारने के वास्ते, ऐसी बुद्धि से बैतालीश दूषण सहित जो कुछ घर में अन्न, पकान्न, पानी, वस्त्रादि होवे, तिस की अनुक्रम से सर्व निमंत्रणा करे, अपने हाथ में पात्र ले के पास रही भार्यादिक से दान दिलावे। पीछे वंदना करके अपने घर के दरवाजे तक साथ जावे, फिर पीछा आवे। जेकर साधु न होवे, तदा विना वादलों के मेघ की तरें साधु का आना देखे। जो साधु आ जावे, तो तेरा जन्म सफल हो जावे, इस वास्ते दिशावलोकन करे। जो भोजन साधु को न दिया होवे, सो भोजन श्रावक न खावे। तथा जो श्रावक लष्टपुष्ट साधु को विना कारण अशुद्ध आहार देवे, तो लेने देनेवाले दोनों को रोगी के दृष्टांत करके हितकारी नहीं है। तथा जिस साधु का निर्वाह न होवे, दुर्भिक्ष होवे, साधु रोगी होवे तथा और कोई कारण होवे, तो उस साधु को अशुद्ध, अप्राशुक आहार देवे। तो लेने देनेवाले दोनों को हितकारी होवे। तथा रस्ते के थके हुए को, रोगी को, शास्त्र पढ़नेवाले को, लोच करे को, पारने के दिन को दान देवे, तो वहुत फल होता है। इस सुपात्र-दान को अतिथिसंविभाग कहते हैं। यदागमः—"अतिहि-संविभागो नाम नायगयाणं" इत्यादि पाठ का अर्थ कहते हैं—अतिथिसंविभाग उसको कहते हैं कि, जो

न्याय से आया कल्पनीय अन्न, पानी प्रमुख, देश, काल, श्रद्धा सत्कार क्रमयुक्त उत्कृष्ट भक्ति से, आत्मा की अनुग्रह बुद्धि से संयत साधु को दान देवे। सुपात्रदान से देवता संबंधी तथा औदारिकादि सम्बन्धी अद्भुत भोग इष्ट सर्व सुखसमृद्धि, राज्य प्रमुख मनगमता संयोगादि की प्राप्ति, और निर्विलंब, निर्विघ्न, मोक्षफलप्राप्ति है; क्योंकि अभयदान अरु सुपात्रदान तो मोक्ष देते हैं, और अनुकंपादान, उचितदान अरु कीर्त्तिदान, यह तीनों सांसारिक सुखभोगों के देनेवाले हैं।

पात्र भी तीन तरे का कहा है। एक उत्तम पात्र साधु है, दूसरा मध्यम पात्र श्रावक है, तीसरा अविरतिसम्यग्दृष्टि, सो जघन्य पात्र है। तथा अनादर, कालविलंब, विमुख, खोटा वचन बोलना अरु दान दे के पश्चात्ताप करना, ये पांच सद्दान के कलंक हैं। तथा आनंद के आंसु आवें, रोमांच होवे, बहुमान देवे, मीठा बोले, दान दिये पीछे अनुमोदना करे, यह पांच सुपात्र दान के भूषण हैं। सुपात्र दान का परिग्रह परिमाण करने का फल, रत्नसारकुमार की तरे होता है; यह कथा श्राद्धविधि ग्रंथ से जान लेनी। इस वास्ते ऐसे साधु आदि संयोग के मिलने से सुपात्रदान, दिनप्रतिदिन विवेकवान् अवश्य करे।

तथा यथाशक्ति भोजनावसर में आये साधर्मियों को अपने साथ भोजन करावे, क्योंकि वो भी पात्र हैं। तथा

अन्धे आदि मांगनेवालों को भी यथायोग्य देवे । परंतु किसी मांगनेवाले को निराश न जाने देवे । धर्म की निंदा न करावे, कठिन हृदयवाला न होवे, भोजन के अवसर में दयावन्त को कपाट लगाने न चाहिये, उसमें भी धनवान् तो विशेष करके कपाट लगावे ही नहीं । आगम में भी कहा है—

नेव दारं पिहावेइ, भुंजमाणो सुसावओ ।
अणुकम्पा जिणिंदेहिं, सड्ढाणं न निवारिया ॥ १ ॥
दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसायरंमि दुक्खत्तं ।
अविसेसओणुकंपं दुहावि सामत्थओ कुणइ ॥ २ ॥

अर्थः—भोजन करते हुए दरवाजा जड़े नहीं, क्योंकि अनुकंपादान श्रावक को जिनेश्वर भगवान् ने मना नहीं करा है । जीवों के समूह को भयानक संसार में दुःखपीडित देख कर विशेष रहित द्रव्य अरु भाव दोनों तरे से अनुकम्पा करे । उस में द्रव्य से तो यथायोग्य अन्नादि देवे, अरु भाव से उनको सन्मार्ग में प्रवर्तावे । श्रीपंचमांगादिक में जहां श्रावकों का वर्णन करा है, तहां ऐसा पाठ है— "अवगुंठिअ दुवारा" इस विशेषण करके भिक्षुकादिकों के प्रवेश के वास्ते सदा किवाड़ उघाडे रक्खे । दीनोद्धार तो संवत्सरी दान देकर तीर्थंकरों ने भी करा है । कदापि काल

दुकाल पड़ जावे, तव तो श्रावक जो होवे, सो विशेष करके दानादि से दीनों का उद्धार करे। क्योंकि आगे भी विक्रमादित्य के संवत् १३१५ में भद्रेसर गाम के वसनेवाले श्रीमालजातीय शाह झगड्डु श्रावक ने एक सौ बारह दानशाला करके दान दीया है। तथा विक्रमादित्य के संवत् १४२९ में सोनी सिंहा श्रावक ने २४००० मन अन्न, दीन जीवों को दुकाल में दिया है। तथा निर्दूषण आहार देवे, तो सुपात्र दान शुद्ध है।

भोजन सम्बन्धी नियम

तथा माता, पिता, भाई, वहिन, पुत्र, वहू, सेवक, ग्लान, अरु बांधे हुये गौ प्रमुख, इन सर्व की चिंता करके अर्थात् इन सर्व को भोजन करा के पीछे पंचपरमेष्ठी स्मरण करके प्रत्याख्यान पारके, सर्व नियम स्मरण करके, साम्यता से भोजन करे। साम्यता ऐसे जाननी कि—जो अन्न, पानी, आपस में विरुद्ध न होवे, तथा उलटा न परिणमे, अपने स्वभाव के माफक होवे, तिस को साम्य कहते है। जो पुरुष संपूर्ण जन्म तक साम्यता से भोजन करे, वो फिर कभी विष भी खावे, तो भी अमृत हो जावे। अरु असाम्यता से अमृत खाया भी विष हो जाता है। परन्तु इतना विशेष है कि, साम्यता से भी पथ्य ही खाना चाहिये, अपथ्य नहीं। तथा खाने में अत्यन्त गृद्ध भी न होना चाहिये। जब कंठनाड़ी से हेठ उतर जाता है, तब सर्व भोजन वरावर हो जाता है। अतः एक क्षणमात्र के स्वाद

के वास्ते अति लौल्य न करना चाहिये। तथा अभक्ष्य अनंतकाय, बहु सावद्य वस्तु अर्थात् बहुत पापवाली वस्तु न खावे। तथा जो थोड़ा खाता है, सो बहुत बलवान् होता है। तथा जो बहुत खाता है, सो अल्प खाने के फलवाला होता है। तथा अधिक खाने से अजीर्ण, वमन, विरेचनादि मरणांत कष्ट भी हो जाता है। यथा—

हितमितविपक्कभोजी, वामशयी नित्यचंक्रमणशीलः।
उज्झितमूत्रपुरीषः, स्त्रीषु जितात्मा जयति रोगान्॥

अर्थ—जो भूख लगे तो हितकारी ऐसा अन्न थोडा जीमे, वामा पासा हेठ करके सोवे, नित्य चलने का स्वभावशील होवे, जब बाधा होवे, तब ही दिशा मात्रा करे, स्त्री से भोग न करे, वो पुरुष रोगों को जीत लेता है।

अथ भोजनविधि, व्यवहार शास्त्रादिकों के अनुसार लिखते हैं। अतिप्रभात में, अतिसंध्या में तथा रात्रि में भोजन न करना चाहिये। तथा सड़ा, वासी अन्न न खावे। चलता हुआ न खावे, तथा दाहिने पग के ऊपर हाथ रख कर न खावे। हाथ ऊपर रख के न खावे। खुले आकाश में न खावे, धूप में बैठ के न खावे। अंधेरे में वृक्ष के तले न खावे। तर्जनी अंगुली ऊंची करके कदापि न खावे। मुख, हाथ, पग, अरु वस्त्र, विना धोया न खावे। नंगा हो कर मैले वस्त्रों से, दाहिने हाथ से, थाल को विना पकड़े न

खावे, धोती आदिक एक वस्त्र पहिर के न खावे। भींजे वस्त्र पहिर के न खावे। भींजे वस्त्र से मस्तक लपेट के न खावे। यदा अपवित्र होवे तदा न खावे। अति गृद्ध रसलंपट हो कर न खावे। तथा जूते सहित, व्यग्रचित्त, केवल भूमि ऊपर बैठ के अरु मंजे पर बैठ के न खावे। विदिशा की तर्फ तथा दक्षिण की तर्फ मुख करके न खावे। पतले आसन पर बैठ के भोजन न करे, तथा आसन ऊपर पग रख के भोजन न करे, चण्डाल के देखते न खावे। जो धर्म से पतित होवे, उसके देखते न खावे। तथा फूटे पात्र में अरु मलिन पात्र में न खावे। जो शाकादिक वस्तु विष्टा से उत्पन्न होवे, सो न खावे। बालहत्यादि जिस ने करी होवे, उसने तथा रजस्वला स्त्री ने जो वस्तु स्पर्शी होवे, तथा जो वस्तु गाय, श्वान, पंखी ने सूंघी होवे, तथा जो वस्तु अजानी होवे; तथा जो वस्तु फिर से उष्ण करी होवे; सो न खावे। तथा बचबचाट शब्द करके न खावे। तथा मुख फाटे तो बुरा लगे ऐसे मुख करके न खावे। तथा भोजन के अवसर में दूसरों को बुला के प्रीति उपजावे। अपने देव गुरु का नाम स्मरण करके समासन ऊपर बैठ के खावे। जो अन्न अपनी माता, बहिन, ताई—पिता से बड़े भाई की औरत, भानजी, स्त्री प्रमुख ने रांध्या होवे, सो पवित्रता से परोसा हुआ भोजन, उसको मौन करके दाहिना स्वर चलते खावे। जो जो वस्तु खावे, सो नासिका से सूंघ के खावे, इस से दृष्टिदोष नष्ट

हो जाता है । तथा अति खारा, अति खट्टा, अति उष्ण, अति शीतल, अति शाक, अति मीठा, ये सर्व न खावे । मुख के स्वाद मात्र खावे । क्योंकि अति उष्ण खावे, तो रस मारा जाता है, अति खट्टा खावे, तो इन्द्रियों की शक्ति कम हो जाती है । अति लवण खावे, तो नेत्र विगड़ जाते हैं । अति स्निग्ध खावे, तो नासिका विषय रहित हो जाती है । तथा तीक्ष्ण द्रव्य अरु कौड़ा द्रव्य खावे, तो कफ दूर हो जाता है, तथा कषायला अरु मीठा खावे, तो पित्त नष्ट हो जाता है । स्निग्ध घृतादिक खाने से वायु दूर हो जाता है । बाकी शेष रोग जो हैं, सो न खाने से दूर हो जाते हैं ।

जो पुरुष शाक न खावे, अरु घृत से रोटी खावे, तथा जो दूध से चावल खावे, तथा बहुत पानी न पीवे, अजीर्ण होवे, तदा खावे नहीं, सो पुरुष रोगों को जीत लेता है । भोजन करते वक्त पहिले मीठा अरु स्निग्ध भोजन करे, बीच में तीक्ष्ण भोजन करे, पीछे कौडी वस्तु खावे । उक्तं च—

सुस्निग्धमधुरैः पूर्वमश्नीयादन्वितं रसैः ।
द्रव्याम्ललवणैर्मध्ये पर्यंते कटुतिक्तकैः ॥

तथा जो पहिले द्रव्य अर्थात् नरम वस्तु खावे, मध्य में कडुआ रस खावे, अंत में फिर नरम रस खावे, सो बलवंत अरु नीरोगी रहे । तथा पानी को भोजन से पहिले पीवे, तो मंदाग्नि का जनक है, तथा भोजन के बीच में पीवे,

तो रसायन समान गुणकारी है, तथा भोजन के अंत में पीवे, तो विष समान है। भोजन के अनंतर सर्व रस से लिप्त हुये हाथ से एक चुल्लु रोज पीवे, पशु की तरह पानी न पीवे। पीये पीछे जो पानी रहे सो गेर देवे, अञ्जली से पानी न पीवे। पानी थोड़ा पीना पथ्य है, पानी से भींजे हुए हाथों को गला, तथा कपोल, हाथ, नेत्र, इतने स्थानों में न लगावे, न पूंजे, गोडे—जानु का स्पर्श करे, तथा अंगमर्दन, दिशा जाना, भार उठाना, बैठना, स्नान करना, ये सर्व भोजन के किये पीछे न करे। तथा कितनेक काल तांई बुद्धिमान् पुरुष भोजन करके बैठ जावे, तो पेट बड़ा हो जाता है। तथा ऊपर को मुख करके—चित्त हो कर सोवे, तो बल वधे। वामे पासे सोवे, तो आयु वधे। भोजन करके दौड़े, तो मरण होवे। पीछे वामे पासे दो घड़ी तांई सोवे, परन्तु निद्रा न लेवे, अथवा सोवे नहीं तो सौ पग चले, फिरे। अन्यत्र भी कहा है कि, देव को, साधु को, नगर के स्वामी—राजा को तथा स्वजनों को, जब कष्ट होवे तब, तथा चन्द्र-सूर्य के ग्रहण में जेकर शक्ति होवे, तो विवेकवान् पुरुष भोजन न करे। तथा "अजीर्णप्रभवा रोगा" इस वास्ते अजीर्ण में भी भोजन न करे।

ज्वर की आदि में लंघन करना श्रेष्ठ है, परन्तु वायुज्वर, श्रमज्वर, क्रोधज्वर, शोकज्वर, कामज्वर, घाव का ज्वर, इतने ज्वर को वर्ज के शेष ज्वर तथा नेत्ररोग के हुये

लंघन करे।

तथा देव, गुरु के वन्दनादि के अयोग से, तथा तीर्थ अरु गुरु को नमस्कार करने जाते वक्त, तथा विशेष धर्मांगीकार करते, बड़ा पुण्य कार्य प्रारम्भ करते, अरु अष्टमी, चतुर्दशी आदि विशेष पर्व के दिन भोजन न करना चाहिये। तप का जो करना है, सो इस लोक अरु परलोक में बहुत गुणकारी है।

तथा भोजन करे पीछे नमस्कार स्मरण करके उठे, चैत्यवंदना करके देव, गुरु को यथायोग्य वन्दना करे। तथा भोजन के पीछे गंठिसहित दिवसचरिम प्रत्याख्यान विधि से करे। पीछे गीतार्थ साधु, गीतार्थ श्रावक, तथा सिद्धपुत्रादिकों के समीप स्वाध्याय—पठन पाठन यथायोग्य करे। योगशास्त्र में लिखा है कि, जो गुरुमुख से पढ़ा होवे, सो औरों को पढ़ावे, स्वाध्याय करे। पीछे संध्या में जिनपूजा करे पीछे पडिक्कमणा करे। पीछे स्वाध्याय करे। पीछे वैयावृत्त्य अर्थात् मुनि की पगचम्पी करे। घर जा कर सकल परिवार को जोड़ के धर्म का स्वरूप कथन करे। उत्सर्ग मार्ग में तो श्रावक को एक वार ही भोजन करना चाहिये। यदभाणि—

उस्सग्गेण तु सड्ढो य, सच्चित्ताहारवज्जओ।
इक्कासणगभोई अ, बंभयारी तहेव य॥

जेकर एक भुक्त करने का सामर्थ्य न होवे, तदा दिन का अष्टम भाग अर्थात् चार घड़ी दिन जब रहे, तब भोजन कर लेवे, अर्थात् दो घड़ी दिन रहने से पहिले ही भोजन कर लेवे। पीछे यथाशक्ति चार आहार, तीन आहार, दो आहार का त्यागरूप दिवसचरिम सूर्य उगते तांई करे, सो मुख्य वृत्ति से तो दिन होते ही करना चाहिये, परन्तु अपवाद में रात को भी करे।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य
मुनि आनंदविजय-आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे
नवमः परिच्छेदः संपूर्णः
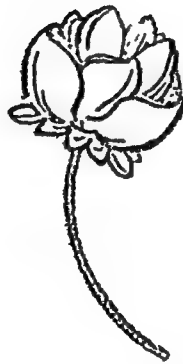
दशम परिच्छेद

इस परिच्छेद में श्रावकों का एक रात्रिकृत्य, दूसरा पर्व-कृत्य, तीसरा चौमासिककृत्य, चौथा संवत्सरीकृत्य, अरु पांचमा जन्मकृत्य, यह पांच कृत्य अनुक्रम से लिखेंगे। तिस में प्रथम रात्रिकृत्य लिखते हैं।

रात्रिकृत्य

साधु के पास तथा पौषधशालादि में यत्न से प्रमार्जनापूर्वक सामायिक करके प्रतिक्रमण करे। पीछे साधुओं की पगचम्पी करे। यद्यपि साधुने श्रावक के पासों उत्सर्गमार्ग में विश्रामणादि नहीं करावनी, तो भी श्रावक यदि विश्रामणा करने का भाव करे, तो महाफल है। पीछे श्राद्धदिनकृत्य, श्रावकविधि, उपदेशमाला अरु कर्मग्रन्थादि शास्त्रों का स्वाध्याय करे। पीछे सामायिक पार के घर में जावे।

पीछे सम्यक्त्व मूल बारह व्रत में, सर्वशक्ति से यत्न-करणादिरूप तथा सर्वथा अर्हत् चैत्य, अरु साधर्मिक वर्जित वासस्थान में अनिवासरूप तथा पूजा, प्रत्याख्यानादि अभि-ग्रहरूप, यथाशक्ति सप्त क्षेत्र में धन खरचनरूप, ऐसा यथायोग्य सकल परिवार को धर्मोपदेश कथन करे। जेकर श्रावक अपने परिवार को धर्म न कहे, तब उस परिवार को धर्म की प्राप्ति न होवेगी। तो इस लोक परलोक में जो वे पापकर्म करेंगे, सो सर्व उस श्रावक को लगेंगे।

क्योंकि लोक में यह व्यवहार है कि, जो चोर को खानेपीने को देवे, सो भी चोर गिना जाता है; ऐसे ही धर्म में भी जान लेना। इस वास्ते श्रावक को द्रव्य तथा भाव से अपने कुटुम्ब को शिक्षा देनी चाहिये। उसमें द्रव्य से पुत्र, कलत्र, बेटी प्रमुख को यथायोग्य वस्त्रादि देवे, अरु भाव से तिनको धर्म का उपदेश करे। तथा दुःखी सुखी की चिंता करे। अन्यत्राप्युक्तं—

राज्ञि राष्ट्रकृतं पापं, राज्ञः पापं पुरोहिते।
भर्त्तरि स्त्रीकृतं पापं, शिष्यपापं गुरावपि॥

धर्म देशना दिये पीछे, रात्रि का प्रथम प्रहर वीते पीछे, शरीर को हितकारी शय्या में विधि से निद्रा अल्पमात्र करे। गृहस्थ बाहुल्य करके मैथुन से वर्जित होवे। जेकर गृहस्थ जावजीव तक ब्रह्मव्रत पालने में समर्थ न होवे, तदा पर्वतिथि के दिन तो उसको अवश्य ब्रह्मचर्य व्रत पालना चाहिये।

नींद लेने की विधि नीतिशास्त्र के अनुसार यह हैः—

निद्राविधि

जिस खाट में जीव पड़े होवें, जो खाट छोटी होवे, भांगी हुई होवे, मैली होवे, दूसरे पाये संयुक्त होवे, तथा अग्नि के वले काष्ठ की खाट होवे, सो त्यागे। खाट में तथा आसन में

चार जात की लकडी लगे, तो शुभ है, परन्तु पांचादि काष्ठ लगे, तो अशुभ है। तथा पूजनीक वस्तु के ऊपर न सोवे, तथा पानी से पग भींजे न सोवे, तथा उत्तर दिशा अरु पश्चिम दिशा की तर्फ शिर करके न सोवे, वांस की तरें न सोवे, पगों के ठिकाने न सोवे, हाथी के दांत की तरें न सोवे। देवता के मन्दिर के मूलगंभारे में, सर्प की वंवी पर, वृक्ष के हेठ, तथा श्मशान में नहीं सोवे। किसी के साथ लड़ाई हुई होवे, तदा मिटा के सोवे। सोते वक्त पानी पास रक्खे, तथा दरवाजा जड़ के, इष्टदेव को नमस्कार करके बड़ी शय्या में अच्छी तरें ओढ़ने के वस्त्र समार के, सर्वाहार को त्याग के, वामा पासा नीचे करके सोवे।

दिन को सोवे नहीं, परन्तु क्रोध, शोक, अरु मद्य के मिटाने के वास्ते तथा स्त्री कर्म, अरु भार के थकेवें को मिटाने के वास्ते तथा रस्ते के खेद को मिटाने के वास्ते तथा अतिसार, श्वास, हिचकी प्रमुख रोग दूर करने के वास्ते सोवे। तथा जो बाल होवे, वृद्ध होवे, बलक्षीण होवे, सो सोवे। तथा तृषा, शूल, और क्षत की वेदना करके विह्वल होवे, सो सोवे। तथा जिसको अजीर्ण हुवा होवे, वाय हुवा होवे, जिसको खुशकी हुई होवे, तथा जिसको रात्रि में निद्रा थोडी आती होवे, वो दिन को भी सो जावे। तथा ज्येष्ठ अरु आषाढ़ महीने में दिन में भी सोना अच्छा है। और महीनों में सोवे, तो कफ अरु पित्त करता है। तथा बहुत

नींद लेनी, बहुत काल लग सोये रहना अच्छा नहीं। तथा रात को सोवे तदा दिशावकाशिकव्रत उच्चार के सोवे। तथा चार सरणा लेवे, सर्व जीवराशि से खामणा करे, अठारह पापस्थान का व्युत्सर्जन करे, दुष्कृत की निंदा करे, सुकृत का अनुमोदन करे, तथा—

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीये।
आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरियं॥

नमस्कारपूर्वक इस गाथा को तीन वार पढ़े, साकार अनशन करे, पंच नमस्कार स्मरण सोने के अवसर में करे। स्त्री से दूर अलग शय्या में सोवे। जेकर निकट सोवे, तब एक तो विकार अधिक जागता है, तथा दूसरा जिस वासना युक्त पुरुष सोवे, सो जितना चिर जागे नहीं, उतना चिर वही वासना उस पुरुष को रहती है। इस वास्ते स्त्री से अलग दूसरी शय्या में सोवे। तथा मरणावसर में गफलत हो जावे, तो भी तिस के जो सचित अवस्था में वासना थी वही वासना है, ऐसे जानना। इस वास्ते सर्वथा उपशांत-मोह हो करके, धर्म वैराग्यादि भावना से वासित हो करके निद्रा करे, तो खोटा स्वप्न न होवे। जिस रीति से अच्छा धर्ममय स्वप्न देखे, उसी रीति से सोवे। जेकर कदाचित् उसकी आयु समाप्त भी हो जावे, तो भी वो अच्छी गति में जावे।

तथा सोये पीछे रात्रि में जब जाग जावे, तदा अनादि काल के अभ्यास रस से कदाचित् काम पीड़ा करे, तो स्त्री के शरीर का अशुचिपना विचारे, अरु श्रीजंबूस्वामी तथा स्थूलिभद्रादि महा ऋषियों की तथा सुदर्शनादि महाश्रावकों की दुष्कृत शील पालने की दृढता विचारे। तथा कषायादि दोष के जीतने के उपाय, भवस्थिति की अत्यंत दुःस्थिता और धर्म के मनोरथ का चिंतवन करे। तिन में स्त्री के शरीर की अपवित्रता, जुगुप्सनीयतादि सर्व विचारे। जैसे श्रीहेमचन्द्रसूरिने योगशास्त्र में लिखा है। तथा पूज्य श्रीमुनिसुन्दरसूरिने अध्यात्मकल्पद्रुम में लिखा है, तैसे विचारे। सो लेश मात्र इहां लिखते हैं—

चाम, हाड, मज्जा, आंदरां, चरबी, नसा, रुधिर, मांस, विष्ठा, मूत्र, खेल, खंकारादि अशुचि पुद्गल का पिंड स्त्री का शरीर है। इस पिंड में तू क्या रमणीक वस्तु देखता है? जिस विष्ठे को दूर से देख कर लोक थूथूकार करते हैं, मूढ़ लोक उसी विष्ठे अरु मूत्र से पूर्ण, ऐसे स्त्री के शरीर की अभिलाषा करते हैं। विष्ठे की कोथली बहुत छिद्रोंवाली जिस के छिद्र द्वारा कृमिजाल निकलते हैं, अरु कृमिजाल से भरी है, ऐसी स्त्री है। तथा चपलता, माया, झूठ, ठगी, इनों करके संस्कारी हुई है। तातें जो पुरुष मोह से इस का संग करे, भोगविलास करे, तिसको नरक के तांई है। ऐसी स्त्री विष्ठे की कोथली जिस के ग्यारा द्वारों

से अशुचि झरती है। जिस द्वार को सूघों, उसीमें से महा सड़े हुये कुत्ते के कलेवर समान दुर्गन्ध आती है। तो फिर कामीजन क्योंकर उस स्त्री के शरीर में रागांध होते हैं ? इत्यादि स्त्री के शरीर की अशुचिता को विचारे। धन्य हैं, वो पुरुष जम्बुकुमार जिस ने नव-परिणीत आठ पद्मिनी स्त्री, अरु निनानवे क्रोड़ सोनैये छिनक में त्याग दिये। तिस का माहात्म्य विचारे। तथा श्रीस्थूलिभद्र अरु सुदर्शन सेठ के शील का माहात्म्य विचारे।

कषाय जीतने का उपाय इस तरे करे—क्रोध को क्षमा करके जीते, मान को नरमाई से जीते, माया को सरलताई से जीते, लोभ को सन्तोष से जीते, राग को वैराग्य से जीते, द्वेष को मित्रता से जीते, मोह को विवेक से जीते, काम को स्त्री के शरीर की अशुचि भावना से जीते, मत्सर को पर की संपदा देख के पीड़ा न करने से जीते, विषय को संयम से जीते, अशुभ मन, वचन अरु काया इन तीनों को तीन गुप्ति से जीते, आलस को उद्यम से जीते, अविरतिपने को विरतिपने से जीते। इस प्रकार यह सब सुख से जीते जाते हैं। आगे भी बहुत महात्माओं ने इनको इसी तरे जीता है।

भवस्थिति महादुःखरूप है, क्योंकि चारों गति में जीव नाना प्रकार के दुःख पा रहे हैं। तिन में नरकगति में तो

सातों नरकों में क्षेत्रवेदना है, तथा पांच नरकों में परस्पर शस्त्रों करके ऊदीरी वेदना है। तथा तीन नरक में परमाधर्मिक देवताकृत वेदना है। आंख मींच के उघाडे, इतना काल भी नरकवासी जीवों को सुख नहीं है। केवल दुःख ही पूर्वजन्म के करे हुए पापों से उदय हुआ है। रात अरु दिन एक सरीखे दुःख में जाते हैं, जितना नरकगति में जीव दुःख को पाते है, उस से अनंतगुणा दुःख जीव निगोद में पाते है। तथा तिर्यंचगति में अंकुश, पैरेण, लाठी, सोटा, श्रृंगमोड़न, गलमोड़न, तोड़न, छेदन, भेदन, दहन, अंकन और परवशतादि अनेक दुःख पावे है। तथा मनुष्यगति में गर्भजन्य, जरा, मरण, नाना प्रकार की पीड़ा, रोग, व्याधि, दरिद्रता, माता, पिता, स्त्री, पुत्र का मरणादि अनेक दुःख पाता है। तथा देवगति में चवन का दुःख, दासपने का दुःख, पराभव, ईर्ष्यादि अनेक दुःख हैं। इत्यादि प्रकार से भवस्थिति को विचारे।

तथा धर्ममनोरथ भावना—सो श्रावक के घर में जो ज्ञान, दर्शन, व्रत सहित मैं दास भी हो जाऊं, तो भी अच्छा है। परन्तु मिथ्यादृष्टि तो मैं चक्रवर्त्ती राजा भी न होऊं। तथा कब मैं संवेगी वैराग्यवन्त गीतार्थ गुरु के चरणों में स्वजनादि संग रहित प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा? तथा कब मैं तिर्यंच के पिशाच के भय से निष्प्रकंप हो कर श्मशानादि में विधिपूर्वक कायोत्सर्ग करूंगा? तथा कब मैं तप से कृश

शरीर होके उत्तम पुरुषों के मार्ग में चलूंगा? इत्यादिक भावना से काम के कटक को जीते।

पर्वकृत्य

अथ श्रावक का पर्वकृत्य लिखते हैं। पर्व जो अष्टमी, चतुर्दशी आदि दिवस, तिस में धर्म की पुष्टि करे तिसका नाम पौषध है। सो पौषध भले व्रतवाले श्रावक को पर्व के दिन में अवश्य करना चाहिये, जेकर पर्व के दिन शरीर में साता न होवे, पौषध न कर सके, तो दो वार प्रतिक्रमण करे। तथा बहुत वार सामायिक अरु दिशावकाशिक व्रत अंगीकार करे। तथा पर्वदिनों में ब्रह्मचर्य पाले, आरम्भ वर्जे, विशेष तप करे, चैत्यपरिपाटी करे, सर्व साधुओं को नमस्कार करे, तथा सुपात्रदान, देवपूजा अरु गुरुभक्ति, यह सर्व और दिनों से विशेष करे। धर्मकरनी तो सर्व दिनों में करनी अच्छी है, जेकर सदा न करी जावे, तो पर्व के दिन तो अवश्यमेव करनी चाहिये। सो पर्व ये हैं—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णमासी, अमावास्या, यह एक मास में छ पर्व अरु पक्ष में तीन पर्व, तथा दूज, पञ्चमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी यह पांच तिथि, तीर्थङ्करोने कही हैं। उसमें दूज के दिन दो प्रकार का धर्म आराधन करना, पञ्चमी के दिन ज्ञान की आराधना, अष्टमी को अष्टकर्म का नाश करना। एकादशी में ग्यारह अंग की आराधना, चतुर्दशी में चौदह पूर्व की आराधना, यह पांच तथा पूर्वोक्त अमावास्या अरु

पूर्णमासी, एवं षट् पर्व हुये अरु वर्ष में छ अट्ठाई पर्व है। चौमासी पर्वादि पर्वों में जेकर सर्वथा आरम्भ न त्याग सके, तो स्वल्प स्वल्पतर आरंभ करे। तथा पर्व के दिन सर्व सचित्ताहार वर्जे। श्रावक को तो नित्य ही सचित्ताहार वर्जना चाहिये। जेकर शक्ति न होवे, तदा पर्व के दिन तो अवश्य वर्जे। तथा ऐसे पर्व के दिनों में स्नान, शिर दिखाना, गूंथन कराना, वस्त्र धोना, रंगना, गाडा, हल आदि चलाना, धान्य का मूढक बांधना, कोल्हू, अरहट चलाना, दलना, छड़ना, पीसना, पत्र, पुष्प, फल तोड़ना, सचित्त खड़ी हरमजी का मर्दन करना, धान्य काढना, लीपना, माटी खोदनी तथा घर बनाना, इत्यादि सर्व आरम्भ यथाशक्ति से त्यागना चाहिये। तथा सर्व सचित्ताहार का त्याग न कर सके, तो नाम लेके कितनीक वस्तु खाने की छूट रक्खे, उपरांत त्याग देवे। तथा छ ही अट्ठाइयों में जिनवर की पूजा करनी, तप करना और ब्रह्मचर्य पालना। इन छ अट्ठाइयों में चैत्र तथा आसोज की दो अट्ठाई हैं, सो शाश्वती हैं, इन दोनों में वैमानिक देवता भी नन्दीश्वरादि में यात्रोत्सव करते हैं। तथा तीन चौमासे की तीन अट्ठाई अरु चौथी पर्युषण की तथा दो चैत्र अरु आसोज की, यह सब मिल कर छ अट्ठाई हैं।

तथा जो तिथि प्रभात समय-प्रत्याख्यान की वेला में

होवे सो तिथि जैन मत में माननी प्रमाण है। लोक में भी सूर्योदय के अनुसार दिन का व्यवहार होने से उदय तिथि माननी प्रमाण है। तथा च निशीथभाष्ये—

चाउम्मासिअ वरिसे पक्खिअपंचट्ठमीसु नायव्वा।
ताओ तिहिओ जासिं, उदेइ सूरो न अन्नाओ॥ १॥

पूआ पच्चक्खाणं, पडिक्कमणं तहय नियमगहणं च।
जीए उदेइ सूरो, तीइ तिहीए उ कायव्वं॥ २॥

उदयम्मि जा तिही सा पमाणमिअरी कीरमाणीए।
आणाभंगणवत्थामिच्छत्त विराहणं पावे॥ ३॥

अर्थः—चौमासी, संवत्सरी, पक्खी, पंचमी, अष्टमी, ये तिथियें सूर्योदय में होवें, तब प्रमाण हैं; नान्यथा। पूजा, पडिक्कमणा, प्रत्याख्यान, तैसे ही नियम ग्रहण करना, सो जिस तिथि में सूर्योदय होवे, तिस में करना चाहिये। क्योंकि जो तिथि सूर्योदय में होवे, सो प्रमाण है। तथा उदय तिथि के विना जो कोई और तिथि करे, माने; सो आज्ञा का विराधक, अनवस्थाकारक, मिथ्यादृष्टि है। पाराशरस्मृत्यादि में भी लिखा है—

आदित्योदयवेलायां, या स्तोकापि तिथिर्भवेत्।
सा संपूर्णेति मंतव्या, प्रभुता नोदयं विना॥

* उमास्वातिवाचकप्रघोषश्चैवं श्रूयते—

क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा ।
श्रीवीरज्ञाननिर्वाणं, कार्यं लोकानुगैरिह ॥

तथा श्री अर्हंतों के जन्मादि पंचकल्याणक के दिन भी पर्व हैं । जब दो, तीन, कल्याणक होवें, तब तो विशेष करके पर्व मानना चाहिये । शास्त्रों में सुनते हैं कि, श्रीकृष्णवासुदेव ने सर्व पर्व के आराधन में अपने को असमर्थ जान कर श्रीनेमिनाथ अरिहंत को पूछा कि, उत्कृष्ट पर्व कौन सा है ? तब भगवान् ने कहा कि, हे कृष्ण वासुदेव ! मगसिर शुक्ला एकादशी सर्वोत्तम पर्व हैं क्योंकि इस दिन श्रीजिनेंद्रों के पांच कल्याणक भये हैं, सर्व क्षेत्रों के डेढ़ सौ कल्याणक हुये हैं । तब श्री कृष्ण वासुदेव ने मौन पौषधोपवास करके तिस दिन को माना । तब से ही "यथा राजा तथा प्रजा" इस रीति से सब लोक एकादशी मानने लगे, सो आज तक प्रसिद्ध है ।

तथा दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, इन तिथियों में प्रायः जीवों का परभव का आयु बंधता है, इस वास्ते इन तिथियों में विशेष धर्म करनी करे । तथा पर्व की महिमा के प्रभाव से अधर्मी अरु निर्दयी भी धर्मी

---

* उमास्वाति वाचक का कथन इस प्रकार सुनने में आता है ।

अरु दयावान् हो जाता है। कृपण भी धन खरच देते हैं; कुशील भी सुशील हो जाते हैं। वो जयवंत रहो कि, जिस ने संवत्सरी, चातुर्मासी आदि अच्छे पर्व कथन करे हैं। क्योंकि जो अनार्यों के चलाये पर्व हैं, तिन में आग जलाना, जीव मारने, रोना, पीटना, धूल उडानी, वृक्षों के पत्रादि तोड़ने इत्यादि नानाप्रकार के पाप होते हैं, अरु जो पर्व, परमेश्वर अरिहंतने कहे हैं, उनमें तो केवल धर्म-कृत्य ही करना कहा है। इस वास्ते पर्वदिन में पौषधादि करे। पौषध के भेद अरु विधि यह सब श्राद्धविधि आदि शास्त्रों से जान लेना।

अथ चौमासिककृत्य की विधि लिखते हैं। चौमासे में विशेष करके नियम व्रत और परिग्रह का परिमाण करना चाहिये। वर्षा—चौमासे में बहुत जीव उत्पन्न हो जाते हैं, इस वास्ते विशेष नियमादि करना चाहिये। वर्सात में गाड़ा चलाना तथा हल फेरना न करे। तथा राजादन, अर्थात् खिरनी, आंब आदि में कीडे पड़ जाते है, सो न खाने चाहियें। देशों का विशेष अपनी बुद्धि से समझ लेना। तथा नियम भी दो तरें के हैं, एक सुनिर्वाह, दूसरा दुर्निर्वाह। तिन में धनवंतों को व्यापार का अरु अविरतियों को सचित्त का त्याग, रस का त्याग, तथा शाक का त्याग करना, अरु सामायिकादि अंगीकार करना, यह दुर्निर्वाहहै। अरु पूजा, दान, महोत्सवादि सुनिर्वाह है।

चातुर्मासिक कृत्य

अरु निर्धनों को इस से विपरीत जान लेना। तथा चित्त एकाग्र करना यह तो सर्व ही को दुष्कर है। इन में दुर्निर्वाह नियम न हो सके तो सुनिर्वाह नियम अंगीकार करे। तथा चौमासे में ग्रामांतर न जावे, जेकर निर्वाह न होवे तो जिस ग्राम में अवश्य जाना है, तिसको वर्ज के और जगे न जावे। सर्व सचित्त का त्याग करे। निर्वाह न होवे, तो परिमाण करे। तथा दो तीन वार जिनराज की अष्टप्रकारी पूजा करे, संपूर्ण देववंदन सर्व जिनमंदिरों में जिनबिंबों की पूजा वंदना करनी, स्नात्रपूजा, महामहोत्सव, प्रभावनादि करे। गुरु को बृहत् वंदना तथा और साधुओं को प्रत्येक वंदना करे। चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करे। अपूर्व ज्ञान पढे, गुरु की वैयावृत्य करे, ब्रह्मचर्य पाले, अचित्त पानी पीवे, सचित्त का त्याग करे। बासी, विदल, रोटी, पूरी, पापड़ वड़ी, सूखा साग, पत्ररूप हरा साग, खारक, खजूर, द्राक्ष, खांड, शुंठ्यादि, यह सर्व नीली फूलण, कुंथुआदि लट कीड़े पड़ने से खाने योग्य नहीं रहते हैं; इस वास्ते इन का त्याग करे। कदाचित् औषधादि विशेष कार्य में लेनी पड़े तो सम्यग् रीति से शोध के लेवे। तथा खाट, स्नान, शिरगुंदाना, दातन, पगरखा, इन का त्याग करे। तथा भूषण, वस्त्र रंगने का निषेध करे। तथा घर, हाट, भींत, स्तंभ, खाट, पाट, पट्टक, पट्टिका, छींका अरु घृत, तैलादिक का वासन, इंधन, धान्यादि सर्व वस्तु में नीली फूली हो जाती है। अतः इस

की रक्षा के वास्ते पहिले ही चूना आदि खार लगा देवे। मैल दूर करे, धूप में न गेरे, शीतल स्थान में रख देवे। तथा दिन में दो तीन वार जल छाने। स्नेह, गुड़, छाछ प्रमुख के वासन का मुख यत्न से ढक के रक्खे। तथा ओसामण का अरु स्नान का पानी, जहां जीव न होवें, तहां पृथक् पृथक् भूमि में थोड़ा थोड़ा गेरे। तथा चूल्हा अरु दीपक प्रमुख उघाड़ा न छोड़े। तथा खंडना, पीसना, रांधना, वस्त्र भाजन धोने, इत्यादि कामों को देख के यत्न से करे। तथा जिनमन्दिर अरु धर्मशाला को समरा के रक्खे। तथा यथाशक्ति उपधान तप प्रतिमादि वहे, तथा कषाय अरु इंद्रिय को जीते। तथा योगशुद्धि तप, वीस स्थानक तप, अमृत अष्टमी तप, एकादशांग तप, चौदह पूर्व तप, नमस्कार तप, चौवीस तीर्थंकर के कल्याणक तप, अक्षयनिधि तप, दमयन्ती तप, भद्रमहाभद्रादि तप, संसारतारण अट्ठाई तप, पक्ष मासादि विशेष तप करे। तथा रात्रि को चतुर्विध आहार, त्रिविध आहार का त्याग करे। पर्वदिन में विकृति त्यागे, पर्वदिन में पौषधोपवासादि करे। तथा निरन्तर पारने में अतिथिसंविभाग करे। चातुर्मासिक अभिग्रह करना पूर्वाचार्यों ने इस तरे से लिखा है। ज्ञानाचार में, दर्शनाचार में, चारित्राचार में, तप आचार में, तथा वीर्याचार में द्रव्यादि अनेक प्रकार का अभिग्रह करे। सो इस रीति से है। ज्ञानाचार में शक्ति के अनुसार सूत्र

पढ़े, सुने, चिंते। तथा शुक्ल पंचमी को ज्ञान की पूजा करे। तथा दर्शनाचार में काजा काढ़े, अर्थात् संमार्जना करे। देहरे में लीपे, गुंहली करे, मांडली करे, चैत्य जिनप्रतिमा की पूजा करे, देववंदना करे, जिनविंबों को निर्मल करे। तथा चारित्र में जूओं की यत्ना करे, वनस्पति में कीड़े पडे खार न देवे, इंधन में, जल में, अग्नि में, धान्य में, जीव होवें, तिन की रक्षा करे। किसीको कलंक न देवे, कठिन वचन न वोले, रूखा वचन न वोले। तथा देव की अरु गुरु की सोगंद न खावे, किसी की चुगली न करे, किसी के अवर्णवाद न वोले, माता पिता से छाना काम न करे। निधान तथा पड़ा हुआ धन देख के जैसे शरीर और धर्म न विगड़े, तैसे करे। दिन में ब्रह्मचर्य पाले, रात्रि को स्वदारा से संतोष करे। तथा धनधान्यादि नव प्रकार के परिग्रह का इच्छा परिमाण व्रत करे। दिशावकाशिक व्रत करे। तथा स्नान का, उवटने का, विलेपन का, आभरण का, फूल का, तंवोल का, वरास का, अगर का, केसर का, कस्तूरी का, इतनी भोगने की वस्तुओं का परिमाण करे। तथा मंजीठ, लाख, कुसुंभा, नील, इन से रंगे वस्त्रों का परिमाण करे। तथा रत्न, वज्र, नीलमणि, सुवर्ण, रूपा, मोती प्रमुख का परिमाण करे। तथा जंवीर, जंवरूद, जंवू, राजादन, नारंगी, सन्तरा, विजोरा, काकड़ी, अखरोट, वदाम, कोठफल, टींवरू, विल, खजूर, द्राक्ष, दाड़िम, उत्तिज का फल, नालियर, अंवली, वोर,

बीलक फल, चीभड़ा चीभड़ी, कयर, करमेंदा, भोरड, निंबू, आंवली, अथाणा—आचार तथा अंकुरे हुए नाना प्रकार के फूल, पत्र, सचित्त, वहुवीजा, अनंतकाय, इतनी वस्तु वर्जे। तथा विगय अरु विगयगत का परिमाण करे। तथा वस्त्र धोने का, लीपने का, हल वाहने का, स्नान की वस्तु का परिमाण करे। तथा खण्डना, पीसना, इत्यादिक का परिमाण करे। झूठी साख न देवे। तथा पानी में कूदना अरु अन्न रांधने का परिमाण करे। व्यापार का परिमाण करे। चोरी का त्याग करे। तथा स्त्री के साथ संभाषण करना, स्त्री को देखना त्यागे। तथा अनर्थदण्ड त्यागे। सामायिक, पौषध करे, अतिथिसंविभाग करे, इन सर्व वस्तुओं का प्रतिदिन परिमाण करे। तथा जिनमन्दिर को देखे, तथा जिनमन्दिर की वस्तु की सारसंभाल करे। पर्व में तप करे, उजमने करे, धर्म के वास्ते मुखवस्त्रिका अरु पानी का छलना देवे, तथा औषधी देवे। साधर्मिवत्सल यथाशक्ति से करे। गुरु की विनय करे। मास मास में सामायिक करे, वर्ष में पौषध करे।

अथ श्रावकों का वर्षकृत्य द्वादश द्वारों करी लिखते हैं।

वर्षकृत्य—संघपूजा

प्रथम संघपूजा करे, स्वद्रव्यकुलादि के अनुसार बहुत आदरमान से साधु साध्वी योग्य निर्दोष वस्त्र, कंवल, पूंछना, सूत, ऊन, पानी का पात्र, तुंबकादि, दंड, दंडिका, सूई,

कागज, दवात, लेखिनी, पुस्तकादिक देवे। तथा और भी जो संयम का उपकारी उपकरण होवे, सो भी देवे। ऐसे ही प्रातिहारक, पीठ, फलक, पट्टिकादि सर्व साधुओं को देवे। ऐसे ही श्रावक, श्राविकारूप संघ की भक्ति यथाशक्ति से पहरावणादि करके सत्कार करे, देवगुरु के गुण गानेवाले गंधर्वादिक याचकों को भी यथोचित दान देवे। संघ की पूजा तीन प्रकार की है—एक जघन्य, दूसरी मध्यम, तीसरी उत्कृष्ट। तिस में सर्व दर्शन सर्व संघ को करे, सो उत्कृष्टी पूजा, तथा सूत, मात्रादि देवे, तो जघन्य पूजा। तथा शेष सर्व मध्यम पूजा है। तहां अधिक खरच करने की शक्ति न होवे, तो गुरु को सूत, मुखवस्त्रिका देवे, तथा एक दो तीन श्रावक, श्राविका को सोपारी प्रमुख वर्ष वर्ष प्रति देवे। इस रीति से संघपूजा करे, तो निर्धन को भी महाफल है। यतः—

संपत्तौ नियमाशक्तौ, सहनं यौवने व्रतम्।
दारिद्र्ये दानमप्यल्पं, महालाभाय जायते॥

साधर्मिवात्सल्य

दूसरा साधर्मिकवात्सल्य करे। सो सर्व साधर्मियों की अथवा कितनेक की यथाशक्ति यथायोग्य भक्ति करे। तथा पुत्र के जन्मोत्सव में, विवाह में तथा और किसी कार्य में पहिले तो साधर्मियों को निमंत्रणा करके विशिष्ट भोजन, तांबूल, वस्त्रा-

भरणादि देवे। तथा किसी साधर्मी को कोई कष्ट पडे, तब अपना धन खरच के उसका कष्ट दूर करे। जेकर कोई साधर्मी निर्धन होवे, तो धन से सहाय करे, परदेश से देश में पहुंचावे। तथा धर्म से सीदते को जैसे बने तैसे स्थिर करे। जेकर कोई साधर्मी प्रमादी होवे, तो तिसको प्रेरणादि करे। साधर्मियों को विद्या पढ़ावे, पूछना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा में यथायोग्य जोडे। तथा धर्म करने के वास्ते साधारण पौषधशालादि करावे। तथा श्राविका के साथ भी श्रावकवत् वात्सल्य करे क्योंकि श्राविका भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शील, संतोषवाली होती है। तथा सधवा, विधवा जो जिनशासन में अनुरक्त होवे वो, सर्व को साधर्मिकपने मानना चाहिये। तिसका भी माता की तरें, बहिन की तरें, बेटी की तरें हित करना चाहिये। बहुत करके राजा का तो अतिथिसंविभाग व्रत साधर्मिवात्सल्य करने से ही हो सकता है। क्योंकि मुनि को तो राजपिंड लेना ही नहीं है। इस वास्ते श्रीभरतचक्री तथा दण्डवीर्य राजादिकों ने ऐसे ही करा है। तथा श्रीसंभवनाथ अर्हत् के जीव ने तीसरे भव में धातकीखण्ड ऐरावतक्षेत्र में क्षेमापुरी नगरी में, विमलवाहन राजाने महादुर्भिक्ष में सकल साधर्मिकादिकों को भोजनादिक देने से तीर्थङ्करनामकर्म का उपार्जन करा है। तथा देवगिरि, मांडवगढ़ में शाह जगतसिंहने तथा थिरापद्र नगर में श्रीमाल आभूने तीन

सौ साठ साधर्मियों को धन दे के अपने तुल्य करा, तथा शाह सारंगादि अनेक पुरुषों ने बड़ा २ साधर्मिवात्सल्य करा है।

यात्राविधि

तीसरी यात्राविधि कहते हैं। वर्ष वर्ष में जघन्य से एक यात्रा तो अवश्य करनी चाहिये, यात्रा भी तीन तरें की है—एक अट्ठाईयात्रा, दूसरी रथयात्रा, तीसरी तीर्थयात्रा। तिसमें अट्ठाई में विस्तार सहित सर्व चैत्यपरिपाटी करे, इसको चैत्ययात्रा भी कहते हैं। तथा रथयात्रा श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत परिशिष्ट पर्व में जैसी संप्रति राजाने करी है, तैसे करे। तथा महापद्म चक्रवर्त्ती ने जैसे माता के मनोरथ पूरन के वास्ते करी है, तैसे करे। तथा जैसी कुमारपाल राजाने रथयात्रा करी तैसे करे।

तीसरी तीर्थयात्रा का स्वरूप लिखते हैं। तहां श्रीशत्रुंजय, रैवतादि तीर्थ, तथा तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण, अरु विहारभूमि, यह सर्व प्रभूत भव्यजीवों को शुभभाव का संपादक है। इस वास्ते संसार से तारने का कारण होने से इसको तीर्थ कहना चाहिये। तीर्थों में जाने से सम्यक्त्व निर्मल होता है।

अब जिनशासन की उन्नति करने के वास्ते जिस विधि से यात्रा करे, सो विधि यह है। चलने के स्थान से लेकर यात्रा करे, वहां तक एक वार भोजन करे, दूसरा सचित्त परिहार, तीसरा भूमिशयन, चौथा ब्रह्मचारी, पांचमा सर्व

सामग्री के हुये भी पगे चलना, छट्ठा सम्यक्त्वधारी पना। तथा यात्रा के वास्ते राजा से आज्ञा लेवे, विशिष्ट मंदिरों को सजावे, विनय वहुमान सहित स्वजन और साधर्मियों को बुलावे। तथा गुरु को साथ ले जाने के वास्ते निमंत्रणा करे, अमारी ढंढेरा फिरावे, मंदिर में महापूजा महोत्सव करावे। खरची रहितों को खरची देवे, वाहन विना को वाहन देवे। निराधारों को यथायोग्य आधार देवे। सार्थवाह की तरें डौंडी फिरा के लोगों को उत्साहवंत करे, तथा आडम्बर सहित वड़ा चरु, घड़ा, थाल, डेरा, तंबू, कड़ाहियां साथ लेवे, चलते कूपादिक को सज्ज करे। तथा गाडा, सेजवाला रथ, पर्यंक, पालकी, ऊंट, घोड़ा प्रमुख साथ लेवे। तथा श्रीसंघ की रक्षा के वास्ते वड़े २ योद्धाओं को नौकर रक्खे। योद्धाओं को कवच, अंगकादि उपस्कर देवे। तथा गीत, नाटक, वाजित्रादि सामग्री मेलवे। तथा अच्छे मुहूर्त्त में शुभ शकुन में प्रस्थान करे। भोजनादि से श्रीसंघ का सत्कार करके संघपति तिलक देवे। आगे पीछे रखवाला रक्खे। संघ के चलने उतरने का संकेत करे। तथा संघवालों की गाड़ी आदिक टूट जावे, तो समरा देवे। अपनी शक्ति के अनुसार सर्व संघ को सहाय देवे। तथा गाम, नगर में जहां जिनमन्दिर आवे, तहां महाध्वज देवे। चैत्यपरिपाटी आदि वड़ा महोत्सव करे। जीर्णचैत्य का उद्धार करे। तथा जब तीर्थों को देखे, तब सुवर्ण, रत्न, मोती आदिक से वर्द्धापन करे। लापसी,

लड्डु प्रमुख का लाहणा करे । तथा साधर्मिवात्सल्य अरु यथोचित दान देवे। बड़े उत्सव से जब तीर्थ को प्राप्त होवे, तब प्रथम हर्ष पूजा धन चढ़ावे, तथा अष्टोपचारविधि, स्नात्र, मालोद्घट्टन, घी की धारा देवे। पहरावणी मोचन करे। तथा नवाङ्ग जिनपूजन, फूलघर कदलीघरादि महा-पूजा करे । दुकूलादिमय महाध्वज देवे। मांगनेवालों को ना न कहे। तथा रात्रिजागरण नाना प्रकार के गीतनृत्यादि उत्सव करे। तथा तीर्थोपवास, छट्ठ प्रमुख तप कोडि लाख अक्षतादि विविध प्रकार का उजमना ढोवे । तथा नाना प्रकार की वस्तु फल एक सौ आठ, चौवीस, व्यासी, बावन, बहत्तरादि ढोवे। सर्व भक्ष्य भोजन के थाल ढोवे। दुकू-लादिमय चन्द्रवा की पहरावणी करे । तथा अंगलूहना, दीपक, तेल, धोती, चन्दन, केसर, कस्तूरी, चंगेरी—छावड़ी, कलश, धूपधान, आरति, आभरण, प्रदीप, चामर, भृंगार, स्थाल, कचोलक, घण्टा, झालरी, पड़हादि विविध प्रकार के वाजिंत्र देवे । देहरी करावे । कारीगरों का सत्कार करे । तीर्थ के विगड़े काम को समरावे—सारसंभाल करे। तीर्थरक्षकों को बहु सन्मान देवे। जैन के मंगतों को, दीनों को, उचित दान देवे । तथा साधर्मिवात्सल्य, गुरुभक्ति करे। इस रीति से यात्रा करके तैसे ही पीछे फिरे, वर्षादि तक तीर्थ व्रत करे ।

अथ स्नात्रविधिर्लिख्यते—मन्दिर में स्नात्र महोत्सव भी

स्नात्रमहोत्सव

घृत का मेरु करे, अष्ट मांगलिक नैवेद्यादि ढोवे। बहुत जाति के चन्दन, केसर, पुष्प, अंबरादि लावे, सकल श्रावक समुदाय को एकत्र करे, गीत नृत्यादि आडम्बर रचावे, दुकूलादि महाध्वज देवे। प्रौढाडम्बर से प्रभावनादि, निरन्तर तथा पर्वदिन में करे। जेकर निरन्तर अथवा पर्वदिन में भी न कर सके, तो भी वर्ष में एक वार तो अवश्य करे। स्नात्र महोत्सव में स्वधनकुलप्रतिष्ठादि के अनुसार सर्वशक्ति से करे, अर्थात् जिनमत का महाउद्योत करे।

तथा देवद्रव्य की वृद्धि के वास्ते प्रतिवर्ष मालोद्घट्टन करे, इन्द्रमाला तथा और माला का महोत्सव भी यथाशक्ति करे। ऐसे ही पहरावणी—नवीन धोती, विचित्र प्रकार का चन्दुआ, अंगलूहणा, दीपक, तेल, उत्तम केसर, चन्दन, बरास, कस्तूरी प्रमुख चैत्योपयोगी वस्तु, प्रतिवर्ष यथाशक्ति देवे।

तथा सुंदर आंगी, पत्रभंगी, सर्वांगाभरण, पुष्पगृह, कदलीगृह, पुतली, पानी के यन्त्रादि की रचना करे। तथा नाना गीत नृत्यादि उत्सव से महापूजा और रात्रिजागरण करे।

तथा श्रुतज्ञान पुस्तकादि की पूजा कर्पूरादि से सदा सुकर है। अरु प्रशस्त वस्त्रादिक से विशेष

श्रुतपूजा पूजा तो प्रतिमास शुक्लपंचमी के दिन श्रावक को करनी योग्य है। जेकर शक्ति न होवे, तो भी वर्ष में एक वार तो अवश्य करे। इसका विस्तार जन्मकृत्य में ज्ञान भक्तिद्वार में लिखेंगे।

तथा पंचपरमेष्ठी नमस्कार, आवश्यकसूत्र, उपदेशमाला, उत्तराध्ययनादि ज्ञान दर्शन का तप, इत्यादि उद्यापन में जघन्य एक वार उद्यापन करे, जिस से लक्ष्मी सफल होवे। जब जप, तप का उद्यापन करे, तब चैत्य पर कलशारोपण करे, फल चढावे, अक्षत पात्र के मस्तक पर अक्षत देवे। जैसे भोजन के ऊपर तांबूल देते हैं, इसी तरे यह भी जान लेना। यह उपधान, उद्यापन विधि शास्त्रांतर से जान लेनी।

तथा तीर्थ की प्रभावना के वास्ते वाजे-गाजे और प्रौढाडंबर से गुरु का प्रवेश करावे, यह व्यवहार प्रभावना भाष्य में कहा है। क्योंकि इस से जिनमत की प्रभावना होती है। तथा यथाशक्ति श्रीसंघ का बहुमान करना, तिलक करना, चन्दन, वरास, कस्तूरी प्रमुख से विलेपन करे, तथा सुगन्धित फूल, भक्ति से नालियरादि विविध तांबूल प्रदानरूप भक्ति करे। क्योंकि शासन की उन्नति करने से तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करता है, यह कथन ज्ञातासूत्र में है।

तथा गुरु के योग मिले जघन्य से भी एक वर्ष में एक वार आलोचना लेवे। अपने करे हुए

आलोचना विधि

सर्व पाप को गुरु के आगे कह देवे, पीछे गुरु जो प्रायश्चित्त देवे, सो लेवे। फिर उस पाप को न करे, तिसका नाम आलोचना लेनी है। श्राद्धजितकल्पादि में इस प्रकार विधि लिखी है। पक्ष पीछे, चार मास पीछे, एक वर्ष पीछे, उत्कृष्ट बारां वर्ष पीछे, निश्चय ही आलोचना करे। अपना शल्य काढ़ने को क्षेत्र से सात सौ योजन, अरु काल से बारां वर्ष तक गीतार्थ गुरु का अन्वेषण करे। तथा जिस गुरु के आगे आलोचना करे, सो गुरु गीतार्थ होवे, मन, वचन, काया करके स्थिर होवे, चारित्रवान् होवे, आलोचना ग्रहण में कुशल होवे, प्रायश्चित्त का जानकार होवे, विषाद रहित होवे, ऐसा गुरु होवे, सो आलोचना प्रायश्चित्त देने योग्य है।

तिन में गीतार्थ उसको कहते हैं कि, जो १. निशीथादि छेद शास्त्रों का मूलपाठ, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, इन का जानकार होवे। तथा ज्ञानादि पंचाचार युक्त होवे। तथा २. आधारवंत—आलोचित पाप का धारनेवाला होवे। ३. आगमादि पांच व्यवहार का जाननेवाला होवे। तिस में भी इस काल में तो जीतव्यवहार मुख्य है, तिसका जाननेवाला होवे। ४. प्रायश्चित्त के आलोचक की लज्जा को दूर करानेवाला होवे। ५. आलोचक की शुद्धि करनेवाला

होवे। ६. आलोचक के पापकर्म और के आगे न कहे। ७. जैसे वो आलोचक निर्वाह कर सके, तैसे प्रायश्चित्त देवे। ८. जो प्रायश्चित न करे, तिसको इस लोक अरु परलोक का भय दिखावे। यह आठ गुण युक्त गुरु होता है।

साधु ने तथा श्रावक ने १. प्रथम तो अपने गच्छ में गच्छ के आचार्य के आगे, २. तदयोगे—तदभावे उपाध्याय के पास, ३. तदभावे प्रवर्त्तक के पास, ४. तदभावे स्थविर के पास, ५. तदभावे गणावच्छेदक के पास, स्वगच्छ में इन पांचों के अभाव से संभोगी एक समाचारीवाले, गच्छांतर में पूर्वोक्त आचार्यादि पांचों के पास क्रम से आलोचे। तिनके भी अभाव से असंभोगी संवेगी गच्छ में पूर्वोक्त क्रम से आलोचे। तिनके भी अभाव हुए गीतार्थ पार्श्वस्थ के पास आलोचे। तिसके अभाव से गीतार्थ सारूपी के पास आलोचे, तिसके अभाव में पश्चात्कृत के पास आलोचे। सारूपी उसको कहते हैं कि, जो शुक्ल वस्त्रधारी होवे, शिरमुंडित, अबद्धकच्छ, रजोहरण रहित, ब्रह्मचारी, स्त्री रहित, भिक्षावृत्ति होवे। अरु जो सिद्धपुत्र होता है, सो शिखा सहित, अर्थात् चोटी सहित, स्त्री सहित होता है। तथा जो पश्चात्कृत होता है, सो चारित्र छोड़ के गृहस्थ के वेषवाला होता है। आलोचना के अवसर में पार्श्वस्थादि को भी गुरु की तरे वंदना करे। क्योंकि विनयमूल धर्म है, इस वासते वंदना करे। जेकर वो पार्श्वस्थादिक अपने आप को

गुणहीन जान कर वंदना न करावे, तब तिसको आसन पर बैठा कर प्रणाम मात्र करके आलोचना लेवे। तथा पश्चात्कृत को इत्वर सामायिक आरोपण लिंग दे कर पीछे से उसके पास यथाविधि से आलोचना लेवे। तथा पार्श्वस्थादिक के अभाव में, जहां राजगृहादि गुणशील चैत्यादिक में, जहां श्री अर्हंत गणधरादिकों ने बहुत बार प्रायश्चित्त लोगों को दिया है, सो तहां रहनेवाले देवता ने देखा है, इस वास्ते तिस देवता को अष्टमादि तप से आराध के, तिसके आगे आलोचे। कदाचित् वो देवता चव गया होवे, अरु उसकी जगे और उत्पन्न हुआ होवे, तदा वो देवता महाविदेह के अर्हंत को पूछ के प्रायश्चित्त देवे। तिसके अभाव में अर्हंत प्रतिमा के आगे आलोचे। आप प्रायश्चित्त लेवे। तिसके अभाव में पूर्वोत्तर मुख करके अर्हंतसिद्धों के समक्ष आलोवे। परन्तु शल्य न रक्खे। आलोचना करनेवाला पुरुष, माया रहित बालक की तरे सरल हो कर आलोचे। जो कोई किसी कारण से आलोचना न करे, वो आराधक नहीं है।

आलोचना करनेवाला दश दोष वर्ज के आलोचना करे। अब दोष के नाम लिखते हैं—१. गुरु को वैयावृत्त्यादि से खुशी करके पीछे आलोचे, जिस से वो गुरु थोड़ा प्रायश्चित्त देवे। २. यह गुरु थोड़ा दण्ड देता है, ऐसे अनुमान करके आलोवे। ३. जो दूसरों ने देखा होवे, सो आलोवे, परन्तु जो अपना किया अपराध दूसरे किसीने न देखा होवे, उसको

न आलोचे । ४. बादर दोष को आलोचे, परन्तु सूक्ष्म दोष को न आलोचे । ५. सूक्ष्म दोष आलोचे, परन्तु बादर दोष न आलोचे । ६. अव्यक्त स्वर से आलोचे । ७. जैसे गुरु समझे नहीं, ऐसे रौळा करके आलोचे । ८. आलोचा हुआ बहुतों को सुनावे । ९. अव्यक्त अगीतार्थ के पास आलोचे । १०. अपराध जो गुरु ने कहा होवे, तिस अपने अपराध को आलोचे । यह दश दोष हैं ।

अब आलोचना करने से जो गुण होता है, सो कहते हैं । जैसे बोझा उठानेवाला भार के दूर हुए हलका हो जाता है, तैसे वो पाप से हलका हो जाता है । तथा पाप-रूप शल्य दूर हो जाता है, प्रमोद उत्पन्न होता है । आत्म पर के दोषों से निवृत्ति, तिसको देख के और भी आलोचना करेंगे । तथा सरलता होती है, शुद्ध हो जाता है । वो दुष्कर काम का करनेवाला है, क्योंकि दोष को सेवना तो दुष्कर नहीं है, किन्तु आलोचना प्रकाश करना, यह दुष्कर है । तथा श्री तीर्थंकर की आज्ञा का आराधक होता है । निःशल्य होता है । आलोचनावाले के ये गुण होते हैं । यह आलोचना विधि श्राद्धजीतकल्पसूत्रवृत्ति के अनुसार लिखी है । बाल, स्त्री, यतिहत्यादि पाप तथा देवादिद्रव्य भक्षण का पाप, तथा राजपत्नीगमनादि महापाप की भी सम्यग् रीति से आलोचना करके गुरुदत्त प्रायश्चित्त करे, तो दूर हो जाते हैं । नहीं तो दृढप्रहारी प्रमुख

उसी भव में मोक्ष कैसे जाते? इस वास्ते वर्ष वर्ष प्रति चौमासे चौमासे आलोचना लेवे।

अथ जन्मकृत्य अठारह द्वारों करके लिखते हैं। तिस में प्रथम उचित द्वार है। सो पहिले तो उचित—योग्य वसने का स्थान करे।

निवासस्थान तथा गृहनिर्माण

जहां रहने से धर्म, अर्थ अरु काम, तीनों की सिद्धि होवे, तहां श्रावक को वास करना चाहिये। क्योंकि और जगे वसने से दोनों भव विगड़ जाते हैं। भिल्लपल्ली में, चोरों के गाम में, पर्वत के किनारे, हिंसक लोगों में, दुष्ट लोगों में, धर्मी लोगों के निंदकों में, इत्यादि स्थान में, वास न करे। परन्तु जहां जिनचैत्य होवे, जहां मुनि आते होवे, जहां श्रावक वसते होवें, जहां बुद्धिमान् लोग स्वभाव से ही शीलवान् होवें, जहां प्रभा धर्मशील होवे, बहुत जल, इन्धन होवे, तहां वास करे। जैसा अजमेर के पास हर्षपुर नगर था, ऐसे नगर में रहने से धनवन्त, गुणवन्त अरु धर्मवन्त की संगति से विनय, विचार, आचार, उदारता, गंभीरता, धैर्य, प्रतिष्ठा आदि गुणों की प्राप्ति होती है, धर्मकृत्य में कुशलता प्रगट होती है। इस वास्ते बूरे गामों में चाहे धनप्राप्ति होवे, तो भी वास न करे। उक्तं च—

यदि वांछसि मूर्खत्वं, ग्रामे वस दिनत्रयं।
अपूर्वस्यागमो नास्ति, पूर्वाधीतं च नश्यति॥

उचित स्थान भी स्वचक्र, परचक्र, परस्पर विरोध, दुर्भिक्ष, मारी, हैजा, प्रजाविरोध, अन्नादि वस्तुक्षय, इत्यादि कारण हो जावें, तो तत्काल छोड़ जाना चाहिये। नहीं तो त्रिवर्ग की हानि हो जावेगी। जैसे आगे तुरकों के भय से लोक दिल्ली को छोड़ के गुजरातादि देशों में जाने से सुखी और धनी हुए हैं। तथा क्षितिप्रतिष्ठित, चनकपुर, ऋषभपुर आदि उजड़ने की व्यवस्था भी जान लेनी, जोकि इस रीति से है—क्षितिप्रतिष्ठित उजड़ के चनकपुर वसा, अरु चनकपुर उजड़ के ऋषभपुर वसा, अरु ऋषभपुर उजड़ के राजगृह वसा, तथा राजगृह उजड़ के चंपा वसी, अरु चम्पा उजड के पाटलीपुत्र अर्थात् पटना वसा। ऐसे श्रावक भी पूर्वोक्त हानि जाने तो नगर को छोड़ के और जगे जा कर वसे।

तथा रहने का घर भी अच्छे पड़ोसियों के पास करे, परन्तु वेश्या, तिर्यंच, भिक्षाचर, श्रमण, बौद्ध, तापसादि ब्राह्मण, मसाण, कोटवाल, माछी, जुगारी, चोर, नट, नाचने-वाला, भाट, कुकर्मी, इत्यादिकों के पड़ोस में घर हाट न लेवे, न वसे। जेकर देहरे के पास रहे, तो हानि होवे। तथा चौक में, धूर्त्त के अरु प्रधान के पास रहे, तो धन अरु पुत्र दोषों का क्षय होवे। तथा मूर्ख, अधर्मी, पाखण्डी, पतित, चोर, रोगी, क्रोधी, चंडाल, मदोन्मत्त, गुरुतल्पग, वैरी, स्वामीवंचक, लोभी, तथा ऋषि, स्त्री, अरु बाल-

हत्या करनेवाला, इतने लोक जेकर अपना भला चाहें, तो भी इनके पड़ोस में न रहे। क्योंकि इनकी संगति से गुणहानि प्रमुख अनेक उपद्रव होते हैं, इस वास्ते इनके पड़ोस में न रहे।

तथा भला स्थान वो होता है कि, जहां हड्डी का शल्य न होवे, राख न होवे, जहां डाभ उगती होवे, भला वर्ण, गन्धवाली मिट्टी होवे, मीठा जल होवे, खोदते धन निकले, वो जगा शुभ है। तथा जो भूमि शीतकाल में उष्ण स्पर्शवाली होवे, अरु उष्णकाल में शीत स्पर्शवाली होवे, वो जगा बहुत शुभ है। एक हाथ मात्र भूमि पहिले खोद के फिर तिस मट्टी से पीछे वो खाड़ा भरे। जेकर मट्टी अधिक रहे, तो श्रेष्ठ भूमि जाननी, अरु जो मट्टी बराबर रहे, तो समान भूमि जाननी, अरु मट्टी ओछी हो जावे तो नेष्ट भूमि जाननी। तथा सौ पग चले, इतने काल में जिस भूमिका में पानी न सूखे, सो उत्तम भूमि जाननी। अरु जेकर सौ पग चले, इतने काल में एक अंगुली भर पानी शोष होवे, तो मध्यम भूमि जाननी, अरु एक अंगुली के भी उपरांत पानी सूखे, तो अधम भूमि जाननी। तथा पक्षांतर में जिस भूमि के खात में फूल गेरें, वो फूल जेकर सूखे नहीं, तो उत्तम भूमि जाननी, अर्द्ध सूखे, तो मध्यम भूमि जाननी, अरु सर्व सूख जावे, तो अधम भूमि जाननी तथा जिस भूमि में व्रीहि बोई हुई

तीन दिन पीछे उगे, तो उत्तम, पांच दिन पीछे उगे तो मध्यम, अरु सात दिन पीछे उगे, तो हीन भूमि जाननी।

सर्प की बंबी पर घर बनावे, तो रोग होवे। पोली भूमि पर घर बनावे, तो निर्धन होवे। शल्ययुक्त भूमि पर घर बनावे तो मरण पावे। मनुष्य का हाड अरु केश का शल्य होवे, तो मनुष्यों की हानि करे, खर का शल्य होवे, तो राजा प्रमुख का भय होवे। श्वान का हाड होवे, तो बालक मरण पावे। बालक का हाड होवे, तो गृहस्वामी परदेश में उजड़ जावे। गौ का शल्य होवे, तो गौ रूप धन की हानि होवे। मनुष्य के केश तथा कपाल अरु भस्म होवें, तो मरण देवे।

तथा प्रथम प्रहर अरु पश्चिम प्रहर वर्ज के शेष प्रहर में वृक्ष की अरु ध्वजा की छाया घर ऊपर पड़े, तो दुःखदायी है। अर्हंत के मंदिर के पीछे न वसे, ब्रह्मा और कृष्ण के पास न रहे, चंडिका और सूर्य के सन्मुख रहे नहीं, महादेव के तो किसी पासे भी न रहे। कृष्ण के वामे पासे अरु ब्रह्मा के दाहिने पासे न रहे। निर्माल्य, स्नान का पानी, ध्वजा की छाया, विलेपन वर्जे। जिनमन्दिर के शिखर की छाया अरु अर्हंत की दृष्टि होवे, तहां न वसे। तथा नगर अथवा गाम के ईशान कोण में घर न बनावे, बनावे तो ऊंच जातिवाले को दुःखदायी है।

घर बनावे, तो पूरा मोल देवे, पडोसी को दुःख न देवे,

घर लेती वक्त किसी को दुःख न देवे। ऐसे ही ईंट, काष्ठ, पाषाण प्रमुख वस्तु निर्दोष, दृढ़, बलवान्, अरु जो नवीन होवे, सो योग्य मोल दे कर लेवे। सो विक्रय होती होवे, तिस का योग्य मोल दे कर लेवे। परन्तु आप ईंटपचावा न लगावे। तथा जिनप्रासादादि की ईंटादि न ग्रहण करे, क्योंकि शास्त्र में भी कहा है कि, देहरा, कूवां, बावडी, मसाण, मठ, अरु राजा के मंदिर, इनके पाषाण, ईंट, काष्ठ को सरसों मात्र भी वर्जे। क्योंकि इनका पाषाण, स्तंभ, पीढ़, पट्टा, द्वार, शाखा, ये सर्व गृहस्थ के घर में विरोधकारी हैं, अरु धर्म के स्थान में सुखदायी हैं।

तथा पाषाणमय घर में काष्ठ के स्थंभ, अरु काष्ठमय घर में पाषाण के स्तंभ, मंदिर में तथा घर में बनाना वर्जे। तथा हल का काष्ठ, कोल्हू का काष्ठ, गाड़े का काष्ठ, अरहट का काष्ठ, चरखे का काष्ठ, कांटेवाले वृक्ष का काष्ठ, पंचउंबर का काष्ठ, थोहर का काष्ठ, ये काष्ठ घर में ना लगावे। तथा बिजोरा, केला, दाडिम, बेरी, जंबीरी, हलदर, आंवली, कीकर अरु धतूरा, इतने का काष्ठ वर्जे। तथा इन वृक्षों की जड पडोस से घर में प्रवेश करे, अथवा इनकी छाया घर में पडे, तो कुल का नाश करे। तथा पूर्वदिशा की तरफ घर ऊंचा होवे, तो धन का नाश करे। तथा दक्षिणदिशा की तरफ ऊंचा होवे, तो धन की वृद्धि करे। पश्चिमदिशा में ऊंचा होवे, तो धनादि की वृद्धि करे। उत्तरदिशा में होवे, तो उजड़ जावे।

तथा जो गोल घर होवे, बहुत कूणेवाला होवे, अथवा एक कूणा, दो कूणा, तीन कूणा होवे, अरु दक्षिणवामी तरफ लंबा होवे, ऐसे घर में न वसे। तथा जिस घर के कवाड स्वयमेव उघड़े अरु भिड़े वो घर सुखकारी नहीं।

तथा घर के द्वार के आगे कलशादि चित्राम होवे, तो शुभ है। तथा रंगनी, नाटारंभ, भारत, रामायण का युद्ध, राजाओं का युद्ध, ऋषियों का चरित्र, देवचरित्र, ये चित्राम कराना घर में शुभ नहीं। तथा फलवृक्ष, फूलीवेल, सरस्वती, नव निधान, यज्ञस्तंभ, लक्ष्मीदेवी, कलश, वर्द्धमान, चौदह स्वप्ना-वलि, ये चित्राम कराना शुभ है।

तथा खजूर, दाडिम, केला, कोहड़ा, वीजोरा, ये जिस घर में ऊगें, उस घर का नाश करते हैं। वटवृक्ष ऊगे तो लक्ष्मी का नाश करते है। कांटेवाला वृक्ष उगे, तो शत्रु का भय करे। बडे फलवाला वृक्ष उगे, तो संतान का नाश करे। इन वृक्षों का काष्ठ भी वर्जे। तथा कोई शास्त्र ऐसा कहता है कि, घर के पूर्व वटवृक्ष होवे तो अच्छा है। दक्षिण पासे उदंबर-वृक्ष शुभ है, पश्चिम भाग में पीपल, उत्तर पासे पिलंखन वृक्ष अच्छा है।

तथा घर में पूर्वदिशा में लक्ष्मी का घर करे, अग्निकोण में रसोई करे, दक्षिणदिशा में शयन की जगा करे, नैऋत्य कोण में शस्त्रशाला करे, पश्चिम दिशा में भोजनक्रिया करे, वायुकोण में अन्न संग्रह करे, उत्तर पासे जल रखने का स्थान

करे, ईशानकोण में देवगृह करे, तथा दक्षिण पासे अग्नि, पानी, गाय, वायु और दीवे की भूमि बनावे। तथा वामे पासे भोजन, धान्य, द्रव्य, वाहन, देवता की भूमि करे, यह पूर्वादि दिशा घर के दरवाजे की अपेक्षा से जाननी, छींकवत्, न तु सूर्यापेक्षा।

तथा घर बनानेवाले सूत्रधार, मजूर प्रमुख को बोले प्रमाण से कछुक अधिक मजूरी देवे, इसमें शोभा है। गृहस्थ को चाहिये, ऐसा घर बनावे, परन्तु व्यर्थ बड़ा घर न बनावे। क्योंकि उसमें व्यर्थ धन खरचना है। घर का द्वार, मर्यादा से योग्य जान के रक्खे। क्योंकि बहुत दरवाजे बनाने से दुष्ट जनों के आने जाने से स्त्री अरु धन का नाश हो जाता है। तथा दरवाजे का किवाड़ दृढ़ बनावे, सांकल अर्गलादि से सुरक्षित करे, किवाड़ भी सुख से खुल जावे, ऐसे बनावे। भीत में भोगल रखने से पंचेन्द्रिय जीव की विराधना होती है। किवाड़ भेड़े, तब यत्न से भेड़े। ऐसे प्रणाला, खालादि का भी यथाशक्ति से उद्यम करे। इसी तरे देश, काल, स्वविभव उचित, स्वजाति उचित घर बना के विधि सहित स्नात्रपूजा, साधर्मिवात्सल्य, संघपूजा करके भले मुहूर्त्त में भले शकुन में प्रवेश करे, तो बहुत सुखदायी होवे, त्रिवर्ग की सिद्धि का हेतु होवे।

दूसरा विद्या द्वार कहते हैं। विद्या—सो लिखित, पठित,

विद्या — वाणिज्यादि कला का ग्रहण करे, अर्थात् अध्ययन करे। क्योंकि जो विद्या नहीं सीखता है सो मूर्ख रहता है। पग पग में पराभव पाता है। अरु विद्यावान् परदेश में भी माननीय होता है। इस वास्ते सर्व प्रकार की कला सीखनी चाहिये। क्या जाने क्षेत्रकाल के विशेष से किस कला से आजीविका करनी पड़े? जिसने सर्वकला सीखी होवे, उसने भी पूर्वोक्त सात प्रकार की आजीविका में से जिस करके सुख से निर्वाह होवे, सो आजीविका करनी। जेकर सर्व कला सीखने में समर्थ न होवे, तब जिस कला से अपना सुखपूर्वक निर्वाह होवे, अरु परलोक में अच्छी गति होवे, सो कला सीखे। पुरुष को दो बातें अवश्य सीखनी चाहिये, उसमें एक तो जिस से सुखपूर्वक निर्वाह होवे सो, अरु दूसरी जिस से मर के अच्छी गति में जावे, यह दो बातें अवश्य सीखनी।

तीसरा विवाह द्वार—सो विवाह भी त्रिवर्ग शुद्धि का

विवाह — हेतु होने से उचित ही करना चाहिये। विवाह अन्य गोत्रवाले से करना चाहिये। तथा समान कुल, सदाचारादि—शील, रूप, वय, विद्या, धन, वेष, भाषा, प्रतिष्ठादि गुणों करके जो अपने समान होवे, तिसके साथ विवाह करे। अन्यथा अवहेलना, कुटुंबकलहादि अनेक कलंक उत्पन्न होते हैं,

श्रीमतीवत् । तथा सामुद्रिक शास्त्रोक्त शरीर के लक्षण अरु जन्मपत्रिका देख के वर कन्या की परीक्षा करके विवाह करे । तदुक्तं—

कुलं च शीलं च सनाथता च,
विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीया-
स्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या ॥

तथा जो मूर्ख होवे, निर्धन होवे, दूर होवे, सूरमा होवे, मोक्षाभिलाषी, वैरागवन्त होवे, वय में कन्या से त्रिगुणा अधिक होवे, इनको कन्या न देनी । तथा अति धनवान्, अति शीतल, अति क्रोधी, विकलांग, अरु रोगी, इनको भी कन्या न देनी । तथा जो कुल जाति से हीन होवे, माता पिता रहित होवे, स्त्री पुत्र सहित होवे, इनको भी कन्या न देनी । तथा जिसका बहुतों से वैर होवे, जो नित्य कमा के खावे, अरु जो आलसी होवे, इनको भी कन्या न देनी । तथा सगोत्री को, जुआरी को, कुव्यसनी को, विदेशी को भी कन्या न देनी । जो स्त्री कपट रहित भर्त्तार के साथ वर्ते, देवर के साथ भी कपट रहित वर्ते, सासु की भक्ता होवे, स्वजन की वत्सला होवे, भाइयों में स्नेह-वाली होवे, कमल की तरे विकसित वदनवाली होवे, सो कुलवधू सुलक्षणा है ।

अग्नि देवता की साक्षी से पाणिग्रहण करना, तिसको विवाह कहते हैं। सो विवाह लोक में आठ प्रकार का—१. अलंकार करके कन्या देवे, तिसका नाम ब्राह्मविवाह है। २. कन्या के पिता को धन देके जो कन्या विवाहे, तिसका नाम प्राजापत्य विवाह है। इन दोनों विवाह की विधि आचारदिनकर शास्त्र से जान लेनी। ३. बछड़े सहित गोदानपूर्वक, सो ऋषिविवाह। ४. जो यज्ञ के वास्ते दीक्षा लेवे, उसको जो कन्या देवे, सोई दक्षिणा है, सो देवविवाह है। यह दोनों विवाह लौकिक वेदसम्मत हैं; परन्तु जैनवेद में सम्मत नही हैं। क्योंकि इन दोनों विवाहों के मंत्र, जैनवेद में नहीं हैं, अरु ये दोनों विवाह जैनमतवालों के मत में करने योग्य नहीं हैं। इन पूर्वोक्त चारों विवाहों को लोकनीति में धर्मविवाह कहते हैं। ५. माता पिता की आज्ञा के विना परस्पर स्त्री पुरुष के राग से जो विवाह होवे, तिसको गंधर्व विवाह कहते हैं। ६ किसी काम की प्रतिज्ञा करा के कन्या देवे, सो आसुर विवाह है। ७. जो जोरावरी से कन्या को ग्रहण करे, सो राक्षस विवाह कहते है। ८. सोती, मदोन्मत्त, बावरी, प्रमादवंत, कन्या को ग्रहण करे, सो पिशाच विवाह है। इन चारों को अधर्म विवाह कहते हैं। जेकर वधू वर की परस्पर रुचि होवे तदा अधर्मविवाह को भी धर्मविवाह जानना। अच्छी स्त्री का लाभ होना, यह विवाह का फल

है। अरु स्त्री मिलने का फल यह है कि अच्छा पुत्र उत्पन्न होवे, चित्त की वृत्ति अनुपहत रहे, शुद्धाचार, देवगुरु, अतिथि, बांधवादि का सत्कार होवे।

तथा विवाह में जो धन खरचे, सो अपने कुल वैभव की अपेक्षा लोक में जैसे अच्छा लगे, उतना खरच करे, परन्तु अधिक अधिक खरचने की चाल न वढ़ावे। क्योंकि अधिकाधिक खरच तो धर्म पुण्य की जगे ही करना ठीक है। विवाहादि के अनुसार स्नात्रमहोत्सव, बड़ी पूजा, आदर सहित करे। रसवती ढौकन अरु चतुर्विधसंघ का सत्कार करे। क्योंकि विवाहादि जो हैं, सो सब संसार के कारण हैं, इस में से जितना धर्म में लग जावे, सो सफल है।

अथ चौथा मित्र द्वार कहते हैं। उसको मित्र बनावे, उसको गुमास्ता रक्खे, जो उसको सहायक होवे। अर्थात् उत्तम प्रकृतिवाला, साधर्मी, धैर्यवन्त, गम्भीर, चतुर, बुद्धिमान्, प्रतीतकारी, सत्यवादी इत्यादि शुभगुण युक्त जो होवे, उसको मित्र बनावे।

जिनमन्दिर का निर्माण

पांचमा द्वार भगवान् का मन्दिर वनावे। वड़ा ऊंचा, तोरण शिखर मंडपादि मंडित, भरतचक्रवर्त्यादिवत् वनावे। सुवर्ण मणि रत्नमय तथा विशिष्ट पापाणमय, अथवा विशिष्ट काष्ठ और ईंटमय मन्दिर बनावे। जेकर शक्ति

न होवे, तो तृण की कुटी भी न्यायार्जित धन से बना कर उसमें मट्टी की प्रतिमा बना करके पूजे। न्यायोपार्जित धन से ही जिनमन्दिर बनाना चाहिये। जिसने जिनभवन नहीं कराया, जिनप्रतिमा नहीं बनवाई, जिनप्रतिमा की पूजा नहीं करी अरु साधुपना नहीं लिया, उस पुरुष ने अपना जन्म हार दिया है। जो पुरुष शक्ति के अभाव से एक फूल से भी पूजा करे, तो भी वो परमपुण्य उपार्जन करता है, तो फिर जिसने दृढ़, निविड, सुंदर शिला से श्रीजिनभवन मानरहित हो कर बनवाया है, तिसके पुण्य का तो क्या कहना है? उसका तो जन्म ही सफल है।

अब जिनमन्दिर बनाने की विधि है, सो लिखते हैं— भूमि अरु काष्ठादि शुद्ध होवे। मजूरों से छल न करे, सूत्रधार, कारीगरों को सन्मान देवे। तथा पूर्व में जो घर बनाने की विधि कही, वो सर्व इहां विशेष करके जाननी। काष्ठादि जो लावे, सो देवाधिष्ठित बनादि से सूखा लावे, परन्तु अविधि से न लावे। तथा आप ईंट पकावे, तो अच्छा नहीं। नौकरों को, काम करनेवालों को ठहराये से भी कछुक महीना अधिक देवे। क्योंकि वे लोक तुष्टमान होकर अच्छा और पक्का काम करेंगे। अरु मन्दिरादि कराने में शुभ परिणाम के वास्ते गुरु संघ समक्ष ऐसे कहे कि, जो इहां अविधि से पर का धन मेरे पास आया होवे, तिस का पुण्य तिस को होवे। इस तरे जिनमन्दिर बनावे। परन्तु भूमि खोदनी,

पूरणी, पाषाणदल से कपाट लाने, शिला फोड़नी, चिनने प्रमुख में महा आरम्भ होता है, इस वास्ते जिनमन्दिर न वनाना चाहिये ? ऐसी आशंका न करनी। क्योंकि यत्न से प्रवृत्त होने से निर्दोषता है। अरु नाना प्रतिमास्थापन, पूजन, संघसमागम, धर्मदेशना करनी, दर्शन व्रतादि की प्रतिपत्ति, शासनप्रभावना, अनुमोदनादि, अनंत पुण्य का हेतु होने से तथा शुभोदय का हेतु होने से कूप के दृष्टांत से महा लाभ का कारण है।

अरु जीर्णोद्धार में ऐसी रीति है। यतः—

नवीनजिनगेहस्य, विधाने सत्फलं भवेत्।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं, जीर्णोद्धारेण जायते ॥ १ ॥

जीर्णे समुद्धृते यावत्तावत्पुण्यं न नूतने।
उपमर्दो महांस्तत्र, स्वचैत्यख्यातिधीरपि ॥ २ ॥

तथा—

राया अमच्चसिट्ठी, कोडुंवीए वि देसणं काउं।
जिण्णे पुव्वाययणे, जिणकप्पीयावि कारवइ ॥ १ ॥

अर्थः—राजा, मन्त्री, श्रेष्ठी, कौटुंबिकों को उपदेश देकर जीर्ण जिनमन्दिर का उद्धार जिनकल्पी साधु भी करावे। जो जिनभवन का उद्धार करे, तिसने भयंकर संसार

से अपनी आत्मा का उद्धार करा है, ऐसा जान लेना। जीर्ण-चैत्योद्धारकरणपूर्वक ही नवीन चैत्य करना योग्य है। इसी वास्ते संप्रति राजाने नवासी हजार जीर्णोद्धार कराये हैं। अरु नवीन जिनमन्दिर तो छत्तीस हजार ही बनवाये हैं। ऐसे ही कुमारपाल राजा तथा वस्तुपालादिकों ने भी नवीन जिनमंदिरों के बनाने की अपेक्षा से जीर्णोद्धार बहुत कराये हैं।

तथा जब चैत्य बन जावे, तब शीघ्र ही प्रतिमा विराजमान करनी चाहिये। यदाह श्रीहरिभद्रसूरिः—

जिनभवने जिनबिंबं, कारयितव्यं द्रुतं तु बुद्धिमता।
साधिष्ठानं ह्येवं, तद्भवनं वृद्धिमद्भवति॥

देहरे में कुंडी, कलश, उरसा, प्रदीप, भंडार, बाग, बाडी, गाम, नगर, प्रमुख राजा देवे। जैसे सिद्धराज राजाने, श्रीरैवताचल ऊपर श्रीनेमिनाथ के चैत्य वास्ते बारां गाम दिये थे। तथा जैसे कुमारपाल राजाने वीतभयपाटन के खुदाने से त्रांबापत्र में श्रीउदयन राजा के दिये गाम निकले, सो कबूल करके दिये; तैसे देवे। श्रीजिनमंदिर के बनाने का फल यह है कि, जो यथाशक्ति से अपने धन के अनुसार श्रीजिनवर का भवन करावे, सो देवता जिसकी स्तुति करे, बहुत काल लग आनंद-रूप, ऐसा देवविमानादि का परम सुख पावे।

अथ षष्ठ प्रतिमा द्वार—सो श्रीअर्हंत का बिंब, मणि, सुवर्ण, धातु, चंदनादि काष्ठ अरु पाषाण, माटी प्रमुख का पांच सौ धनुष प्रमाण, यावत् अंगुष्ठ प्रमाण यथाशक्ति से बनावे। श्रीजिनप्रतिमा बनानेवाले को जो फल होता है, सो कहते हैं:—

जिनप्रतिमा का निर्णय

सन्मृत्तिकामलशिलातलदंतरौप्य-
सौवर्णरत्नमणिचंदनचारुबिंबम् ।
कुर्वंति जैनमिह ये स्वधनानुरूपं,
ते प्राप्नुवंति नृसुरेषु महासुखानि ॥

दारिद्दं दोहग्गं कुजाइकुसरीरकुगईकुमईओ ।
अवमाणरोगसोगा न हुंति जिणबिंबकारीणं ॥

अर्थः—जो जिनबिंब का करानेवाला है, सो दारिद्र, दौर्भाग्य, कुजाति, विरूप शरीर, नरक तिर्यंच की गति, बुरी बुद्धि, परवशपना, रोगी अरु शोकपने को न पावे।

तथा प्रतिमा भी वास्तुशास्त्र में कही विधिपूर्वक बनावे। सुलक्षणा, संतति की वृद्धि करनेवाली बनावे। तथा जो प्रतिमा अन्यायोपार्जित द्रव्य से बने, दोरंगादि रंगवाले पाषाण की बने, जिसका अंग हीनाधिक होवे, सो प्रतिमा स्वपर की उन्नति का नाश करनेवाली है। तथा जिस प्रतिमा

का मुख, नाक, नेत्र, नाभि, कटि, इतने अंग, भंग होवे, तो उस प्रतिमा को मूलनायक नहीं करना चाहिये। अरु आभरण सहित, वस्त्र सहित, परिकर सहित, लांछन सहित पूजे। तथा जिस प्रतिमा को सौ वर्ष से अधिक वर्ष हो गया होवे, अरु आगे जो प्राभाविक पुरुष की प्रतिष्ठी हुई होवे, वो प्रतिमा जेकर खंडित होवे, तो भी पूजने योग्य है। तथा बिंब के परिवार में पाषाणमय में, जेकर दूसरा रंग होवे, तो वो बिंब सुखकारी नहीं। जो बिंब सम अंगुल प्रमाण होवे, सो शुभ नहीं। तथा एक अंगुल से लेकर ग्यारह अंगुल प्रमाण बिंब घर में पूजना चाहिये। इस से उपरांत प्रमाणवाला बिंब होवे, तो प्रासाद में पूजना चाहिये। यह कथन पूर्वाचार्यों का है। तथा निरयावलिसूत्र में कहा है कि, लेप की, पाषाण की, काष्ठ की, दांत की, लोहे की प्रतिमा, परिवार अरु प्रमाण रहित होवे, तो घर में न पूजे। तथा घरप्रतिमा के आगे नैवेद्य का विस्तार न करे। तीन काल में निश्चय से अभिषेक करे। पूजा भाव से करे। प्रतिमा मुख्यवृत्ति से परिकर सहित, तिलक सहित, आभरण सहित करावे। उस में मूलनायक तो विशेष करके शोभनीक बनाना चाहिये। क्योंकि जिनप्रतिमा की अधिक शोभा देखने से परिणाम अधिक उल्लासमान होने से कर्मों की अधिक निर्जरा होती है।

जिनमंदिर अरु जिनप्रतिमा बनानेवाले को अतुल्य

पुंण्य फल होता है। जहां तक वो मन्दिर अरु प्रतिमा रहेंगे, तहां तक पुण्य फल होवे। जैसे अष्टापद ऊपर भरत राजा का कराया चैत्य तथा रेवतगिरि ऊपर ब्रह्मेंद्र का कराया कांचन वलानकादि चैत्यप्रतिमा, अरु भरतचक्री की अंगूठी में माणिक की प्रतिमा, तथा कुल्पाक तीर्थ में माणिक्यस्वामी की प्रतिमा कहलाती है। तथा श्रीस्तंभनक पार्श्वनाथ की प्रतिमा आज लग पूजते हैं। इसी वास्ते इस चौवीसी में पहिले भरतचक्री ने श्रीशत्रुंजय तीर्थ में रत्नमय चौमुख चौरासी मंडप संयुक्त श्रीऋषभदेव का मन्दिर बनवाया। पांच कोडी मुनियों से पुंडरीक गणधर मोक्ष गये। ज्ञाननिर्वाण के ठिकाने भी बनवाये। ऐसे ही बाहुबली, मरुदेवीशृंग में तथा रेवतगिरि, अर्बुदगिरि, वेभारगिरि अरु समेतशिखर में भी जिनमंदिर बनवाये। प्रतिमा भी सुवर्णादिक की बनवाई। तथा भरतराजा की आठमी पीढी में–पुस्त में दण्डवीर्य राजा ने तथा दूसरा सगर चक्रवर्त्यादिकों ने तिन का उद्धार कराया। तथा हरिषेन नामक दशमे चक्रीने श्रीजिनमंदिर मंडित पृथ्वी करी, तथा संप्रति राजा ने सवा लाख जिनमंदिर तथा सवा क्रोड़ जिनप्रतिमा बनवाई। तथा आम राजा ने गोपालगिरि अर्थात् गवालियर के राजा श्रीमहावीर अर्हंत का मन्दिर एक सौ एक हाथ ऊंचा बनवाया। तिस में साढे तीन क्रोड़ सोनामोहोर खरच कर सात हाथ प्रमाण ऊंची श्रीमहावीर अर्हंत की प्रतिमा विराजमान करी। तहां मूल

मण्डप में सवा लाख सोनैया लगाया, अरु प्रेक्षामंडप में इकीस लाख सोनैया खरच करा। तथा कुमारपाल राजा ने चौदह सौ चौतालीस (१४४४) नवीन जिनमन्दिर कराये, अरु सोलां सौ मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। छयानवे क्रोड़ रुपये खरच के त्रिभुवनविहार नामा जिनमंदिर बनवाया। इस में एक सौ पच्चीस अंगुल प्रमाण अरिष्टरत्नमयी प्रतिमा स्थापित की, और बहत्तर देहरियों में चौवीस प्रतिमा रत्न की, चौवीस सोने की, चौवीस रूपे की स्थापन करीं। अरु चौदह भार प्रमाण एक एक चौवीसी बनवाई। तथा मंत्री वस्तुपाल ने तेरां सौ तेरां नवीन जिनमंदिर बनवाये। और बाईस सौ जीर्णोद्धार कराये। सवा लाख प्रतिमा, अरु सवा लाख रत्नसुवर्ण से जड़े हुए आभूषण, प्रतिमाजी के बनवाये। तथा शाह पेथड़ने चौरासी जिनमन्दिर बनवाये। मांधाता अरु ॐकार नगर में तथा देवगिरि में क्रोड़ों रूपक खरच के वीरमदे राजा के राज्य में चौरासी जिनमन्दिर बनवाये। तीन लाख रुपैया दान में दीया। तथा तिस ही पेथडशाह ने श्रीशत्रुंजय तीर्थ में श्रीऋषभदेवजी के मन्दिर को सुवर्णपत्र से मढ़ा के मेरु के शृंगवत् कर दिया था। ये सर्व पूर्वोक्त मन्दिर राजा अजयपाल अरु मुसल्मानों ने गारत कर दिये, शेष जो बचे बचाये रहे हैं, वे आज भी आबु तारंगादि पर्वतों पर विद्यमान हैं।

सातमा प्रतिमा की प्रतिष्ठा का द्वार—सो प्रतिमा की

प्रतिष्ठा शीघ्र करनी चाहिये । षोडशक ग्रन्थ में लिखा है कि, मन्दिर तयार हुए पीछे दश दिन के अभ्यंतर ही प्रतिष्ठा करानी चाहिये । प्रतिष्ठा की विधि प्रतिष्ठाकल्प प्रमुख ग्रन्थों से जान लेनी ।

दीक्षा

आठमा दीक्षा द्वार—सो बड़े महोत्सव से पुत्र, पुत्री, भाई, भतीजा, स्वजन, मित्र, परिजन प्रमुख को दीक्षा दिलावे । उपस्थापना करावे, तथा दीक्षा लेनेवालों का महोत्सव करे । यह महा-पुण्य का कारण है । जिस के कुल में चारित्रधारक पुरुष होवे, सो बड़ा पुण्यवान् कुल है । लौकिक शास्त्र में भी लिखा है कि—

तावद् भ्रमंति संसारे, पितरः पिण्डकांक्षिणः ।
यावत्कुले विशुद्धात्मा, यतिः पुत्रो न जायते ॥

नवमा तत्पदस्थापना द्वार—सो गणि, वाचनाचार्य, वाचक, आचार्यादि पदप्रतिष्ठा को शासन की उन्नति के वास्ते बडे महोत्सव से करे । जैसे पहिले गणधरों की शक्र—इन्द्र ने करी है, तथा मन्त्री वस्तुपाल ने इक्कीस आचार्यों की पद-स्थापना करी ।

पुस्तकलेखन

दशमा पुस्तक लिखावने का द्वार—सो पुस्तक जो आचा-रांगादि कल्पसूत्र अरु जिनचरित्रादि को न्यायार्जित धन से लिखावे । अच्छे पत्र—कागज ऊपर बहुत शुद्ध सुंदर अक्षरों से

लिखावे। तथा आप वांचे, संवेगी गीतार्थ पासों वंचावे। तथा प्रौढ़ प्रारम्भादि महोत्सव से प्रतिदिन पुस्तक की पूजा बहुमानपूर्वक व्याख्यान करावे। तिन के पढ़नेवालों की वस्त्र अन्नादि से सहायता करे। शास्त्र जो हैं, सो दुखम काल के प्रभाव से बारां वर्ष के दुर्भिक्षकाल में बहुत विच्छेद गये, अरु जो शेष रहे, सो भगवान् नागार्जुन, स्कंदिलाचार्य प्रमुख ने पुस्तकों में लिखे; तब से लिखे हुए शास्त्रों का बहुमान करने लगे। इस वास्ते पुस्तक जरूर लिखाने चाहियें। क्योंकि जो यह विच्छेद हो जायंगे, तो फिर इस क्षेत्र के अनाथ जीवों को कौन ज्ञान देवेगा? इस वास्ते पुस्तकों के ऊपर दुकुलादि वस्त्र बांध के यत्न से पूजने और रखने चाहिये। शाह पेथड ने सात क्रोड, अरु मंत्री वस्तुपाल ने अठारह क्रोड़ रुपैये खरच के ज्ञान के तीन भंडार बनाये। तथा थिरापद्रीय संघपति आभू ने अपनी माता के नाम के तीन क्रोड़ रुपैये से सर्वागमों की प्रति सोने के अक्षरों से लिखवाई, शेष ग्रन्थ स्याही के अक्षरों से लिखवाए।

पौषधशाला का निर्माण

ग्यारहवां पौषधशाला बनाने का द्वार—सो श्रावक प्रमुख के पौषध करने के वास्ते साधारण स्थान में पूर्वोक्त घर बनाने की विधि के अनुसार बनानी चाहिये। वो शाला समरा के अवसर में सुसाधु के रहने को भी देवे, तिस

का महाफल है। श्रीवस्तुपाल ने नौ सौ चौरासी (९८४) पौषधशाला कराई, सिद्धराज जयसिंह राजा के प्रधान सांतू ने अपने रहने वास्ते बहुत सुन्दर आवास करा के श्रीवादिदेवसूरिजी को दिखलाया। अरु मंत्रीजी ने पूछा कि कैसा आवास है ? तब चेले माणिक्य ने कहा कि, पौषधशाला होवे तो वर्णन करें। तब मन्त्री ने कहा कि, यह पौषधशाला ही होवे।

तथा बारहवां अरु तेरहवां द्वार में आजन्म—बाल्यावस्था से ले कर जावजीव सम्यक्त्वदर्शन का यथाशक्ति पालन करे, यह बारहवां, अरु यथाशक्ति से व्रतादि पाले; यह तेरहवां द्वार है।

भाव श्रावक

चौदहवां दीक्षा ग्रहण का द्वार—सो श्रावक अवसर जान के दीक्षा ग्रहण करे। तात्पर्य यह है कि, श्रावक जो है, सो निश्चय बाल अवस्था में दीक्षा न लेवे, तो अपने मन में ठगाया हुआ माने। जैसे जगत् में अति वल्लभ वस्तु को लोक स्मरण करते हैं, तैसे श्रावक भी नित्य सर्वविरति लेने की चिंता करे। जेकर गृहवास भी पाले, तो औदासीन्य—अलिप्तपने अपने को प्राहुणे के समान समझे, क्योंकि भावश्रावक के लक्षण सतरा प्रकार से कहे हैं। यथा—

१. स्त्री से वैराग्य, २. इंद्रिय वैराग्य, ३. धन से वैराग्य, ४. संसार से वैराग्य, ५. विषय से वैराग्य, ६. आरंभ का

स्वरूप जाने, ७. घर को दुःखरूप जाने, ८. दर्शनधारी होवे, ९. गडरिया प्रवाह को छोडे, १०. धर्म में आगे हो कर प्रवर्त्ते, आगमानुसार धर्म में प्रवर्त्ते, ११. दानादिक में यथाशक्ति प्रवर्त्ते, १२. विधिमार्ग में प्रवर्त्ते, १३. मध्यस्थ रहे, १४. अरक्त-द्विष्ट, १५. असंबद्ध, १६. परहित वास्ते अर्थ काम का भोगी न होवे, १७. वेश्या की तरे घरवास पाले—इन सतरा पद से युक्त भावश्रावक होता है। तिन में प्रथम, स्त्री जो है, सो अनर्थ का भवन है, चपलचित्तवाली है, नरक की वाट सरीखी है, जानता हुआ कभी इस के वशवर्त्ती न होवे। दूसरी इन्द्रियां जो हैं, सो चपल घोड़े के समान हैं, खोटी गति की तरफ नित्य दौड़ती हैं, उनको भव्य जीव, संसार का स्वरूप जान के सत् ज्ञानरूप रज्जु से रोके। तीसरा धन जो है, सो सर्व अनर्थ का और क्लेश का कारण है, इस वास्ते धन में लुब्ध न होवे। चौथा, संसार को दुःखरूप दुःखफल दुःखानुबंधी विडंबनारूप जान के प्रीति न करे। पांचमा विषय का क्षणमात्र सुख है, विषय विषफल समान है, ऐसे जान के कदापि विषय में गृद्धि न करे। छट्ठा तीव्रारंभ को सदा वर्जे, जेकर निर्वाह न होवे, तो भी स्वल्पारंभ करे, अरु आरम्भ रहितों की स्तुति करे, सर्व जीवों पर दयावंत होवे। सातवां गृहवास को दुःखरूप फांसी मान के गृहवास में वसे, अरु चारित्रमोहनीय कर्म के जीतने में उद्यम करे। आठमा आस्तिक्य भाव संयुक्त जिन-

शासन की प्रभावना गुरुभक्ति करे, ऐसे निर्मल सम्यग्दर्शन को धरे। नवमा जिस तरें बहुत मूर्ख लोक भेड़ (गड्डरी) प्रवाहवत् चलते होवें, तैसे न चले। परन्तु जो काम करे, सो विचार के करे। दशमा श्रीजिनागम के विना और कोई परलोक का यथार्थ मार्ग कहनेवाला शास्त्र नहीं, इस वास्ते जो काम करे, सो जिनागमानुसार करे। ग्यारहवां अपनी शक्ति के विना गोपे चार प्रकार का दानादि धर्म करे। बारहवां हितकारी, अनवद्य, धर्मक्रिया को चिंतामणीरत्न की तरें दुर्लभ जान के करता हुआ किसी मूर्ख के हसने से लज्जा न करे। तेरहवां शरीर के रखने के वास्ते धन, स्वजन, आहार, घर प्रमुख में वसे। परन्तु राग, द्वेष, किसी वस्तु में न करे। चौदहवां उपशांतवृत्ति सार है, ऐसे विचार से जो राग द्वेष में लेपायमान न होवे, खोटा आग्रह न करे, हित का अभिलाषी और मध्यस्थ रहे। पंदरहवां सर्व वस्तु की क्षणभंगुरता को विचारे, धनादि के साथ प्रतिबंध को तजे। सोलहवां संसार से विरक्त मन होवे, क्योंकि भोग भोगने से आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ है, परन्तु स्त्री आदि के आग्रह से जेकर भोगों में प्रवर्त्ते, तो भी विरक्त मन रहे। सतरहवां वेश्या की तरें अभिलाषा रहित वर्त्ते, ऐसा विचारे कि आज कल ये अनित्य-सुख मुझ को छोड़ने पड़ेंगे। इस वास्ते घरवास में स्थिर भाव न रक्खे। इन सतरा गुण से युक्त श्रीजिनागम में भाव श्रावक कहा है।

ऐसे शुभ भावना वासित प्रागुक्त दिनकृत्यादि में रक्त "इणमेव निग्गंथे पवयणे अट्ठे परमट्ठे सेसे अणट्ठे" ऐसी सिद्धांतोक्त रीति से वर्त्तमान सर्व व्यापारों में सर्व प्रयत्न से वर्त्तता हुआ सर्वत्राऽप्रतिबद्ध चित्त करके क्रम से मोह के जीतने में समर्थ होके पुत्र, भाई, भतीजादि को गृहभार सौंप के, अपनी शक्ति को देख के, अर्हंत चैत्य में अट्ठाई महोत्सव करके, संघ की पूजा करके, दीन अनाथों को यथा-शक्ति दान दे के, परिचित जनों से खामणा करके सुदर्शन श्रेष्ठीवत् विधि से सर्वविरति अंगीकार करे।

पंदरहवां द्वार—जेकर दीक्षा लेने की शक्ति न होवे, तदा आरंभ का त्याग करे। जेकर निर्वाह न होवे, तो भी सर्व सचित्ताहारादिक कितनाक आरम्भ वर्जे।

सोलमा द्वार—ब्रह्मचर्य जावजीव तक अंगीकार करे, यथा शाह पेथड़ ने बत्तीस वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचर्य धारण किया।

सतरहवां द्वार—प्रतिमादि तपविशेष करे। आदि शब्द से संसारतारणादि तप करे। तहां ग्यारह प्रतिमा का स्वरूप इस तरें है—१. रायाभिओ-गेणादि छ आगार रहित, तथा सतसठ बोल श्रद्धादि सहित सम्यग् दर्शन भय लज्जादि से अतिचार रहित त्रिकाल देवपूजादि में तत्पर एक मास तक सम्यक्त्व पाले, यह प्रथम प्रतिमा। २. दो मास तक अखंडित पांच

ग्यारह प्रतिमा

अणुव्रत पाले । सो भी पिछली प्रतिमा सहित वर्ते । ३. तीन मास तक उभय काल अप्रमत्त पूर्वोक्त दो प्रतिमा सहित सामायिक करे । ४. चार मास तक चार पर्वों में पूर्व की तीन प्रतिमा सहित अखंडित परिपूर्ण पौषध करे । ५. पांच मास तक स्नान न करे । रात्रि को चार आहार वर्जे, दिन में ब्रह्मचर्य धरे । कच्छ बांधे नहीं । चार पर्वों में घर में तथा चौक में निष्प्रकंप हो के सकल रात्रि कायोत्सर्ग करे । यह सर्व पूर्व की प्रतिमा सहित करे । यह बात आगे भी सर्व प्रतिमा में जान लेनी । ६. छ मास तक ब्रह्मचारी होवे । ७. सात मास तक सचित्त आहार वर्जे । ८. आठ मास तक आप आरंभ न करे । ९. नव मास तक आरंभ करावे नहीं । १० दश मास तक क्षुरमुंडित रहे अथवा अल्प चोटी रक्खे । घर में गडा हुआ धन होवे, जब घर के पूछें तब कहे जानता हूं, और जो न गडा होवे, तो कहे मैं नहीं जानता । शेष घर का कृत्य सर्व वर्जे । तिस के निमित्त जो घर में आहार करा होय, तो भी न खावे । ११. ग्यारां मास तक घर का संग त्यागे, लोच करे वा क्षुर-मुंडित होवे, रजोहरण, पात्रे प्रमुख ले के मुनि का वेषधारी हो कर स्वकुल में भिक्षा लेवे । मुख से ऐसा कहे कि "प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां देहीति" धर्मलाभ शब्द न कहे । सर्व रीति से साधु की तरें प्रवर्ते ।

अठारहवां द्वार, आराधना का कहते हैं । श्रावक अन्त

काल में आराधना जो आगे कहेंगे, सो अरु संलेखनादि को विधि से करे।

संलेखना

श्रावक जब सर्व धर्मकृत्य में अशक्त हो जावे, तब मरण निकट जान के द्रव्य अरु भाव दो प्रकार से संलेखना करे। तहां द्रव्य संखेलना तो अनुक्रम से आहार त्यागे, अरु भावसंलेखना—सो क्रोधादि कषाय को त्यागे। मरण का निकट इन लक्षणों से जान लेवे—१. बूरे स्वप्न आवें, २. प्रकृति स्वभाव और तरें का होवे, ३ दुर्निमित्त मिले, ४. खोटे ग्रह आवें, ५. आत्मा का आचरण फिर जावे, अथवा कोई देवता कह जावे तो मरण निकट जान जावे। जो द्रव्य तथा भाव से संलेखना न करे, अरु अनशन कर देवे, उसको प्रायः दुर्ध्यान होने से कुगति होती है। इस वास्ते संलेखना अवश्य करे। पीछे श्रावकों के धर्म के उद्यापन करने के वास्ते संयम अंगीकार करे, क्योंकि एक दिन की भी दीक्षा स्वर्गलोक की दाता है। जैसे नल राजा के भाई कुबेर के पुत्र सिंहकेसरी, पांच दिन की दीक्षा से केवल ज्ञान पाके मोक्ष गये। तथा हरिवाहन राजाने नव प्रहर की शेष आयु सुन के दीक्षा लीनी, सर्वार्थसिद्ध विमान में गया। संथारा और दीक्षा के अवसर में प्रभावना के वास्ते यथाशक्ति धन खरचे। जैसे सात क्षेत्रों में, तिस अवसर में थिरापद्रीय संघपति आभूने सात क्रोड़ धन खरचा। तथा जिसको

संयम का योग न होवे, सो संलेखना करके शत्रुंजयादि तीर्थ सुस्थान में जा कर निर्दोष स्थंडिल में विधि से चार आहार त्यागरूप अनशन को आणंद, कामदेवादि श्रावकोवत् करे। तिस पीछे सर्वातिचार का परिहार चार शरणादि रूप आराधना करे।

आराधना दस प्रकार से होती है, सो कहते हैं—१. सर्वातिचार आलोवे, २. व्रत उच्चारण करे, ३. सर्व जीवों से क्षमावे, ४. अपनी आत्मा को अठारह पापस्थानक से व्युत्सर्जन करे, ५. चार शरणा लेवे, ६. गमनागमन दुष्कृत की गर्हणा करे, ७. जो किसी ने जिनमंदिरादि सुकृत करा होवे, तिसकी अनुमोदना करे, ८. शुभ भावना भावे, ९. अनशन करे अर्थात् चार आहार, तीन आहार का त्याग करे, १०. पंच नमस्कार का स्मरण करे। ऐसी आराधना करने से जेकर तिस भव से मुक्ति न होवे, तो भी सुदेव अथवा सुमनुष्य के आठ भव करके तो अवश्यमेव मोक्षरूप हो जावेगा।

आराधना

इस गृहस्थ का धर्म करने से निरंतर गृहस्थ लोग इस लोक, परलोक में सुख को प्राप्त होते हैं, अरु परंपरा से मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनंदविजय-आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे दशमः परिच्छेदः संपूर्णः

एकादश परिच्छेद

इस परिच्छेद में ऋषभादि से महावीर पर्यंत जैनमतादि शास्त्रों के अनुसार पूर्व वृत्तांत—इतिहास रूप लिखते हैं। ताकि इस ग्रन्थ के पढ़नेवाले यह तो जान जाएँ कि जैनी इस तरे मानते हैं।

जैनमत संबंधी भ्रांतियां

वर्त्तमान समय में कितनेक भव्य जीवों की जिज्ञासा है कि, जैनमत कब से यहां प्रचलित हुआ। फिर कितनेक जीवों को ऐसी भ्रांति भी है कि, जैनमत बौद्धमत की शाखा है; और कितनेक कहते हैं कि, बौद्धमत जैनमत की शाखा है। क्योंकि यह दोनों मत किसी काल में एक थे, परन्तु आचार्यों के मतभेद होने से एक मत के जैन और बौद्ध यह दो भेद हो गये। तथा कोईएक कहते हैं कि संवत् छ सौ के लगभग जैनमत हुआ है। तथा कोई कहते हैं कि, विष्णु भगवान्ने दैत्यों को धर्मभ्रष्ट करने के वास्ते अर्हंत का अवतार लिया। तथा कोई कहते हैं कि मच्छंदर-नाथ के बेटों ने जैनमत चलाया है। इत्यादि अनेक विकल्प कहते हैं, परन्तु यह सब कुछ जैनमत के न जानने का परि-णाम है। जैसे चर्मकार अर्थात् चमार कहते है कि, बानो और चामो दो बहिनें थी, तिन में बानों की औलाद अग्र-वालादि सर्व बनिये हैं, और चामों की औलाद हम चमार

हैं। इस वास्ते वनिये और चमार एक वंश के हैं। अब सोचना चाहिये कि चमारों की, यह कही हुई कथा सुन के बुद्धिमान् सच मान लेवेंगे? इसी तरे जो कोई अपनी दलील से दंतकथा सुन के जैनमत की उत्पत्ति मानेगा, वो भी जैनियों के आगे हसने का स्थान वनेगा। क्योंकि प्रथम तो कोई भी मतवाला जैनमत के असली तत्त्व को नहीं जानता है। जैसे शंकर दिग्विजय में शंकरस्वामीने जैनमत का खण्डन लिखा है, उसको देख के हम को हंसी आती है। जब शंकरस्वामीने जैनमत को ही नहीं जाना, तो फिर जो उनका जैनमत का खण्डन है, सो भी ऐसा जानना कि जैसे पुरुष की छाया को पुरुष जानके तिस को लाठी से पीटना। जब शंकरस्वामी को ही जैनमत की खबर नहीं थी, तो अब के वर्त्तमानकाल के गाल बजाने-वालों का क्या कहना है? इस वास्ते हम बहुत नम्र हो कर ग्रंथ पढ़नेवालों से विनति करते हैं कि, अच्छी तरे से जैन-मत को जान कर फिर आपने जैनमत का खंडन मंडन करना; नहीं तो शंकरस्वामी अरु रामानुजाचार्यादिक की तरे आप भी हसने योग्य हो जावेंगे।

कालचक्र

अब सज्जनों के जानने वास्ते प्रथम इस जगत् का थोड़ा सा स्वरूप लिखते हैं। इस जगत् को जैनी, द्रव्यार्थिक नय के मत से शाश्वत अर्थात् हमेशा प्रवाह से ऐसा ही मानते हैं। और

इस जगत् में छ तरे का काल वर्त्तता है, तिन ही को जैनी लोक, छे आरे कहते हैं। एक अवसर्पिणी काल, अर्थात् जो सर्व अच्छी वस्तु का क्रम से नाश करता चला जाता है, तिस के छे हिस्से हैं। तथा दूसरा उत्सर्पिणीकाल, अर्थात् जो सर्व अच्छी वस्तु को क्रम से वृद्धिमान् करता चला जाता है। दश कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण एक अवसर्पिणी काल, और इतने ही सागरोपम प्रमाण एक उत्सर्पिणीकाल है। एक सागरोपम असंख्यात वर्ष का होता है, इसका स्वरूप जैनशास्त्र से जान लेना। यह एक अवसर्पिणी अरु एक उत्सर्पिणी मिल कर दोनों का एक कालचक्र, वीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होता है। ऐसे कालचक्र अनन्त पीछे व्यतीत हो गये हैं, और आगे को व्यतीत होवेंगे। अवसर्पिणी के पूरे हुये उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है, और उत्सर्पिणी के पूरे हुये अवसर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। इसी तरे अनादि अनन्त काल तक यही व्यवस्था रहेगी। अब छ आरों के स्वरूप लिखते हैं।

अवसर्पिणी का प्रथम आरा जिस का नाम सूखम सूखम कहते हैं। सो चार कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। तिस काल में भरतक्षेत्र की भूमिका बहुत सुन्दर रमणीय मार्दल के तले समान सम (बरावर) थी, उस काल के मनुष्य भद्रक, सरलस्वभाव, अल्पराग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि वाले थे, सुंदर रूपवान्, नीरोग शरीरवाले थे, दश जाति

के कल्पवृक्षों से अपने खाने पीने पहनने सोने आदिक का सर्व व्यवहार कर लेते थे। एक लड़का एक लड़की दोनों का युगल जन्मते थे। जब यौवनवंत होते थे, तब दोनों बहिन और भाई, स्त्री भरतार का सम्बंध कर लेते थे। उनों के आगे ऐसे ही फिर युगल होते रहते थे, सो पूर्वोक्त सर्व व्यवहार करते थे। जैनमत के मापे से तीन गाऊ (कोस) प्रमाण उनका शरीर ऊंचा था, और तीन पल्योपम प्रमाण आयु थी, तथा दो सौ छप्पन पृष्ठ-करंड के हाड थे। धर्म करना, और जीवहिंसा, झूठ, चोरी प्रमुख पाप भी विशेष नहीं था। वृक्षों ही में सो रहते थे। जुगल-जोड़े भी गिनती में थोड़े थे, शेष-बाकी चौपाय, पक्षी, पंचेंद्रिय सर्व जाति के जीव थे, परन्तु वो भद्रक थे, क्षुद्रक नहीं थे। शालि प्रमुख सर्व अन्न तथा इक्षु प्रमुख चीजें सब जंगलों में स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाते थे। परन्तु वो कुछ मनुष्यों के खाने में नहीं आते थे। क्योंकि मनुष्य तो केवल फल फूलों का ही आहार करते थे। वस्त्र की जगे वृक्षों के पत्ते वा छिलके ओढ़ते थे। इत्यादि प्रथम आरे का स्वरूप जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति प्रमुख शास्त्रों से जान लेना।

दूसरा आरा, तीन कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण था। तिस में दो गाऊ (कोस) देहमान, दो पल्योपम आयु, एक सौ अठाई पृष्ठकरंड के हाड थे, शेष व्यवहार प्रथम आरेवत् जानना

तीसरा आरा, दो कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण, एक कोस देहमान, एक पल्योपम आयु, चौसठ पृष्ठकरंड की पसलियां, शेष व्यवहार प्रथम आरेवत् जानना। इन सर्व आरों में सर्व वस्तु क्रम से घटती घटती छेड़े अगले आरे तुल्य रह जाती है, परन्तु एक बारगी सर्व वस्तु नहीं घटती है।

कुलकर और उन की नीति

इस तीसरे आरे के छेडे एक वंश में सात कुलकर उत्पन्न हुए। कुलकर उसको कहते हैं कि जिनों ने तिस तिस काल के मनुष्यों के वास्ते कछुक मर्यादा बांधी है। इन ही सात कुलकरों को लोक में सप्त मनु कहते हैं। दूसरे वंशों के कुलकर गिनिये, तब श्रीऋषभदेव को वर्ज के चौदह कुलकर होते है अरु ऋषभनाथ पंदरहवां कुलकर होता है।

पूर्वोक्त सात कुलकरों के नाम लिखते है–प्रथम विमलवाहन, दूसरा चक्षुष्मान्, तीसरा यशस्वान्, चौथा अभिचंद्र, पांचमा प्रश्रेणि, छठा मरुदेव, सातमा नाभि। इन सातों की भार्याओं के नाम क्रम से कहते हैं—१. चंद्रयशा, २. चंद्रकांता, ३. सुरूपा, ४. प्रतिरूपा, ५. चक्षुःकांता, ६. श्रीकांता, ७. मरुदेवी। ये सर्व कुलकर गंगा अरु सिंधु नदी के मध्य के खंड में हुये हैं।

यह कुलकर होने का कारण कहते हैं। तीसरे आरे के उतरते दश जाति के कल्पवृक्ष, काल के दोष से थोडे हो

गये; तब युगलक लोगों ने अपने अपने वृक्षों का ममत्व कर लिया। पीछे जब दूसरे युगलों के रक्खे हुए वृक्षों से फल लेने लगे, तब ममत्ववाले युगल उन से क्लेश करने लगे। तब युगलक पुरुषों को ऐसा विचार आया कि, कोई ऐसा होवे, जो हमारे क्लेश का निवेड़ा करे। तब तिन युगलियों में से एक युगल को एक वन के श्वेत हाथीने देख कर प्रेम से अपने स्कंध पर चढ़ा लिया। जब वो युगल पुरुष एकला हाथी ऊपर चढ़ के फिरने लगा। तब और युगलों ने विचार किया कि यह युगल, हम से बड़ा है; क्योंकि यह हाथी ऊपर चढ़ा फिरता है, और हम तो पगों से चलते हैं, इस वास्ते इस को न्यायाधीश बनाओ, अर्थात् जो यह कहे, सो मानो। तब तिनों ने उसको न्यायाधीश बनाया। जिस कारण से हाथी ने युगल को अपने ऊपर चढ़ाया है, सो कारण, और इनों के पूर्वभव की कथा आवश्यक सूत्र तथा प्रथमानुयोग से जान लेनी।

तब तिस विमलवाहन ने सर्व युगलियों को कल्पवृक्ष बांट के दे दिये। कितनेक युगलिये अपने कल्पवृक्षों से संतोष न करके औरों के कल्पवृक्षों से फल लेने लगे, तब उस वृक्ष के मालिक क्लेश करने लगे। पीछे तिस असंतोषी युगलियों को पकड़ के विमलवाहन के पास लाये। तब विमल-वाहनने उनको कहा कि 'हा' तुम ने यह क्या करा! तब से विमलवाहनने ऐसी दण्डनीति प्रवर्त्ताई। तिस हाकार

दण्डनीति से फिर वे ऐसा काम नहीं करते थे। पीछे तिस विमलवाहन का पुत्र चक्षुष्मान् हुआ, अपने बाप के पीछे वो राजा अर्थात् कुलकर बना। तिस के वक्त में भी हाकार ही दण्ड रहा। तिस के यशस्वान् नामा पुत्र हुआ, तिसका अभि-चन्द्र पुत्र हुआ, इन दोनों के समय में थोड़े अपराध को हाकार दण्ड और बहुत ढीठ को मकार दण्ड कि यह काम मत करना, ये दो दण्डनीति हुई। तिस के प्रश्रेणि पुत्र हुआ, प्रश्रेणि का पुत्र मरुदेव हुआ, मरुदेव का पुत्र नाभि हुआ, इन तीनों कुलकरों के समय में हाकार, मकार अरु धिक्कार, ये तीन दण्डनीति हो गई। तिस में थोड़े अपराधी को हाकार, अरु मध्यम अपराधी को मकार, तथा उत्कृष्ट अपराधी को धिक्कार दण्ड करते थे। तिस नाभि कुलकर के मरुदेवी नामा भार्या थी। यह नाभिकुलकर बहुलता में इक्ष्वाकु भूमि अर्थात् विनीता नगरी की भूमि में निवास करता था। यह भूमि कश्मीर देश के परे थी, क्योंकि विनीता नगरी के चारों दिशा में चार पर्वत थे। तिस में पूर्व दिशा में अष्टापद अर्थात् कैलासगिरि, दक्षिण दिशा में महाशैल, पश्चिम दिशा में सुरशैल, तथा उत्तर दिशा में उदयाचल पर्वत था।

श्रीऋषभदेव का जन्म

तिस नाभिकुलकर की मरुदेवी नामक भार्या की कूख में आषाढ़ वदि चौथ की रात्रि को सर्वार्थ-सिद्ध देवलोक से च्यव के ऋषभदेव का जीव, गर्भ में पुत्रपने उत्पन्न हुआ। मरुदेवी ने चौदह स्वप्न देखे। इन्द्र महाराज ने स्वप्न-फल कहा। चैत्रवदि अष्टमी को ऋषभदेवजी का जन्म हुआ। छप्पन दिक्कुमारी और चौसठ इन्द्रने मिल के जन्ममहोत्सव करा। मरुदेवीने चौदह स्वप्न की आदि में बैल का स्वप्न देखा था, तथा पुत्र के दोनों साथलों में बैल का चिन्ह था, इस वास्ते पुत्र का नाम ऋषभ रक्खा।

वाल्यावस्था और इक्ष्वाकु कुल

वाल अवस्था में श्रीऋषभदेव को जब भूख लगती थी, तब अपने हाथ का अंगूठा मुख में ले के चूस लेते थे। उस अंगूठे में इन्द्रने अमृत संचार कर दिया था। जब ऋषभदेवजी बडे हुए तब देवता उनको कल्पवृक्षों के फल लाकर देते थे, वे फल खा लेते थे। जब ऋषभदेवजी कुछ न्यून एक वर्ष के हुए, तब इन्द्र आया, हाथ में इक्षुदण्ड लाया। क्योंकि रीते हाथ से स्वामी के समीप न जाना चाहिये, इस वास्ते इक्षुदण्ड लाया। उस वक्त में श्रीऋषभदेवजी नाभि-कुलकर की गोदी में बैठे थे। तब श्री ऋषभदेव की दृष्टि इक्षुदंड ऊपर पड़ी। तब इंद्रने कहा कि हे भगवन्! 'इक्षु अकु' अर्थात् इक्षु भक्षण करोगे? तब ऋषभदेवजी ने हाथ

पसारा। तब इंद्र ने ऋषभदेवजी का इक्ष्वाकु वंश स्थापन करा। तथा श्रीऋषभदेवजी के वंशवालों ने काशकार पिया, इस वास्ते गोत्र का नाम काश्यप हुआ। श्रीऋषभ-देवजी के जिस जिस वय में जो जो काम उचित था, सो सो शक्र—इन्द्रने करा। यह अनादि से जो जो शक्र होते हैं, तिन का जीतकल्प है कि, प्रथम भगवान् के यथोचित सर्व काम करने।

विवाह

इस अवसर में एक लड़की लड़का, बहिन और भाई बाल्यावस्था में ताडवृक्ष के हेठ खेलते थे, वहां ताड़ के फल गिरने से लड़का मर गया। तब लड़की को नाभिकुलकरने यह ऋषभदेवजी की भार्या होवेगी, ऐसा विचार करके अपने पास रख लीनी। तिसका नाम सुनंदा था, और दूसरी जो ऋषभदेवजी के साथ जन्मी थी, तिस का नाम सुमंगला था। इन दोनों को साथ ऋषभदेवजी बाल्यावस्था में खेलते हुए यौवन को प्राप्त हुए। तब इन्द्रने विवाह का प्रारम्भ करा। आगे युगल के समय में विवाहविधि नहीं थी, इस वास्ते इस विवाह में पुरुष के कृत्य तो सर्व इंद्रने करे, और स्त्रियों की तर्फ से सर्वकृत्य इन्द्रानियोंने करे। तहां से विवाहविधि जगत् में प्रचलित हुई। श्रीऋषभदेव को दोनों भार्याओं के साथ सांसारिक विषयसुख भोगते जब छ लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हुए, तब सुमंगला रानी के भरत

और ब्राह्मी यह युगल जन्मा, तथा सुनन्दा के बाहुवली और सुंदरी यह युगल जन्मा। पीछे से सुनंदा के तो और कोई पुत्र पुत्री नहीं जन्मे, परन्तु सुमंगला देवी के उनपचास (४९) जोडे पुत्रों ही के जन्मे। यह सव मिल कर सौ पुत्र और दो पुत्री श्रीऋषभदेव की सन्तान हैं।

सौ पुत्रों के नाम

तिन सौ पुत्र के नाम लिखते हैं—१. भरत, २. बाहुवली, ३. श्रीमस्तक, ४. श्रीपुत्रांगारक, ५. श्रीमल्लिदेव, ६. अंगज्योति, ७. मलयदेव, ८. मार्गवतार्थ, ९. वंगदेव, १०. वसुदेव, ११. मगधनाथ, १२. मानवर्त्तिक, १३. मानयुक्ति, १४. वैदर्भदेव, १५. वनवासनाथ, १६. महीपक, १७. धर्मराष्ट्र, १८. मायकदेव, १९. आस्मक, २०. दंडक, २१. कलिंग, २२. ईषकदेव, २३. पुरुषदेव, २४. अकल, २५. भोगदेव, २६. वीर्यभोग, २७. गणनाथ, २८. तीर्णनाथ, २९. अंबुदपति, ३०. आयुवीर्य, ३१. नायक, ३२. काक्षिक, ३३. आनर्त्तक, ३४. सारिक, ३५. ग्रहपति, ३६. करदेव, ३७. कच्छनाथ, ३८. सुराष्ट्र, ३९. नर्मद, ४०. सारस्वत, ४१. तापसदेव, ४२. कुरु, ४३. जंगल, ४४. पंचाल, ४५. सूरसेन, ४६. पुट, ४७. कालंकदेव, ४८. काशीकुमार, ४९. कौशल्य, ५०. भद्रकाश, ५१. विकाशक, ५२. त्रिगर्त्त, ५३. आवर्ष, ५४. साल्ल, ५५. मत्स्यदेव, ५६. कुलीयक, ५७. मूषकदेव, ५८. वाल्हीक, ५९. कांबोज, ६०. मद्गुनाथ, ६१. सांद्रक, ६२. आत्रेय, ६३. यवन, ६४.

आभीर, ६५. वानदेव, ६६. वानस, ६७. कैकेय, ६८. सिंधु, ६९. सौवीर, ७०. गंधार, ७१. काष्ठदेव, ७२. तोषक, ७३. शौरक, ७४. भारद्वाज, ७५. शूरदेव, ७६. प्रस्थान, ७७. कर्णक, ७८. त्रिपुरनाथ, ७९. अवंतिनाथ, ८०. चेदिपति, ८१. विष्कंभ, ८२. नैषध, ८३. दशार्णनाथ, ८४. कुसुमवर्ण, ८५. भूपालदेव, ८६. पालप्रभु, ८७. कुशल, ८८. पद्म, ८९. महापद्म. ९०. विनिद्र, ९१. विकेश, ९२. वैदेह, ९३. कच्छपति, ९४. भद्रदेव, ९५. वज्रदेव, ९६. सांद्रभद्र, ९७. सेतज, ९८. वत्सनाथ, ९९. अंगदेव, १००. नरोत्तम।

राज्याभिषेक

इस अवसर में जीवों के कषाय प्रबल हो जाने से पूर्वोक्त हाकारादि तीनों दंड का लोग भय नहीं करने लगे। इस अवसर में सब लोगों से अधिक ज्ञानवानादि गुणों करके संयुक्त श्रीऋषभदेव को जान के युगलक लोग, श्रीऋषभदेव को कहते भये कि, अब के सब लोग दंड का भय नहीं करते हैं। [श्रीऋषभदेवजी गर्भ में भी मति, श्रुत अरु अवधि, इन तीन ज्ञानों करके संयुक्त थे। श्रीऋषभदेवजी के पूर्वभवों का वृत्तांत आवश्यक, तथा प्रथमानुयोग से जान लेना] तब श्रीऋषभदेव युगलक पुरुषों को कहते भये कि, जो राजा होता है, सो दण्ड करता है, और राजा जो होता है, सो मंत्री कोटवालादि सेना संयुक्त होता है, अरु कृताभिषेक होता है, फिर उसकी आज्ञा अनतिक्रमणीय होती है। ऐसा वचन

सुन कर वे मिथुनक बोले कि, ऐसा राजा हमारा भी हो जावे। तब ऋषभदेवजी बोले जो तुमारी मनशा ऐसी है, तो नाभिकुलकर से याचना करो। पीछे तिनों ने नाभिकुलकर से विनति करी। तब नाभिकुलकरने कहा, जाओ ऋषभदेवजी तुमारा राजा हुआ। तब वे मिथुनक ऋषभदेव का राज्याभिषेक करने वास्ते पद्मिनी सरोवर में गये। इस अवसर में इन्द्र का आसन कंपमान हुआ। तब अवधिज्ञान से राज्याभिषेक का अवसर जान के यहां आकर श्रीऋषभदेव का राज्याभिषेक करा। मुकुटादि सर्व अलंकार जो कुछ राजा के योग्य थे, सो पहिराये। इस अवसर में मिथुनक लोक पद्मसरोवर से नलिनी कमलों में पानी लाये। उनों ने आकर जब श्रीऋषभदेवजी को अलंकृत देखा, तब सब ने चरणों ऊपर जल गेर दिया। तब इन्द्र ने मन में चिंता करी कि ये बडे विनीत पुरुष हैं। ऐसा जान कर वैश्रमण को आज्ञा दीनी कि इन विनीतों के रहने वास्ते विनीता नामा नगरी वसाओ। तब विनीता नगरी वैश्रमणने वसाई। इस का स्वरूप शत्रुंजयमाहात्म्य से जान लेना।

चार वंश

अथ संग्रह के वास्ते हाथी, घोडे, गौ प्रमुख श्रीऋषभदेव के राज्य में वनों से पकड़े गये। तब श्रीऋषभदेव ने चार प्रकार का संग्रह करा—१. उग्रा, २. भोगा, ३. राजन्या, ४. क्षत्रिया। उन में जिन को कोटवाल की पदवी दीनी, सो दण्ड के करने से

उग्रवंश कहलाया, तथा जिनको श्रीऋषभदेवने गुरु अर्थात् ऊंचे वडे करके माना तिनों का भोगवंश कहलाया, तथा जो श्रीऋषभदेवजी के मित्र थे, उनों का राजन्यवंश नाम रक्खा गया, तथा शेष जो रहे तिनका क्षत्रियवंश हुआ।

भोजन पकाने आदि कर्मकी शिक्षा

अथ आहार की विधि कहते हैं। जब कल्पवृक्षों के फलों का अभाव हुआ, तब पक्काहार का खाना किस तरें से हुआ? सो लिखते हैं। काल के प्रभाव से कल्पवृक्ष फल देने से रह गये, तब लोक और वृक्षों के कंद, मूल, पत्र, फूल, फल खाने लगे, कई एक इक्षु का रस पीने लगे, तथा सतरा जात का कच्चा अन्न खाने लगे। परन्तु कितनेक दिनों पीछे कच्चा अन्न उनको पाचन न होने से ऋषभदेवजीने उनको कहा कि तुम हाथों से मसल के तूतड़ा दूर करके खाओ। फिर कितनेक दिनों पीछे वैसे भी पाचन न होने लगा, तो फिर दूसरी तरें कच्चा अन्न खाने की विधि बताई। ऐसे बहुत तरे से कच्चा अन्न खाने की विधि बताई, तो भी कालदोष से अन्न पाचन न होने लगा। इस अवसर में जंगलों में वांसादि के घिसने से अग्नि उत्पन्न हुआ।

प्रश्न—तुम कहते हो कि ऋषभदेवजी को जातिस्मरण और अवधि ज्ञान था, तो फिर ऋषभदेवजीने प्रथम से ही अग्नि बनाना, उस अग्नि से अन्न रांध के खाना क्यों न बतलाया?

उत्तर—हे भव्य ! एकांत स्निग्ध काल में और एकांत रूक्षकाल में अग्नि किसी वस्तु से भी उत्पन्न नहीं हो सकती। कदाचित् कोई देवता विदेहक्षेत्र से अग्नि को ले भी आवे, तो भी यहां तत्काल बुझ जाती थी। इस वास्ते अग्नि से पका के खाने का उपदेश नहीं दिया। पीछे तिस अग्नि को तृणादि का दाह करते देख के अपूर्व रत्न जान के पकड़ने लगे। जब हाथ जले, तब डर खा कर दौड़ के श्रीऋषभदेवजी से सर्व वृत्तांत कहा। तब श्रीऋषभदेवने अग्नि ले आने की विधि बताई। तिस विधि से अग्नि घर में ले आये। तब हस्ती ऊपर बैठे हुये ऋषभदेवने हाथी के शिर ऊपर ही मिट्टी का एक कूंडा सा बनाकर उनों के पास अग्नि में पका कर, उस में अन्न रांध कर खाना बताया। पीछे जिस के हाथ से वो कूंडा पकड़ाया वो कुंभार नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी वास्ते कुंभार को प्रजापति-पर्यापति कहते हैं। फिर तो शनैः शनैः सर्व तरें का आहार पका के खाने की विधि प्रवृत्त हो गई। सर्व विधि श्रीऋषभदेवजीने ही बताई है।

अथ शिल्प द्वार कहते हैं। श्रीऋषभदेवजी के उपदेश से पांच मूल शिल्प अर्थात् कारीगर बने, तिन का नाम लिखते हैं—१. कुंभकार, २. लोहाकार, ३. चित्रकार, ४. वस्त्र बुननेवाले, ५. नापित अर्थात् नाई। प्रत्येक शिल्प

के अवांतर भेद वीस वीस हैं, इस वास्ते सर्व मिल कर एक सौ शिल्प उत्पन्न हुए ।

अब कर्मद्वार लिखते हैं। कर्मद्वार में—खेती करनी, वाणिज्य करना, धन का ममत्व करना, इत्यादि कर्म बताये। प्रथम मट्टी के संचयों में भर के, अहरन, हथोड़ी प्रमुख बनाये, पीछे उन से सर्व वस्तु काम लायक बनाई गई ।

तथा भरतादि प्रजालोगों को बहत्तर कला सिखलाई, तथा स्त्रियों को चौसठ कला सिखलाई। इन सब के नाम मात्र ऐसे हैं ।

पुरुष की ७२ कलाएं

१. लिखने की कला, २. पढ़ने की कला, ३. गणितकला, ४. गीतकला, ५. नृत्यकला, ६. ताल बजाना, ७. पटह बजाना, ८. मृदंग बजाना, ९. वीणा बजाना, १०. वंशपरीक्षा, ११. भेरीपरीक्षा, १२. गजपरीक्षा, १३. तुरंगशिक्षा, १४. धातुर्वाद, १५. दृष्टिवाद, १६. मन्त्रवाद, १७. बलीपलितविनाशन, १८. रत्नपरीक्षा, १९. नारीपरीक्षा, २०. नरपरीक्षा, २१. छंदबंधन, २२. तर्कजल्पन, २३. नीतिविचार, २४. तत्त्वविचार, २५. कविशक्ति, २६. ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान, २७. वैद्यक, २८. षड्भाषा, २९. योगाभ्यास, ३०. रसायनविधि, ३१. अंजनविधि, ३२. अठारह प्रकार की लिपि, ३३. स्वप्नलक्षण, ३४. इन्द्रजालदर्शन, ३५. खेती करनी, ३६. वाणिज्य करना, ३७. राजा की सेवा, ३८. शकुन विचार, ३९. वायुस्तंभन,

४०. अग्निस्तंभन, ४१. मेघवृष्टि, ४२. विलेपनविधि, ४३. मर्दनविधि, ४४. ऊर्ध्वगमन, ४५. घटबन्धन, ४६. घटभ्रमण, ४७. पत्रच्छेदन, ४८. मर्मभेदन, ४९. फलाकर्षण, ५०. जलाकर्षण, ५१. लोकाचार, ५२. लोकरंजन, ५३. अफलवृक्षों को सफल करना, ५४. खड्गबन्धन, ५५. छुरीबन्धन, ५६. मुद्राविधि, ५७. लोहज्ञान, ५८. दांत समारने, ५९. काललक्षण, ६०. चित्रकरण, ६१. बाहुयुद्ध, ६२. मुष्टियुद्ध, ६३. दण्डयुद्ध, ६४. दृष्टियुद्ध, ६५. खड्गयुद्ध, ६६. वाग्युद्ध, ६७. गारुडविद्या, ६८. सर्पदमन, ६९. भूतमर्दन, ७०. योग—सो द्रव्यानुयोग, अक्षरानुयोग, व्याकरण, औषधानुयोग, ७१. वर्षज्ञान, ७२. नाममाला।

स्त्री की ६४ कलाएं

अब स्त्रियों को चोसठ कला सिखलाई, तिसका नाम कहते हैं—१. नृत्यकला, २. औचित्यकला, ३. चित्रकला, ४. वादित्र, ५. मंत्र, ६. तंत्र, ७. ज्ञान, ८. विज्ञान, ९. दम्भ, १०. जलस्तंभ, ११. गीतगान, १२. तालमान, १३, मेघवृष्टि, १४. फलवृष्टि, १५. आरामारोपण, १६. आकारगोपन, १७. धर्मविचार, १८. शकुनविचार, १९. क्रियाकल्पन, २०. संस्कृतजल्पन, २१. प्रसादनीति, २२. धर्मनीति, २३. वर्णिकावृद्धि, २४. स्वर्णसिद्धि, २५. तैलसुरभीकरण, २६. लीलासंचरण, २७. गजतुरंगपरीक्षा, २८. स्त्री पुरुष के लक्षण, २९. कामक्रिया, ३०. अष्टादश लिपि परिच्छेद, ३१. तत्कालबुद्धि, ३२. वस्तुशुद्धि, ३३. वैद्यकक्रिया, ३४. सुवर्ण रत्नभेद, ३५. घट-

श्रम, ३६. सारपरिश्रम, ३७. अंजनयोग, ३८. चूर्णयोग, ३९. हस्तलाघव, ४०. वचनपाटव, ४१. भोज्यविधि, ४२. वाणिज्यविधि, ४३. काव्यशक्ति, ४४. व्याकरण, ४५. शालिखण्डन, ४६. मुखमंडन, ४७. कथाकथन, ४८. कुसुमगुंथन, ४९. वरवेष, ५०. सकल भाषाविशेष, ५१. अभिधानपरिज्ञान, ५२. आभरण पहनना, ५३. भृत्योपचार, ५४. गृह्याचार, ५५, शाठ्यकरण, ५६. परनिराकरण, ५७. धान्यरंधन, ५८. केशबंधन, ५९. वीणादि नाद, ६०. वितंडावाद, ६१. अंकविचार, ६२. लोकव्यवहार, ६३. अंत्याक्षरिका, ६४. प्रश्नप्रहेलिका।

अब की सर्व सांसारिक कला पूर्वोक्त कलाओं का प्रकरभूत हैं, इस वास्ते सर्व कला इन ही के अन्तर्भूत हैं। जैसे प्रथम लिपि कला के अठारह भेद दक्षिण हाथ से ब्राह्मी पुत्री को सिखाई, तिसके नाम कहते हैं।

१८ प्रकार की लिपि

१. हंसलिपि, २. भूतलिपि, ३. यक्षलिपि, ४. राक्षसलिपि, ५. यावनी लिपि, ६, तुरकी लिपि, ७. कीरीलिपि, ८. द्रावीडीलिपि, ९. सैंधवीलिपि, १०. मालवीलिपि, ११. नडीलिपि, १२. नागरीलिपि, १३. लाटीलिपि, १४. पारसीलिपि, १५. अनिमित्ती लिपि, १६. चाणक्कीलिपि, १७. मूलदेवी, १८. उड्डीलिपि। यह अठारह प्रकार की ब्राह्मीलिपि, देशविदेश के भेद से अनेक तरे की हो गई, जैसे कि—१. लाटी, २. चौड़ी, ३. डाहली, ४. कानडी, ५. गौर्जरी, ६. सोरठी,

७. मरहठी, ८. कोंकणी, ९. खुरासानी, १०. मागधी, ११. सिंहली, १२. हाडी, १३. कीरी, १४. हम्मीरी, १५. परतीरी, १६. मसी, १७. मालवी, १८. महायोधी।

तथा सुन्दरी पुत्री को वाम हाथ से अंकविद्या सिखाई। जो जगत् में प्रचलित कला है, जिनों से अनेक कार्य सिद्ध होते हैं, वे सर्व श्रीऋषभदेवने प्रवर्त्ताई हैं। तिस में कितनीक काल कई वार लुप्त हो जाती हैं, फिर सामग्री पाकर प्रगट भी हो जाती है, परंतु नवीन विद्या वा कला कोई नहीं उत्पन्न होती है। जो कलाव्यवहार श्रीऋषभदेवजीने चलाया है, वो सर्व आवश्यक सूत्र में देख लेना।

ब्राह्मी जो भरत के साथ जन्मी थी, तिसका *विवाह बाहुबली के साथ कर दिया। और बाहुबली के साथ जो सुन्दरी पुत्री जन्मी थी, तिसका विवाह भरत के साथ कर दिया। तब से माता पिता की दीनी कन्या का व्यवहार प्रचलित हुआ।

श्रीऋषभदेवजी ने युगल अर्थात् एक उदर के उत्पन्न हुए बहिन भाई का विवाह दूर किया। श्रीऋषभदेवजी को देख के लोक भी इसी तरें विवाह करने लगे। श्रीऋषभदेवजी ने बहुत काल तांई राज्य करा। प्रजा के वास्ते सर्व तरें के सुख उत्पन्न हुए। इस हेतु से श्रीऋषभदेवजी को जैनी लोक जगत् का कर्त्ता मानते हैं। दूसरे मतवाले जो ईश्वर की करी सृष्टि कहते हैं, वे भी ईश्वर, आदीश्वर, जगदीश्वर, योगीश्वर, जगत्

---

* यहां पर विवाह शब्द का प्रयोग सगपण याने वाग्दान अर्थ में है। इसका अर्थ लग्न न समझना।

का कर्त्ता ब्रह्मा आदि, विष्णु आदि, योगी आदि, भगवान् आदि, अर्हत आदि तीर्थङ्कर, प्रथम बुद्ध, सर्व बड़ा इत्यादि जो नाम और महिमा गाते हैं; वे सर्व श्रीऋषभदेवजी के ही गुणानुवाद हैं, और कोई सृष्टि का कर्त्ता नहीं है।

मूर्ख और अज्ञानियों ने स्वकपोलकल्पित शास्त्रों में ईश्वर विषय में मनमानी कल्पना कर लीनी है। उस कल्पना को बहुत जीव आज तांई सच्ची मानते चले आये हैं। क्योंकि सर्व मत जैन के विना ब्राह्मणों ने ही प्रायः चलाये हैं, इस वास्ते ब्राह्मण ही मतों के विश्वकर्मा हैं। अरु लौकिक शास्त्रों में जो कुछ है, सो ब्राह्मणों ही के वास्ते है। ब्राह्मण भी लौकिक शास्त्रों ने तार दिये; क्योंकि शास्त्र बनानेवालों के संतानादि खूब खाते, पिते और आनन्द करते हैं। इन ब्राह्मणों की तथा वेदों की उत्पत्ति जैसे आवश्यक आदिक शास्त्रों में लिखी है, तैसे भव्य जीवों के जानने वास्ते यहां मैं भी लिखूंगा।

निदान सर्व जगत् का व्यवहार चला कर, भरत पुत्र को विनीतानगरी का राज्य दिया, अरु बाहुबली पुत्र को तक्षशिला का राज्य दिया, शेष पुत्रों को और २ देशों का राज्य दिया। उन ही पुत्रों के नाम से बहुत देशों का नाम भी तैसा ही पड़ गया, जैसे अंगदेश, बंगदेश, मगधदेश, इत्यादि देशों का नाम भी पुत्रों के नाम से पड़ गया।

दीक्षा और छद्मस्थ काल

पीछे श्रीऋषभदेव ने स्वयमेव दीक्षा लीनी, उनके साथ कच्छ, महाकच्छ, सामंतादिक चार हज़ार पुरुषों ने दीक्षा लीनी । श्रीऋषभदेवजी को एक वर्ष तक भिक्षा न मिली, तब चार हज़ार पुरुष तो भूखे मरते जटाधारी कंद, मूल, फल, फूल, पत्रादि आहारी हो करके गंगा के दोनों किनारों पर तापस बन के रहने लगे, अरु श्रीऋषभदेवजी का ध्यान, जप आदि ब्रह्मादि शब्दों से करने लगे ।

तब एक वर्ष पीछे वैशाख शुदी तिज को हस्तिनापुर में आये, तहां श्रीऋषभदेव के पड़पोते श्रेयांसकुमार ने जाति-स्मरण ज्ञान के बल से श्रीऋषभदेव को भिक्षा वास्ते फिरते देख के इक्षुरस से पारणा कराया । क्योंकि उस समय में लोगों ने कोई भिक्षाचर देखा नहीं था, अरु न वो भिक्षा भी देना जानते थे । तिस कारण से श्रीऋषभदेवजी को हाथी, घोडे, आभूषण, कन्यादि तो बहुत भेट करे, परन्तु वे तो उस समय में त्यागी थे, इस वास्ते लीने नहीं । तब लोगों ने श्रेयांसकुमार को पूछा कि तुमने श्रीऋषभदेवजी को भिक्षार्थी कैसे जाना ? तब श्रेयांसकुमार ने अपने और श्रीऋषभदेवजी के आठ भवों का सम्बंध कहा । सो सर्व अधिकार आवश्यक शास्त्र में लिखा है । तब पीछे सर्व लोक भिक्षा देने की रीति जान गये ।

श्रीऋषभदेवजी एक हजार वर्ष तक देशों में छद्मस्थपने

विचरते रहे। तिस अवस्था में कच्छ अरु महाकच्छ के वेटे नमि और विनमिने आकर प्रभु की बहुत सेवा-भक्ति करी। तब धरणेंद्रने प्रज्ञप्त्यादि अडतालीस हजार विद्या(४८०००) उनको देकर वैताढ्यगिरि की दक्षिण अरु उत्तर, इन दोनों श्रेणिका राज्य दिया, वे सर्व विद्याधर कहलाये। इन ही विद्याधरों की संतानों में रावण, कुंभकर्णादि तथा वाली, सुग्रीवादि और पवन, हनुमानादि सर्व विद्याधर हुए हैं।

एकदा छद्मस्थ अवस्था में श्रीऋषभदेवजी विहार करते हुए वाहुवली की तक्षशिला नगरी में गये। वहां वाहिर वाग में कायोत्सर्ग करके खडे रहे। यह खवर जव वाहुवली को पहुंची तव वाहुवली ने मन में विचार करा कि कल को बड़े आडम्बर से पिता को वंदना करने को जाऊंगा। प्रभात हुये जब आडम्बर से गया, तव श्रीऋषभदेवजी तो तहां से और कहीं चले गये। तव वाहुवली वहु उदास हुआ। तव श्रीऋषभदेवजी के चरणों की जगा पर धर्मचक्र तीर्थ स्थापन कराया, वो धर्मचक्र तीर्थ, विक्रम राजा तक तो रहा, पीछे जब पश्चिम देश में नवे मतमतांतर खड़े हुए, तब से वो तीर्थ नष्ट हो गया।

तव पीछे श्रीऋषभदेवजी वाहहीक, जोनक, अडम्ब, इल्लाक, सुवर्ण भूमि, पल्लवकादि देशों में विचरने लगे। तहां जिनों ने श्रीऋषभदेवजी का दर्शन करा वो सव भद्रक स्वभाववाले हो गये। अरु शेष जो रहे, वो सव

म्लेच्छ, निर्दयी अनार्य हो गये। अनेक कल्पना के मत मानने लगे, उनका व्यवहार और तरे का बन गया।

केवलज्ञानप्राप्ति और समवसरण

जब श्रीऋषभदेव को एक हजार वर्ष व्यतीत हुए तब विहार करके विनीता नगरी के पुरिमताल नामा बाग में आये, तब बड़ वृक्ष के हेठ फागुन वदि एकादशी के दिन, तीन दिन के उपवासी थे, तहां पहिले प्रहर में केवलज्ञान अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान में सर्व पदार्थों के जानने, देखनेवाला आत्मस्वरूप कैवलज्ञान प्रगट हुआ। तब चौसठ इन्द्र आए, देवताओं ने समवसरण बनाया, तीन गढ बारा दरवाजे, इत्यादि समवसरण की रचना करी। एक एक दिशा में तीन तीन दरवाजे बनाये, मध्यभाग में मणि-पीठिका अर्थात् चौतरा बनाया, तिसके मध्यभाग में अशोकवृक्ष रचा, तिसके हेठ दरवाजों के सन्मुख चारों दिशाओं में चार सिंहासन रचे। तिसमें पूर्व के सिंहासन ऊपर श्रीऋषभदेव अर्हंत विराजमान हुए, अरु शेष तीनों सिंहासनों ऊपर श्रीऋषभदेव सरीखे तीन बिंब स्थापन करे। तब जिस दरवाजे से कोई आवे, वो तिस पासे ही श्रीऋषभदेवजी को देखते थे। इसी वास्ते जगत् में चार मुखवाला श्रीभगवान् ऋषभदेवजी ब्रह्मा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। धनंजय कोश में श्रीऋषभदेवजी का नाम ब्रह्मा लिखा है।

जब श्रीऋषभदेवजी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब भरत राजा श्रीऋषभदेवजी को केवली सुन कर सकल परिवार संयुक्त समवसरण में वन्दना करने को अरु उपदेश सुनने को आया। वहां श्रीऋषभदेवजी का उपदेश सुन कर भरत राजा के पांच सौ पुत्र अरु सात सौ पोते तथा ब्राह्मी ऋषभदेवजी की बेटी और भी अनेक स्त्रियों ने दीक्षा लीनी। मरुदेवीजी तो भगवान् के छत्रादि देख के तथा वाणी सुन के केवली हो कर मोक्ष हो गई। तथा भरत के बड़े पुत्र का नाम ऋषभसेन-पुंडरीक था, वो सोरठ देश में शत्रुंजय तीर्थ ऊपर देह त्याग कर, मोक्ष गया, इस वास्ते शत्रुंजय का नाम पुंडरीकगिरि रक्खा गया।

मरीचि और सांख्यमत की उत्पत्ति

भरत के पांच सौ पुत्रों ने जो दीक्षा लीनी थी, तिन में एक का नाम मरीचि था, उस मरीचि ने जैन दीक्षा का पालना कठिन जान कर अपनी आजीविका के चलाने वास्ते नवीन मनः-कल्पित उपाय खड़ा किया, क्योंकि उसने गृहवास करने में तो बड़ी हीनता जानी। तब एक कुलिंग बनाना चाहा। सो इस रीति से बनाया—१. कि साधु तो मनदण्ड, वचनदण्ड अरु कायदण्डों, इन तीनों दण्डों से रहित हैं, और मैं तो इन तीनों दण्डों करके संयुक्त हूं, इस वास्ते मुझ को त्रिदण्ड रखना चाहिये। २. साधु तो द्रव्य अरु भाव कर के मुण्डित है, सो लोच

करता है, अरु मैं तो द्रव्य मुंडित हूं, इस वास्ते मुझे उस्तरे पाछने से मस्तक मुंडवाना चाहिये, शिखा भी रखनी चाहिये। ३. साधु तो पांच महाव्रत पालते हैं, अरु मेरे तो सदा स्थूल जीव की हिंसा का त्याग रहे। ४. साधु तो अकिं-चन है, अर्थात् परिग्रह रहित है, अरु मुझ को एक पवित्र-कादि रखनी चाहिये। ५. साधु तो शील से सुगन्धित है, अरु मैं ऐसा नहीं हूं, इस वास्ते मुझे चन्दनादि सुगन्धी लेनी ठीक है। ६. साधु तो मोहरहित है, अरु मैं तो मोह संयुक्त हूं, इस वास्ते मुझे मोहाच्छादित को छत्री रखनी चाहिये। ७. साधु जूते रहित है, मुझ को पगों में कुछ उपानह(जूती) प्रमुख चाहिये। ८. साधु तो निर्मल है, इस वास्ते उसके शुक्लांबर वस्त्र हैं, अरु मैं तो क्रोध, मान, माया, अरु लोभ, इन चारों कषायों करके मैला हूं, इस वास्ते मुझे कषाय वस्त्र अर्थात् गेरु के रंगे (भगवें) वस्त्र रखने चाहियें। ९. साधु तो सचित्त जल के त्यागी हैं, इस वास्ते मैं छान के सचित्त पानी पीऊंगा, स्नान भी करूंगा। इस तरे स्थूलमृषावादादि से भी निवृत्त हुआ। इस प्रकार के मरीचि ने स्वमति से अपनी आजीविका के वास्ते लिंग बनाया, यही लिंग परि-व्राजकों का उत्पन्न हुआ।

मरीचि भगवान् के साथ ही विचरता रहा। तब साधुओं से विसदृश लिंग देख के लोग पूछते भए। तब मरीचि

साधु का यथार्थ धर्म कहता था, अरु अपना पाखण्डवेष पूर्वोक्त रीति से प्रगट कह देता था। जो पुरुष इसके पास धर्म सुन कर दीक्षा लेनी चाहता था, तिसको भगवान् के साधुओं को दे देता था। एक समय मरीचि मांदा (रोगग्रस्त) हुआ। तब विचार किया कि मैं तो असंयती हूं, इस वास्ते साधु मेरी वैयावृत्त्य नहीं करते हैं, अरु मुझे करानी भी युक्त नहीं है, तब तो कोई चेला भी मुझे वैयावृत्त्य वास्ते करना चाहिये। तिस काल में श्रीऋषभदेवजी निर्वाण हो गये थे। पीछे एक कपिल नामक राजा का पुत्र था, सो मरीचि के पास धर्म सुनने को आया। तब मरीचिने उसको यथार्थ साधु का लिंग आचार कहा। तब कपिलने कहा कि तेरा लिंग विलक्षण क्योंकर है? तब मरीचिने कहा कि मैं साधुपना पालने को समर्थ नहीं हूं, इस वास्ते मैंने यह लिंग निर्वाह के वास्ते स्वकपोलकल्पित बनाया है। तब कपिलने कहा कि मुझे श्रीऋषभदेव के साधुओं का धर्म रुचता नहीं है, आप कहो कि आप के पास भी कुछ धर्म है, या नहीं? तब मरीचिने जाना, यह भारीकर्मी जीव है, मेरा ही शिष्य होने योग्य है। इस लोभ से मरीचिने कह दिया कि, वहां भी धर्म है, अरु मेरे पास भी कछुक धर्म है। यह सुन कर कपिल मरीचि का शिष्य हो गया। यह कपिल मुनि की उत्पत्ति है।

उस वक्त मरीचि के पास तथा कपिल के पास कोई भी

पुस्तक नहीं था, केवल जो कुछ आगार मरीचिने कपिल को वता दिया, सोई आचार कपिल करता रहा। मरीचिने उत्सूत्रभाषण करने से एक कोटाकोटी सागरोपम लग संसार में जन्म मरण की वृद्धि करी। मरीचि तो काल कर गया अरु पीछे से कपिल ग्रन्थार्थ ज्ञानशून्य मरीचि की वताई हुई रीति पर चलता रहा। उस कपिल का आसुरी नामा शिष्य हुआ। कपिलने आसुरी को भी आचार मात्र ही मार्ग वतलाया। कपिलने और भी वहुत शिष्य वनाये, उनके प्रेम में तत्पर हुआ। मर के ब्रह्म नामक पांचमे देवलोक में देवता हुआ। तव उत्पत्ति के अनन्तर अवधिज्ञान से देखा कि, मैंने क्या दानादि अनुष्ठान करा है! जिस से मैं देवता हुआ हूं। तव अवधिज्ञान से ग्रन्थ-ज्ञान शून्य अपने आसुरी नामा शिष्य को देखा। तव विचार करा कि मेरा शिष्य कुछ नहीं जानता; इसको कुछ तत्त्व उपदेश करूं। ऐसा विचार कर कपिल देवता आकाश में पञ्चवर्ण के मण्डल में रह कर तत्त्वज्ञान का उपदेश करता भया कि, अव्यक्त से व्यक्त प्रगट होता है। तिस अव-सर में पष्टितंत्र शास्त्र आसुरीने वनाया। तिस में ऐसा कथन करा कि प्रकृति से महत् होता है, अरु महत् से अहंकार होता है, अहंकार से षोडश गण होता है। तिस षोडशगण में से पञ्चतन्मात्रों से पांच भूत इत्यादि स्वरूप

पूर्व इसी *ग्रन्थ में सांख्यमत विषे लिख आये हैं, वहां से जान लेना। पीछे इनकी संप्रदाय में नामी संख नामा आचार्य हुआ। तब से मत का नाम सांख्यमत प्रसिद्ध हुआ। वास्तव में सर्व परिव्राजक संन्यासियों के लिंग आचारादि धर्म का मूल मरीचि हुआ। इस सांख्यमत का तत्त्व अब भी भगवद्गीता तथा भागवतादि ग्रन्थों में तथा सांख्यमत के शास्त्रों में प्रचलित है। एक जैनमत के बिना सर्व मतों की जड़, इस से समझनी चाहिये।

जब श्रीऋषभदेवजी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था, उसी दिन भरत राजा की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। तब भरतने भरतक्षेत्र के छ खण्डों में राज बनाया, अपनी आज्ञा मनाई, इसी वास्ते इसका नाम भरतखण्ड प्रसिद्ध हुआ।

ब्राह्मणों की उत्पत्ति

जब भरतने अपने छोटे भाइयों को आज्ञा मनाने वास्ते दूत भेजा, तब तिनों ने विचार करा कि राज तो हम को हमारा पिता दे गया है, तो फिर हम भरत की आज्ञा क्योंकर माने! चलो पिता से कहें। जेकर अपने पिता श्रीऋषभदेवजी कहेंगे कि, तुम भरत की आज्ञा मानो, तब तो हम आज्ञा मान लेवेंगे, जेकर हमारे पिता कहेंगे कि लड़ों, तो हम

---

* चतुर्थ परिच्छेद पृ० २७८—२९०

लड़ेंगे । ऐसा विचार करके कैलास पर्वत के ऊपर श्रीऋषभदेवजी के पास गये। तब श्रीऋषभदेवजीने उनके मन का अभिप्राय जान कर उनको उपदेश करा। जो उपदेश करा था, सो श्रीसूत्रकृतांग सूत्र के दूसरे वैतालीय अध्ययन में लिखा है। तब तो उपदेश सुन कर अठानवे पुत्रोंने दीक्षा ले लीनी, सर्व झगड़े छोड़ दिये। इस वार्त्ता में भरत की अपकीर्त्ति हुई । तब भरत चक्रवर्त्ती पांच सौ गाड़े पक्वान्न के लेकर समवसरण में आया और कहने लगा कि, मैं अपने भाइयों को भोजन कराऊंगा और अपना अपराध क्षमा कराऊंगा । तब श्रीऋषभदेवजीने कहा कि ऐसा आहार साधुओं को लेना योग्य नहीं। तब भरत मन में बड़ा उदास हुआ। भरतने कहा कि, अब मैं यह आहार किसको दूं? तब शक्र—इन्द्रने कहा कि, जो तेरे से गुणों में अधिक होवें, तिनको यह भोजन दो। तब भरतने मन में विचार करा कि मेरे से गुणाधिक तो श्रावक हैं । तब भरतने बहुत गुणवान् श्रावकों को वो भोजन जिमाया और उन श्रावकों को भरतजीने कह दिया कि तुम सर्व मिल कर प्रतिदिन अर्थात् रोज की रोज मेरा ही भोजन करा करो। खेती, वाणिज्यादि कुछ काम मत करा करो, केवल स्वाध्याय करने में तत्पर रहो, भोजन करके मेरे महलों के दरवाजे आगे बैठ के तुमने ऐसे कहना कि "जितो भवान् वर्धते भयं तस्मान्माहन माहनेति"। तब वे

श्रावक ऐसे ही करते भये। अरु भरत राजा तो भोग-विलासों में मग्न रहता था, परन्तु जब तिनका शब्द सुनता था, तब मन में विचारता था कि, किसने मुझे जीता है? तब विचार करा कि क्रोध, मान, माया अरु लोभ, इन चार कषायों ने मुझे जीता है, तिनों से ही भय की वृद्धि होती है। ऐसा विचार करने से भरत को वड़ा भारी वैराग्य उत्पन्न होता था।

इस अवसर में रसोई जीमनेवाले श्रावक बहुत हो गये। जब रसोईदार रसोई करने में समर्थ न रहा, तब भरत महाराज को निवेदन करा कि, मैं नहीं जान सकता कि इन में श्रावक कौन है, और कौन नहीं है? तब भरत-ने कहा कि तुम पूछ के उनको भोजन दिया करो। तब रसोई करनेवाले उनको पूछने लगे कि तुम कौन हो? वे कहने लगे, हम श्रावक हैं। फिर तिनों को पूछा कि श्रावकों के कितने व्रत हैं? तब तिनोंने कहा हमारे पांच अणुव्रत हैं, अरु सात शिक्षाव्रत हैं। इस तरें से जब जाना कि यह श्रावक ठीक हैं, तब उनको भरत महाराज के पास लाये। भरतने उनके शरीर में काकणी रत्न से तीन तीन रेखा का चिन्ह कर दिया, अरु छठे महीने अनुयोग परीक्षा करते रहे। वे सर्व श्रावक ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुये। क्योंकि जब भरत महाराज के दरवाजे आगे वे 'माहन' 'माहन' शब्द वार वार उच्चारण करते थे, तब लोक उनको 'माहन'

कहने लग गये। जैनमत के शास्त्रों में प्राकृत भाषा में अब भी ब्राह्मणों को 'माहन' करके लिखा है। अरु जो संस्कृत ब्राह्मण शब्द है, वो प्राकृत व्याकरण में बंभण और माहण के स्वरूप से सिद्ध होता है। श्री अनुयोगद्वार सूत्र में ब्राह्मणों का नाम "वुड्ढसावया" अर्थात् बड़े श्रावक ऐसा लिखा है। यह सर्व ब्राह्मणों की उत्पत्ति है, अरु सो ब्राह्मण अपने बेटों को साधुओं को देते थे। जिनोंने प्रव्रज्या न लीनी वे श्रावक व्रतधारी हुए। यह रीति तो भरत के राज्य में रही।

पीछे भरत का बेटा आदित्ययश हुआ, अर्थात् सूर्ययश; जिस के संतानवाले भरत क्षेत्र में सूर्यवंशी कहे जाते है। अरु बाहुबली का बड़ा पुत्र चन्द्रयश था, तिसके संतान-वाले चन्द्रवंशी कहे जाते हैं। श्री ऋषभदेवजी के कुरु नामा पुत्र के संतान सब कुरुवंशी कहे जाते हैं, जिन में कौरव, पांडव हुये हैं।

जब भरत का बड़ा पुत्र सूर्ययश सिंहासन पर बैठा, तब तिसके पास काकणी रत्न नहीं था, क्योंकि काकणी रत्न चक्रवर्त्ती के सिवाय और किसी के पास नहीं होता है; इस वास्ते सूर्ययश राज़ाने ब्राह्मण श्रावकों के गले में सुवर्णमय यज्ञोपवीत [जनेऊ इतिभाषा] करवा दिये, तथा भोजन प्रमुख सर्व भरत महाराज की तरें देता रहा। जब सूर्ययश का बेटा महायश गद्दी पर बैठा, तब तिस ने रूपे के यज्ञोपवीत बनवा दिये। आगे तिनों की संतानोंने पंचरंगे रेशमी—पट्टसूत्र-

मय यज्ञोपवीत वनाये, आगे सादे सूत के वनाये गये। यह यज्ञोपवीत की उत्पत्ति है।

भरत के आठ पाट तक तो ब्राह्मणों की भक्ति भरत की तरें करते रहे। पीछे प्रजा भी ब्राह्मणों को भोजन कराने लगी, तब सर्व जगे ब्राह्मण पूजनीक समझे गये। आठमे तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभ स्वामी के वक्त तक सर्व ब्राह्मण व्रतधारी, जैनधर्मी श्रावक रहे। अरु श्रीचन्द्रप्रभ भगवान् के पीछे कितनाक काल व्यतीत भये इस भरत खण्ड में जैनमत अर्थात् चतुर्विध संघ और सर्व शास्त्र विच्छेद हो गये। तव तिन ब्राह्मणाभासों को लोक पूछने लगे कि धर्म का स्वरूप हम को वतलाओ। तव तिनोंने जो मन में माना, और अपना जिस में लाभ देखा, सो धर्म वतलाया। अनेक तरें के ग्रंथ वनाये गये।

जब नवमे श्रीसुविधिनाथ—पुष्पदंत अरिहंत हुए, तिनोंने जब फिर जैन धर्म प्रगट करा, तब कितनेक ब्राह्मणाभासोंने न माना, स्वकपोलकल्पित मत ही का कदाग्रह रक्खा, साधुओं के द्वेषी बन गये, चारों वेदों का नाम भी बदल दिया, अरु उन वेदों में मतलब भी और का और लिख दिया।

वेदों की उत्पत्ति

अब चारों वेदों की उत्पत्ति लिखते हैं। जब भरत राजाने ब्राह्मणों को पूजा, तब दूसरे लोक भी ब्राह्मणों को बहुत तरे का दान देने लग गये। तब भरत चक्रवर्त्तीने श्रीऋषभदेवजी के

उपदेशानुसार तिन ब्राह्मणों के स्वाध्याय करने वास्ते श्रीआदीश्वर–ऋषभदेवजी की स्तुति और श्रावक के धर्म का स्वरूपगर्भित, ऐसे चार आर्यवेद रचे। तिन के यह नाम रक्खे—१. संसारदर्शन वेद, २. संस्थापनपरामर्शन वेद, ३. तत्त्वावबोध वेद, ४. विद्याप्रबोध वेद। इन चारों में सर्वनय, वस्तु के कथन संयुक्त तिन ब्राह्मणों को पढ़ाये। तब वे ब्राह्मण अरु पूर्वोक्त चार वेद आठमे तीर्थंकर तक यथार्थ चले आये। परन्तु जब आठमे तीर्थंकर का तीर्थ विच्छेद हुआ, तब तिन ब्राह्मणाभासोंने धन के लोभ से तिन वेदों में जीवहिंसा आदि की प्ररूपणा करके उलटपुलट कर डाले। जैनधर्म का नाम भी वेदों में से निकाल दिया, बल्कि अन्योक्ति करके "दैत्य दस्यु वेदबाह्य" इत्यादि नामों से साधुओं की निंदा गर्भित १. ऋग्, २. यजु, ३. साम, ४. अथर्व, ये चार नाम कल्पन कर दिये। तिन ब्राह्मणों में से जिनों ने तीर्थंकरों का उपदेश माना, उनोंने पूर्व वेदों के मंत्र न त्यागे। सो आज तक दक्षिण कर्णाटक देश में जैन ब्राह्मणों के कंठ हैं; ऐसा सुना और देखा भी है। तथा उन प्राचीन वेदों के कितनेक मंत्र मेरे पास भी हैं। यत उक्तं आगमे—

सिरिभरह चक्कवट्टी, आरियवेयाणविस्सु उप्पत्ती।
माहण पढणत्थमिणं, कहियं सुहज्झाण ववहारं ॥ १ ॥
जिणतित्थे वुच्छिन्ने, मिच्छत्ते माहणेहिं तेठविया।
अस्संजयाणं पूआ, अप्पाणं काहिया तेहिं ॥ २ ॥

इत्यादि। यहां से आगे याज्ञवल्क्य, सुलसा, पिप्पलाद, अरु पर्वत प्रमुख ने तिन वेदों की रचना विशेष हिंसा युक्त कर दीनी। तिसका भी स्वरूप किंचित् मात्र यहां लिख देते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में लिखा है कि, जो यज्ञों का कहनेवाला सो यज्ञवल्क्य, तिसका पुत्र याज्ञवल्क्य। इस कहने से भी यही प्रतीत होता है कि, यज्ञों की रीति प्रायः याज्ञवल्क्य से ही चली है। तथा ब्राह्मण लोगों के शास्त्रों में लिखा है कि, याज्ञवल्क्य ने पूर्व की ब्रह्मविद्या वम के सूर्य पासों नवीन ब्रह्मविद्या सीख के प्रचलित करी। इस से भी यही अनुमान निकलता है कि, याज्ञवल्क्य ने प्राचीन वेद छोड़ दिये, और नवीन बनाये।

हिंसात्मक यज्ञ और पिप्पलाद

तथा श्री त्रेसठ शलाकापुरुष चरित्र ग्रंथ में आठमे पर्व के दूसरे सर्ग में ऐसा लिखा है कि, काशपुरी में दो संन्यासिनिया रहती थीं, तिन में एक का नाम सुलसा था, अरु दूसरी का नाम सुभद्रा था। यह दोनों ही वेद अरु वेदांगों की जानकार थीं। तिन दिनों बहिनों ने बहुवादियों को वाद में जीता। इस अवसर में याज्ञवल्क्य परिव्राजक तिन के साथ वाद करने को आया। आपस में ऐसी प्रतिज्ञा करी कि जो हार जावे, वो जीतनेवाले की सेवा करे। तब याज्ञवल्क्यने सुलसा को वाद में जीत के अपनी सेवा करने-

वाली बनाई। सुलसा भी रात दिन याज्ञवल्क्य की सेवा करने लगी। याज्ञवल्क्य अरु सुलसा यह दोनों यौवनवंत तरुण थे। इस वास्ते दोनों कामातुर हो के भोगविलास करने लग गये। सच तो है कि अग्नि और फूस मिल के अग्नि क्योंकर प्रज्वलित न होवे? निदान दोनों काम-क्रीड़ा में मग्न होकर काशपुरी के निकट कुटी में वास करते थे। तब याज्ञवल्क्य सुलसा से पुत्र उत्पन्न हुआ। पीछे लोगों के उपहास के भय से उस लड़के को पीपल के वृक्ष के हेठ छोड़ कर दोनों नठ के कहीं को चले गये। यह वृत्तांत सुभद्रा जो सुलसा की वहिन थी, उसने सुना। तब तिस बालक के पास आई। जब बालको देखा, तो पीपल का फल स्वयमेव मुख में पडे को चबोल रहा है, तब तिसका नाम भी पिप्पलाद रक्खा। और तिसको अपने स्थान में ले जा के यत्न से पाला, अरु वेदादि शास्त्र पढ़ाये। तब पिप्प-लाद बड़ा बुद्धिमान् हुआ, बहुत वादियों का अभिमान दूर करा। पीछे तिस पिप्पलाद के साथ सुलसा और याज्ञवल्क्य यह दोनों वाद करने को आए। तिस पिप्पलादने दोनों को वाद में जीत लिया, और सुभद्रा मासी के कहने से जान गया कि, यह दोनों मेरे माता पिता हैं, और मुझे जन्मते को निर्दय हो कर छोड़ गये थे। जब बहुत क्रोध में आया तब याज्ञवल्क्य अरु सुलसा के आगे मातृमेध, पितृमेध यज्ञों को युक्ति से सम्यक् रीति से स्थापन करके पितृमेध में याज्ञवल्क्य

को और मातृमेध में सुलसा को मार के होम करा। मीमांसक मत का यह पिप्पलाद मुख्य आचार्य हुआ। इसका वातली नामा शिष्य हुआ। तब से जीवहिंसा संयुक्त यज्ञ प्रचलित हुए।

याज्ञवल्क्य के वेद बनाने में कुछ भी शंका नहीं, क्योंकि वेद में लिखा है—"याज्ञवल्क्येति होवाच" अर्थात् याज्ञवल्क्य ऐसे कहता भया। तथा वेद में जो शाखा है, वे वेदकर्त्ता मुनियों के ही सबब से है। इस वास्ते जो आवश्यक शास्त्र में लिखा है कि, जीवहिंसा संयुक्त जो वेद हैं, वे सुलसा अरु याज्ञवल्क्यादिकों ने बनाये है, सो सत्य है। क्योंकि कितनीक उपनिषदों में पिप्पलाद का भी नाम है, तथा और मुनियों का भी कितनीक जगे में नाम है। जमदग्नि, कश्यप तो वेदों में खुद नाम से लिखे हैं। तो फिर वेदों के नवीन होने में क्या शंका रहती है?

तथा लंका का राजा रावण जब दिग्विजय करने के वास्ते देशों में चतुरंग दल लेकर राजाओं को अपनी आज्ञा मना रहा था। इस अवसर में नारद मुनि लाठी, सोटे, लात और घूंसे से पीटा हुआ पुकार करता हुआ रावण के पास आया। तब रावणने नारद को पूछा कि, तुझ को किसने पीटा है? तब नारदने कहा कि, राजपुर नगर में मरुत नामा राजा है, सो मिथ्यादृष्टि है। वो ब्राह्मणाभासों के उपदेश से यज्ञ करने लगा। होम के वास्ते सैनिकों की

तरे वें ब्राह्मणाभास अरराट शब्द करते हुए विचारे पशुओं को यज्ञ में मारते हुए, मैंने देखे। तब मैं आकाश से उतर के जहां मरुत राजा ब्राह्मणों के साथ में बैठा था, तहां आकर मरुत राजा को कहा कि, यह तुम क्या कर रहे हो ? तब मरुत राजाने कहा कि ब्राह्मणों के उपदेश से देवताओं की तृप्ति वास्ते और स्वर्ग वास्ते यह यज्ञ मैं पशुओं के बलिदान से करता हूं; यह महाधर्म है। तब नारद कहता है कि, मैंने मरुत राजा को कहा कि हे राजन् ! जो चारों वेदों में यज्ञ करना कहा है, वो यज्ञ मैं तुम को सुनाता हूं।

आत्मा तो यज्ञ का यष्टा अर्थात् करनेवाला है, तथा तपरूप अग्नि है; ज्ञानरूप घृत है, कर्मरूपी इन्धन है, क्रोध, मान, माया, अरु लोभादि पशु हैं, सत्य बोलने रूप यूप अर्थात् यज्ञस्तंभ है, तथा सर्व जीवों की रक्षा करनी यह दक्षिणा है, तथा ज्ञान, दर्शन अरु चारित्र, यह रत्नत्रयी-रूप त्रिवेदी है। यह यज्ञ वेद का कहा हुआ है। ऐसा यज्ञ जो योगाभ्यास संयुक्त करे, तो करनेवाला मुक्तरूप हो जाता है। और जो राक्षस तुल्य हो के छागादि मार के यज्ञ करता है, सो मर के घोर नरक में चिरकाल तक महादुःख भोगता है। हे राजन् ! तू उत्तम वंश में उत्पन्न हुआ है, बुद्धिमान् और धनवान् है, इस वास्ते हे राजन् ! तू इस व्याधोचित पाप से निवृत्त हो जा। जेकर प्राणिवध से ही

जीवों को स्वर्ग मिलता होवे, तब तो थोड़े ही दिनों में यह जीवलोक खाली हो जावेगा। यह मेरा वचन सुन के यज्ञ की अग्नि की तरे प्रचन्ड हुए ब्राह्मण हाथ में लाठी, सोटे ले कर सर्व मेरे को पीटने लगे। तब जैसे कोई पुरुष नदी के पूर से डर कर दीप में चला आता है, तैसे मैं दौड़ता हुआ तेरे पास पहुंचा हूं। हे रावण राजा ! विचारे निरपराधी पशु मारे जाते हैं, तू तिनकी रक्षा करने में तत्पर हो। जैसे मैं तेरे शरण से बचा हूं ऐसे तू पशुओं को भी बचा। तब रावण विमान से उतर के मरुत राजा के पास गया। मरुत राजाने रावण की बहुत पूजा, भक्ति, आदर, सन्मान करा। तब रावण कोप में हो कर मरुत राजा को ऐसे कहता भया। अरे ! तू नरक का देनेवाला यह यज्ञ क्या कर रहा ? क्योंकि धर्म तो अहिंसारूप सर्वज्ञ तीर्थंकरोंने कहा है, सोई जगत् के हित का करनेवाला है। जब तुमने पशुओं को मार के धर्म समझा, तब तुम को हितकारक क्योंकर होवेगा ? इस वास्ते यह यज्ञ तुम को दोनों लोक में अहितकारक है। इसे छोड़ दो, नहीं तो इस यज्ञ का फल तेरे को इस लोक में तो मैं देता हूं, और परलोक में तुमारा नरक में वास होवेगा। यह सुन कर मरुत राजाने यज्ञ करना छोड़ दिया। क्योंकि रावण की आज्ञा उस वक्त ऐसी भयंकर थी कि, कोई उसको उल्लंघन नहीं कर सकता था।

इस कथानक से यह भी मालूम हो जाता है कि, जो ब्राह्मण लोग कहते हैं कि, आगे राक्षस यज्ञ विध्वंस कर देते थे, सो क्या जाने रावणादि जबरदस्त जैनधर्मी राजा पशुवध रूप यज्ञ का करना छुड़ा देते थे। तब से ही ब्राह्मणों ने पुराणादि शास्त्रों में उन जबरदस्त जैन राजाओं को राक्षसों के नाम से लिखा है। तथा यह भी सुनने में आया है कि, नारदजीने भी माया के वश से जैनमत धार के वेदों की निन्दा करी थी। तो क्या जाने इस कथानक का यही तात्पर्य लोगों ने लिख लिया हो।

वेदमन्त्र का अर्थ और वसुराजा

पीछे रावणने नारद को पूछा कि, ऐसा पापकारी पशु-वधात्मक यह यज्ञ कहां से चला है? तब नारदजीने कहा कि, शुक्तिमती नदी के किनारे पर एक शुक्तिमती नगरी है सो बीसवें श्रीमुनिसुव्रतस्वामी हरिवंश तीर्थंकर की औलाद में जब कितनेक राजा व्यतीत हो गये, तब अभिचन्द्र नामा राजा हुआ। तिस अभिचन्द्र राजा का वसुनामा बेटा हुआ। वो वसु महाबुद्धिमान्, सत्यवादी, लोगों में प्रसिद्ध हुआ। तिस नगरी में क्षीरकदंबक उपाध्याय रहता था तिसका पर्वत नामक पुत्र था। वहां एक तो राजा का बेटा वसु, दूसरा पर्वत और तीसरा मैं (नारद) हम तीनों क्षीरकदंबक उपाध्याय के पास पढ़ते थे। एक समय हम तो तीनों जन पाठ करने के श्रम से रात्रि को

सो गये थे और उपाध्याय जागता था। हम छत ऊपर सोते थे। तब दो चारण साधु ज्ञानवान् आकाश में परस्पर बातें करते चले जाते थे कि, इस क्षीरकदंवक उपाध्याय के तीन छात्रों में से दो नरक में जायेंगे, अरु एक स्वर्ग में जायेगा। मुनियों का यह कहना सुन करके उपाध्यायजी चिन्ता करने लगे कि, जब मेरे पढाये हुए नरक में जाएंगे, तब यह मुझ को बहुत दुःख है। परन्तु इन तीनों में से नरक कौन जायगा? और स्वर्ग कौन जायगा? इस बात के जानने वास्ते तीनों को एक साथ बुलाया। पीछे गुरुजी-ने हम तीनों को एक एक पीठी का कुक्कड़ दिया, और कह दिया कि इन को ऐसी जगे में मारो जहां कोई भी न देखता होवे। पीछे वसु अरु पर्वत यह दोनों तो शून्य जगा में जा कर दोनों पीठी के बनाये कुक्कड़ों को मार लाये। और म उस पीठी के कुक्कड़ को ले कर बहुत दूर नगर से बाहिर चला गया, जहां कोई भी नहीं था। तहां जा कर खड़ा हुआ, चारों ओर देखने लगा और मन में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि, गुरु महाराजने तो यह आज्ञा दीनी है कि, हे वत्स! यह कुक्कड़ तू ने तहां मारना, जहां कोई देखता न होवे। तो यह कुक्कड़ देखता है, अरु मैं भी देखता हूं, खेचर देखते हैं, लोकपाल देखते हैं, ज्ञानी देखते हैं, ऐसा तो जगत् में कोई भी स्थान नहीं जहां कोई न देखता होवे, इस वास्ते गुरु के कहने का यही तात्पर्य है कि, इस कुक्कड़

का वध न करना। क्योंकि गुरु पूज्य तो सदा दयावन्त और हिंसा से पराङ्मुख हैं, केवल हमारी परीक्षा लेने वास्ते यह आदेश दिया है। तब मैं ऐसा विचार करके विना ही मारे कुक्कड़ को ले के गुरु के पास चला आया, और कुक्कड़ के न मारने का सबब सर्व गुरु को कह दिया। तब गुरुने मन में निश्चय कर लिया कि यह नारद ऐसे विवेकवाला है, सो स्वर्ग जायगा। तब गुरुजीने मुझ को छाती से लगाया, और बहुत साधुकार कहा।

तथा वसु और पर्वत भी मेरे से पीछे गुरु के पास आये। और गुरु को कहते भये कि, हम कुक्कड़ों को ऐसी जगे मार के आये हैं कि, जहां कोई भी देखता नहीं था। तब गुरुने कहा कि, तुम तो देखते थे, तथा खेचर देखते थे, तब हे पापिष्ठो! तुमने कुक्कड़ क्यों मारे? ऐसे कह कर गुरुने सोचा कि, पर्वत और वसु के पढ़ाने की महेनत मैंने व्यर्थ ही करी, मैं क्या करूं? पानी जैसे पात्र में जाता है, वैसा ही बन जाता है। विद्या का भी यही स्वभाव है। जब प्राणों से प्यारा पर्वत पुत्र और पुत्र से प्यारा वसु, यह दोनों नरक में जायेंगे, तो मुझे फिर घर में रह कर क्या करना है? ऐसे निर्वेद से क्षीरकदंब उपाध्यायने दीक्षा ग्रहण करी—साधु हो गया। तिसके पद ऊपर पर्वत बैठा, क्योंकि व्याख्या करने में पर्वत बड़ा विचक्षण था।

और मैं (नारद) गुरु के प्रसाद से सर्वशास्त्रों में पंडित हो कर अपने स्थान में चला आया। तथा अभिचन्द्र राजाने तो संयम लिया, और वसु राजा राजसिंहासन पर बैठा।

वसु राजा जगत् में सत्यवादी प्रसिद्ध हो गया अर्थात् वसुराजा झूठ नहीं हैं, ऐसा प्रसिद्ध हो गया। वसुराजाने भी अपनी प्रसिद्धि को कायम रखने वास्ते सत्य बोलना ही अंगीकार किया। वसुराजा को एक स्फटिक का सिंहासन गुप्तपने ऐसा मिला कि सूर्य के चांदने में जब वसुराजा उसके ऊपर बैठता था, तब सिंहासन लोगों को बिलकुल नहीं दीख पड़ता था। इसी तरे वसुराजा आकाश में अधर बैठा दीख पड़ता था। तब लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई कि, सत्य के प्रभाव से वसुराजा का सिंहासन देवता आकाश में थामे रखते हैं। तब सब राजा डर के वसुराजा की आज्ञा मानने लग गये। क्योंकि चाहे सच्ची हो चाहे झूठी हो, तो भी प्रसिद्धि जो है सो पुरुष के वास्ते जयकारी होती है।

तब एकदा प्रस्ताव में नारद शुक्तिमती नगरी में गया। वहां जा कर पर्वत को देखा तो वो अपने शिष्यों को ऋग्-वेद पढा रहा है, और उसकी व्याख्या करता है। तब ऋग्-वेद में एक ऐसी श्रुति आई "अजैर्यष्टव्यमिति"। तब पर्वतने इस श्रुति की ऐसी व्याख्या करी कि अजा नाम छाग—बकरी का है; तिनों से यज्ञ करना—तिनको

मारे के तिनके मांस का होम करना। तब मैंने पर्वत को कहा—हे भ्राता! यह व्याख्या तू क्या भ्रांति से करता है? क्योंकि गुरु श्रीक्षीरकदंबकने इस श्रुत की ऐसे व्याख्या नहीं करी है। गुरुजीने तो तीन वर्ष के पुराने धान्य-जौ का अर्थ इस श्रुति का करा है। " न जायंत इत्यजा "—जो बोने से न उत्पन्न होवें सो अज, ऐसा अर्थ श्रीगुरुजीने तुम को और हम को सिखलाया था। वो अर्थ तुमने किस हेतु से भुला दिया? तब पर्वतने कहा कि, तुमने जो अर्थ करा है, वह गुरुजीने नहीं कहा था, किन्तु जो अथ मैंने करा है, यही अर्थ गुरुने कहा था, क्योंकि निघंटु में भी अजा नाम बकरी का ही लिखा है। तब मैंने (नारदने) पर्वत को कहा कि शब्दों के अर्थ दो तरे के होते हैं। एक मुख्यार्थ और दूसरा गौणार्थ। तो यहां श्री गुरुजीने गौणार्थ करा था। गुरु धर्मोपदेष्टा का वचन और यथार्थ श्रुति का अर्थ, दोनों को अन्यथा करके हे मित्र! तूं महापाप उपार्जन मत कर। तब फिर पर्वतने कहा कि अजा शब्द का अर्थ श्री गुरुजीने मेष का करा है, निघंटु में भी ऐसे ही अर्थ है। इन को उल्लंघन करके तू अधर्म उपार्जन करता है। वास्ते वसुराजा अपना सहाध्यायी है, तिसको मध्यस्थ करके इस अर्थ का निर्णय करो। जो झूठा होवे तिसकी जिह्वा का छेद करना, ऐसी प्रतिज्ञा करी। तब मैंने भी पर्वत का कहना मान लिया, क्योंकि सांच को क्या आंच है?

तब पर्वत की माताने पर्वत को छाना (गुप्त में) कहा कि, हे पुत्र ! तू ऐसा झूठा कदाग्रह मत कर। क्योंकि मैंने भी इस श्रुति का अर्थ तीन वर्ष का धान्य ही सुना है, इस वास्ते तूने जो जिह्वाछेद की प्रतिज्ञा करी है, सो अच्छी नहीं करी। क्योंकि जो विना विचारे काम करता है, वो अवश्य आपदा में पड़ता है। तब पर्वत कहने लगा कि हे माताजी ! जो मैंने प्रतिज्ञा करी है, वो अब मैं किसी तेंर से भी दूर नहीं कर सकता हूं। तब माता अपने पर्वत पुत्र के दुःख से पीडित हो कर वसु राजा के पास पहुंची। क्योंकि पुत्र के जीवितव्य (जीवन) वास्ते कौन ऐसा है, जो उपाय न करे ?

जब वसुराजाने अपने गुरु की पत्नी को आते देखा तब सिंहासन से उठ के खड़ा हुआ, और कहने लगा कि, मैंने आज क्षीरकदंबक का दर्शन करा जो माता तुझ को देखा। अब हे माता ! कहो मैं क्या करूं ? और क्या दूं ? तब ब्राह्मणी कहने लगी कि, तू मुझे पुत्र की भिक्षा दे, क्योंकि विना पुत्र के मैंने हे पुत्र ! धन, धान्य का क्या करना है ? तब वसुराजा कहने लगा–हे माता ! मेरे को तो पर्वत पूजने और पालने योग्य है। क्योंकि गुरु की तरें गुरु के पुत्र के साथ भी वर्त्तना चाहिये, यह श्रुति का वाक्य है। तो फिर आज किस को काल ने क्रोध में आकर पत्र भेजा है, जो मेरे भाई पर्वत को मारा चाहता है ? इस वास्ते हे माता ! तू मुझे सर्व वृत्तांत कह दे। तब ब्राह्मणीने अपने

पुत्र का अज व्याख्यान और जिह्वा छेदने की प्रतिज्ञा कह सुनाई। और कहा कि, जो तूं ने अपने भाई की रक्षा करनी है, तो अजा शब्द का अर्थ मेष अर्थात् बकरी बकरा करना। क्योंकि महात्मा जन परोपकार के वास्ते अपने प्राण भी दे देते हैं, तो वचन से परोपकार करने में तो क्या कहना है ? तब वसु राजा ने कहा कि हे माताजी, मैं मिथ्यावचन क्योंकर बोलूं ? क्योंकि सत्य बोलनेवाले पुरुष जेकर अपने प्राण भी जाते देखें तो भी असत्य नहीं बोलते हैं, तो फिर गुरु का वचन अन्यथा करना और झूठी साक्षी देनी, इसका तो क्या ही कहना है ? तब ब्राह्मणीने कहा कि या तो गुरु के पुत्र की जान बचेगी, या तेरे सत्य व्रत का आग्रह ही रहेगा, और मैं भी तुझे अपने प्राण की हत्या दूंगी। तब वसुराजा ने लाचार होकर ब्राह्मणी का वचन माना। पीछे क्षीरकदंबक की भार्या प्रमुदित हो कर अपने घर को गई।

इतने ही में मैं (नारद) और पर्वत दोनों जने वसुराजा की सभा में गये। तब तहां बडे बडे विद्वान् इकट्ठे सभा में मिले और स्फटिक के सिंहासन ऊपर बैठ के वसुराजा सभा के बीच में सभापति बन कर बैठा। तब पर्वत ने और मैंने अपनी अपनी व्याख्या का पक्ष वसुराजा को सुनाया। और ऐसा भी कहा कि हे राजन् ! तूं सत्य कह दे कि गुरु ने इन दो अर्थों में से कौन सा अर्थ कहा था ? तब वृद्ध ब्राह्मणों ने कहा हे राजा ! तू सत्य जो होवे सो कह दे। क्योंकि

सत्य से ही मेघ वर्षता है, और सत्य से ही देवता सिद्ध होते हैं, सत्य के प्रभाव से ही यह लोक खड़ा है, और तूं पृथ्वी में सत्यवादी सूर्य की तरें प्रकाशक है, इस वास्ते सत्य ही कहना तुम को उचित है, और हम इस से अधिक क्या कहें ! यह वचन सुन कर भी वसुराजा ने अपने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा को जलांजली दे कर " अजान्मेषान् गुरुर्व्याख्य-दिति " अर्थात् अज का अर्थ गुरु ने मेष (बकरा) कहा था ऐसी साक्षी वसुराजाने कही, तब इस असत्य के प्रभाव से व्यंतर देवता ने वसुराजा के सिंहासन को तोड़ के वसु-राजा को पृथ्वी के ऊपर पटक के मारा। तब तो वसुराजा मर के सातमी नरक में गया।

पीछे वसुराजा के राज सिंहासन ऊपर वसुराजा के आठ पुत्र—१. पृथुवसु, २. चित्रवसु, ३. वासव, ४. शक्र, ५. विभावसु, ६. विश्वावसु, ७. सूर, ८. महासूर, ये आठों अनुक्रम से गद्दी ऊपर बैठे। उन आठों ही को व्यंतर देव-ताओं ने मार दिया। तब सुवसु नामा नवमा पुत्र तहां से भाग कर नागपुर में चला गया, और दसमा बृहद्ध्वज नामा पुत्र भाग कर मथुरा में चला गया, और मथुरा में राज करने लगा। इस बृहद्ध्वज की संतानों में यदुनामा राजा बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस वास्ते हरिवंश का नाम छूट गया और यदुवंशी प्रसिद्ध हो गये।

यदु राजा के सूर नामक पुत्र हुआ। तिस सूर राजा के

दो पुत्र हुवे। तिनमें से वड़ा शौरी और छोटा सुवीर था। शौरी पिता के पीछे राजा वना, शौरी ने मथुरा का राज्य तो अपने छोटे भाई सुवीर को दे दिया, और आप कुशावर्त्त देश में जाकर अपने नाम का शौरीपुर नगर वसा के राजधानी वनाई। शौरी का वेटा अंधकवृष्णि आदि पुत्र हुआ। और अंधकवृष्णि के दश वेटे हुये—१. समुद्रविजय, २. अक्षोभ्य, ३. स्तिमित, ४. सागर, ५. हिमवान्, ६. अचल, ७. धरण, ८. पूर्ण, ९. अभिचन्द्र, १०. वसुदेव। तिन में समुद्रविजय का वड़ा वेटा अरिष्टनेमि जो जैनमत का वावीसमा तीर्थंकर हुआ। और वसुदेव के वेटे प्रतापी कृष्ण वासुदेव अरु वलभद्रजी हुये। तथा सुवीर का वेटा भोजवृष्णि और भोजवृष्णि का उग्रसेन और उग्रसेन का कंस वेटा हुआ। और वसुराजा का दूसरा वेटा सुवसु जो भाग के नागपुर गया था, तिसका वृहद्रथ नामा पुत्र हुआ। तिस ने राजगृह में आकर राज करा, तिस का वेटा जरासिंध हुआ। यह मैंने यहां प्रसंग से लिख दिया है।

तव वहां तो नगर के लोक और पण्डितों ने पर्वत का वहुत उपहास करा। सवने पर्वत को कहा कि तूं झूठां है, क्योंकि तेरे साखी वसु को झूठा जान कर देवताने मार दिया, इस वास्ते तेरे से अधिक पापी कौन है? ऐसे कह कर लोगोंने मिल के पर्वत को नगर से वाहिर निकाल दिया। तव महाकाल असुर उस पर्वत का सहायक हुआ।

महाकालासुर और पर्वत

यहां रावणने नारद को पूछा कि वो महाकाल असुर कौन था ? नारद ने कहा यहां चरणायुगल नामा नगर है। तिस में अयोधन नामा राजा था, तिस की दिति नामा भार्या थी। तिन दोनों की सुलसा नामक बहुत रूपवती बेटी थी। तिस सुलसा का स्वयंवर उसके पिताने करा। वहां और सर्व राजे बुलवाये। तिन सर्व राजाओं में से सगर राजा अधिक था। तिस सगर राजा की मंदोदरी नामा रणवास की दरवाजेदार सगर की आज्ञा से प्रतिदिन अयोधन राजा के आवास में जाती थी। एक दिन दिति घर के बाग के कदली घर में गई, और सुलसा के साथ मंदोदरी भी तहां आ गई। तब मंदोदरी, सुलसा और दिति इन दोनों की बातें सुनने के वास्ते तहां छिप गई। तब दिति सुलसा को कहने लगी, हे बेटी ! मेरे मन में इस तेरे स्वयंवर विषे बड़ा शल्य है, तिस का उद्धार करना तेरे आधीन है, इस वास्ते तू सुन ले।

मूल से श्रीऋषभदेव स्वामी के भरत अरु बाहुबली यह दो पुत्र हुये। फिर तिनके दो पुत्र हुये तिन में भरत का सूर्ययश और बाहुबली का चन्द्रयश, जिनों से सूर्यवंश और चन्द्रवंश चले हैं। चन्द्रवंश में मेरा भाई तृणबिंदुनामा हुआ। तथा सूर्यवंश में तेरा पिता राजा अयोधन हुआ। और अयोधन राजा की बहिन सत्ययशा नामा तृणबिंदु की

भार्या हुई। तिस का बेटा मधुपिंगल नामा मेरा भतीजा है। तो हे सुन्दरी! मैं तेरे को तिस मधुपिंगल को देना चाहती हूं, और तूं तो क्या जाने स्वयंवर में किस को दी जायगी? मेरे मन में यह शल्य है। इस वास्ते तूने स्वयंवर में सर्व राजाओं को छोड़ के मेरे भतीजे मधुपिंगल को वरना। तब सुलसाने माता का कहना स्वीकार कर लिया और मंदोदरीने यह वृत्तांत सुन कर सगर राजा को कह दिया।

तब सगर राजाने अपने विश्वभूति नामा पुरोहित को आदेश दिया। वो विश्वभूति बड़ा कवि था उसने तत्काल राजा के लक्षणों की संहिता बनाई। तिस संहिता में ऐसे लिखा कि सगर तो शुभ लक्षणवाला बन जावे और मधु-पिंगल लक्षणहीन सिद्ध हो जावे। तिस पुस्तक को संदूक में बन्द करके रख छोड़ा। जब सब राजा आकर स्वयंवर में इकट्ठे बैठे, तब सगर की आज्ञा से विश्वभूतिने वो पुस्तक काढ़ा। अरु सागरने कहा कि जो लक्षणहीन होवे, तिस को या तो मार देना, अथवा स्वयंवर से बाहिर निकाल देना। यह कहना सब ने मान लिया। तब तो पुरोहित यथा यथा पुस्तक वांचता जाता है, तथा मधुपिंगल अपने को अपलक्षणवाला मान कर लज्जावान् होता जाता है। और स्वयंवर से आप ही आप निकल गया। तब सुलसा ने सगर को वर लिया, दूसरे सर्व राजा अपने अपने स्थानों को चले गये।

अरु मधुपिंगल तो उस अपमान से बालतप करके साठ हज़ार वर्ष की आयुवाला कालनामा असुर परमधार्मिक देव हुआ । तब अवधिज्ञान से सगर का कपट जो उसने सुलसा के स्वयंवर में झूठा पुस्तक बनाया था, और अपना जो अपमान हुआ था, सो देखा जाना । तब विचार करा कि सगर राजादिकों को मैं मारूं । तब तिन के छिद्र देखने लगा । जब शुक्तिमती नगरी के पास पर्वत को देखा, तब ब्राह्मण का रूप करके पर्वत को कहने लगा कि, हे पर्वत ! मैं तेरे पिता का मित्र हूं, मेरा नाम शांडिल्य है, मैं और तेरा पिता हम दोनों साथ होकर गौतम उपाध्याय के पास पढे थे । मैंने सुना था कि नारदने और दूसरे लोगों ने तुझे बहुत दुःखी करा, अब मैं तेरा पक्ष करूंगा, और मन्त्रों करके लोगों को विमोहित करूंगा । यह कह कर पर्वत के साथ मिल के लोगों को नरक में डालने वास्ते तिस असुर ने बहुत व्यामोह करा, व्याधि भूतादि दोष लोगों को कर दिये । पीछे वहां जो लोक पर्वत का वचन मान लेता था, तिस को अच्छा कर देता था । शांडिल्य की आज्ञा से पर्वत भी लोगों को अच्छा करने लगा । उपकार करके लोगों को अपने मत में मिलाता जाता था । तब तिस असुर ने सगर राजा को तथा तिसकी रानियों को बहुत भारी रोगादिक का उपद्रव करा । तब तो राजा भी पर्वत का सेवक बना । अरु पर्वतने शांडिल्य के साथ मिल के

तिसका रोग शांत करा। तब पर्वत ने राजा को उप-
देश करा कि—

हे राजन्! 'सौत्रामणि नामा यज्ञ करके, मद्यपान अर्थात्
शराव पीने में दोष नहीं। तथा गोसव नामा यज्ञ में अगम्य
स्त्री (चांडाली) आदि तथा माता, बहिन, बेटी आदि से
विषय सेवन करना चाहिये। मातृमेध में माता का और
पितृमेध में पिता का वध अंतर्वेदी कुरुक्षेत्रादिक में करे,
तो दोष नहीं। तथा कच्छु की पीठ ऊपर अग्नि स्थापन करके
तर्पण करे, कदाचित् कच्छु न मिले तो शुद्ध ब्राह्मण के
मस्तक की टटरी ऊपर अग्नि स्थापन करके होम करे,
क्योंकि टटरी भी कच्छु की तरे होती है। इस बात में
हिंसा नहीं है, क्योंकि वेदों में लिखा है—

सर्वँ पुरुष एवेदं, यद्भूतं यद्भविष्यति।
ईशानो योऽमृतत्वस्य, यदन्नेनातिरोहति॥

इसका भावार्थ यह है कि, जो कुछ है, सो सब ब्रह्म-
रूप ही है। जब एक ही ब्रह्म हुआ; तब कौन किसीको मारता
है? इस वास्ते यथारुचि से यज्ञों में जीवहिंसा करो, और
तिन जीवों का मांस भक्षण करो, इसमें कुछ दोष नहीं।
क्योंकि देवोद्देश करने से मांस पवित्र हो जाता है। इत्यादि
उपदेश देकर सगर राजा को अपने मत में स्थापन करके
अंतर्वेदी कुरुक्षेत्रादि में उस पर्वत ने यज्ञ कराया। तब

कालासुर ने अवसर पा करके राजसूयादिक यज्ञ भी कराया। और जो जीव यज्ञ में मारे जाते थे, तिन को विमानों में बैठा के देवमाया से दिखाया। तब लोगों को प्रतीत आ गई, पीछे वो निःशंक हो कर जीवहिंसारूप यज्ञ करने लगे और पर्वत का मत मानने लगे। सगर राजा भी यज्ञ करने में बड़ा तत्पर हुआ। सुलसा और सगर दोनों मर के नरक में गये। तब महाकालासुर ने सगर राजा को नरक में मार पीटादि महादुःख दे के अपना वैर लिया। इस वास्ते हे रावण! पर्वत पापी से यह जीवहिंसारूप यज्ञ विशेष करके प्रवृत्त हुये। हे राजा रावण! सो यह यज्ञ विशेष तूने निषेध करा। यह कथा सुन के राजा रावण ने प्रणाम करके नारद को विदा करा।

इस तरे से जैनमत के शास्त्रों में वेदों की उत्पत्ति लिखी है सो आवश्यकसूत्र, आचारदिनकर, त्रेसठशलाका पुरुष चरित्र में सर्व लिखा है, तहां से देख लेना।

और इस वर्त्तमान काल में जो चारों वेद हैं, इनकी उत्पत्ति डाक्टर मेक्षमूलर साहिब अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में तो ऐसे लिखते हैं कि, वेदों में दो भाग हैं, एक छन्दोभाग, दूसरा मन्त्रभाग है। तिन में छन्दोभाग में इस प्रकार का कथन है, जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो, तैसे इसकी उत्पत्ति इकत्तीस सौ वर्ष से हुई है; और मन्त्रभाग को बने हुये उनतीस सौ वर्ष

हुये हैं। इस लिखने से क्या आश्चर्य है ? जो किसीने उलट-पुलट के फिर नवीन वेद बना दिये हों। इन वेदों ऊपर अवट, सायण, रावण, महीधर, अरु शंकराचार्यादिकोंने भाष्य बनाये हैं, टीका दीपिका रची है। फिर अब उन प्राचीन भाष्य दीपिका को अयथार्थ जान के दयानन्द सरस्वती स्वामी अपने मत के अनुसार नवीन भाष्य बना रहे हैं। परन्तु पंडित ब्राह्मण लोक दयानन्द सरस्वती के भाष्य को प्रमाणिक नहीं मानते हैं। अब देखना चाहिये क्या होता है ? और जैनमत वालोंने तो अब से उनके शास्त्रों के लिखने मूजब आर्य वेद बिगड़ गये, उसी दिन से वेदों को मानना छोड़ दिया है।

श्रीऋषभदेव का निर्वाण

जब ऋषभदेवजी का कैलास पर्वत के ऊपर निर्वाण हुआ, तब सर्व देवता निर्वाण महिमा करने को आये। तिन सर्व देवताओं में से अग्नि-कुमार देवता ने श्री ऋषभदेव की चिता में अग्नि लगाई, तब से ही यह श्रुति लोक में प्रसिद्ध हुई है—"अग्निमुखा वै देवाः" अर्थात् अग्निकुमार देवता सर्व देवताओं में मुख्य है। और अल्पबुद्धियों ने तो इस श्रुति का अर्थ ऐसा बना लिया है कि अग्नि जो है, सो तेतीस क्रोड़ देवताओं का मुख है। यह प्रभु के निर्वाण का स्वरूप सर्व आवश्यक सूत्र से जान लेना।

जब देवताओंने श्री ऋषभदेव की दाढ़ें वगेरे लीनी

तब श्रावक ब्राह्मण मिल कर देवताओं को अतिभक्ति से याचना करते भये। तब वे देवता तिन को बहुत जान करके बड़े यत्न से याचने के पीछे हुये देख कर कहते भये कि अहो याचका! अहो याचका! तब ही से ब्राह्मणों को याचक कहने लगे। तब ब्राह्मणोने ऋषभदेव की चिता में से अग्नि लेकर अपने अपने घरों में स्थापन करते भये, तिस कारण से ब्राह्मणों को अहिताग्नि कहने लगे।

श्रीऋषभदेव की चिता जले पीछे दाढ़ादिक सर्व तो देवता ले गये, शेष भस्म अर्थात् राख रह गयी, सो ब्राह्मणों ने थोडी थोडी सर्व लोगों को दीनी। तिस राख को लोगों नें अपने मस्तक ऊपर त्रिपुंड्राकार से लगायी, तब से ही त्रिपुंड्र लगाना शुरू हुआ। इत्यादि बहुत व्यवहार तब से ही चला है।

जब भरत ने कैलास पर्वत के ऊपर सिंहनिषद्या नामा मंदिर बनाया, उस में आगे होनेवाले तेईस तीर्थंकरों को और श्रीऋषभदेवजी की अर्थात् चौवीश प्रतिमा की स्थापना करी। और दंडरत्न से पर्वत को ऐसे छीला कि जिस पर कोई पुरुष पगों से न चढ़ सके। उसमें आठ पद (पगथिये) रक्खे। इसी वास्ते कैलास पर्वत का दूसरा नाम अष्टापद कहते हैं। तब से ही कैलास महादेव का पर्वत कहलाया। महादेव अर्थात् बड़े देव, सो ऋषभदेव, तिस का स्थान कैलास पर्वत जानना।

भरत अरु बाहुबली दोनों दीक्षा ले के मोक्ष गये। तब भरत के पीछे सूर्ययश गद्दी पर बैठा। तिस की औलाद सूर्यवंशी कहलाई। तिस के पीछे सूर्ययश का बेटा महायश गद्दी पर बैठा, ऐसे ही अतिबल, महाबल, तेजवीर्य, कीर्तिवीर्य अरु दण्डवीर्य, ये पांच अनुक्रम से अपने २ बाप की गद्दी पर बैठे अपने २ राज का प्रबंध करते रहे, परन्तु भरत के राज से इनोंने आधा (तीन खण्ड) राज्य करा, और भरत की तरे राज्य छोड़ कर मोक्ष में गये। इनके पीछे गद्दी पर असंख पाट हुये, तिन की व्यवस्था चित्तांतरगंडिका से जान लेनी, यावत् जितशत्रुराजा हुआ।

अब अजितनाथ स्वामी के वक्त का स्वरूप लिखते हैं।

श्री अजितनाथ और सगर चक्रवर्त्ती

अयोध्या नगरी में श्री भरत के पीछे जब असंख्य राजा हो चुके, तब इक्ष्वाकुवंश में जितशत्रु राजा हुआ। विनीता नगरी का ही दूसरा नाम अयोध्या है। परन्तु अब जो अयोध्या है, सो वो अयोध्या नहीं। वो तो कैलास पर्वत के पास थी, और यह तो नवीन अयोध्या उसके नाम से वसी है। जितशत्रु राजा का छोटा भाई सुमित्र युवराज था। जितशत्रु की विजया देवी रानी थी, तिस के चौदह स्वप्नपूर्वक अजितनाथ नामा पुत्र हुआ। और सुमित्र की रानी यशोमती को भी चौदह स्वप्न देखने-पूर्वक सगरनामा पुत्र हुआ। जब दोनों यौवनवंत हुए तब

जितशत्रु और सुमित्र तो दीक्षा ले के मोक्ष हो गये। तब श्री अजितनाथ राजा हुये अरु सगर युवराज हुये। कितनेक काल राज करके श्री अजितनाथ ने तो स्वयमेव दीक्षा लेकर तप करा, और केवलज्ञान पा कर दूसरा तीर्थंकर हुआ। पीछे सगर राजा हुआ। सो सगर दूसरा चक्रवर्ती हुआ है। इस सगर राजा ने भरत की तरें षट् खंड का राज्य करा।

इस सगर राजा के जह्नुकुमार प्रमुख साठ हज़ार बेटे हुये। तिनों ने दण्ड रत्न से गंगा नदी को अपने असली प्रवाह से फेर के और कैलास के गिरदनवाह खाई खोद के उस खाई में गंगा को ला के गेरा। क्योंकि उन्होंने विचार करा था कि, हमारे बडे भरत ने जो इस पर्वत ऊपर सुवर्ण-रत्नमय श्रीऋषभादि तीर्थंकरों का मन्दिर बनाया है, तिस की रक्षा वास्ते इस पर्वत के चारों ओर खाई खोद कर उसमें गंगा फेर देवें, जिस से तीर्थ की विशेष रक्षा हो जायेगी। तिन साठ हज़ार को नाग देवता ने मार दिया, क्योंकि खाई खोदने और जल भरने से उनको तकलीफ पहुंची थी। तब गंगा के जल ने देश में बड़ा उपद्रव करा। तब सगर राजा के पोते जह्नु के बेटे भगीरथ ने सगर की आज्ञा से दण्डरत्न से भूमि खोद के गंगा को समुद्र में मिलाया। इसी वास्ते गंगा का नाम जाह्नवी और भागीरथी कहा जाता है।

सगर राजा ने श्रीशत्रुंजय तीर्थ ऊपर श्रीभरत के बनाये ऋषभदेवजी के मंदिर का उद्धार करा। तथा और जैनतीर्थों का भी उद्धार करा। तथा यह समुद्र भी भरत क्षेत्र में सगर ही देवता के सहाय से लाया। लंका के टापू में वैताढ्य पर्वत से सगर की आज्ञा से घनवाहन पहिला राजा हुआ। और लंका के टापू का नाम राक्षसद्वीप है, इस हेतु से घनवाहन राजा के वंश के राक्षस कहलाये। इसी वंश में राजा रावण और विभीषणादि हुये हैं। इत्यादि सगरचक्रवर्त्ती के समय का हाल त्रेसठशलाकापुरुष-चरित्र से जान लेना। क्योंकि तिस चरित्र के तेतीस हज़ार काव्य हैं। इस वास्ते मैं उसका सारा हाल इस ग्रंथ में नहीं लिख सकता हुं, परन्तु संक्षेप मात्र वृत्तांत लिखा है। सगरचक्रवर्त्ती राज्य करके पीछे श्री अजितनाथजी के पास दीक्षा लेकर, संयम तप करके केवलज्ञान पा कर मोक्ष पहुंचे। और अजितनाथ स्वामी भी समेतशिखर पर्वत के ऊपर शरीर छोड़ के मोक्ष गये।

श्रीऋषभदेव स्वामी के निर्वाण से पचास लाख कोडी सागरोपम के व्यतीत हुए श्रीअजितनाथ तीर्थंकर का निर्वाण हुआ। श्रीसंभवनाथजी तीसरे तीर्थंकर हुये। राज्य सर्व सूर्यवंशी, चंद्रवंशी और कुरुवंशी, आदिक राजाओं के घराने में रहा।

अब श्रावस्ती नगरी में इक्ष्वाकुवंशी जितारि राजा राज्य करता था, तिसकी सेना नामा पटरानी थी। तिनों को संभव नामा पुत्र तीसरा तीर्थंकर हुआ। यह चौवीस ही तीर्थंकरों का वर्णन प्रथम परिच्छेद में यन्त्र और वार्त्ता में लिख आये हैं। इस वास्ते यहां संक्षेप से लिखेंगे। और तीर्थंकरों के आपस में जो अंतरकाल हैं सो भी यन्त्रों में देख लेना।

इन के पीछे अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी संवर राजा और तिसकी सिद्धार्था नामक रानी से अभिनन्दन नामक चौथा तीर्थंकर पुत्र हुआ। पीछे अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी मेघराजा की सुमंगला रानी से सुमतिनाथ नामक पांचमा तीर्थंकर पुत्र हुआ। पीछे कौशंबी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी श्रीधर राजा की सुसीमा रानी से पद्मप्रभ नामक छट्ठा तीर्थंकर पुत्र हुआ। पीछे वाराणसी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी प्रतिष्ठ राजा हुआ, तिसकी पृथ्वी नामा रानी, तिनों का पुत्र श्री सुपार्श्वनाथ नामा सातमा तीर्थंकर हुआ। पीछे चंद्रपुरी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी महासेन राजा हुआ, तिसकी लक्ष्मणा नामा रानी, तिनों का पुत्र श्री चन्द्रप्रभ नामा आठमा तीर्थंकर हुआ। पीछे काकंदी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी सुग्रीव राजा हुआ, तिसकी रामा नामक रानी, तिनका पुत्र श्री सुविधिनाथ अपरनाम पुष्पदन्त नवमा तीर्थंकर हुआ।

यहां तक तो सर्व ब्राह्मण जैनधर्मी श्रावक और आर्य चारों वेदों के पढनेवाले बने रहे। जब नवमें

मिथ्यादृष्टि ब्राह्मण

तीर्थंकर का तीर्थ व्यवच्छेद हो गया, तब से ब्राह्मण मिथ्यादृष्टि और जैनधर्म के द्वेषी और सर्व जगत् के पूज्य, कन्या, भूमि, गोदानादिक के लेने-वाले, सर्व जगत् में उत्तम और सर्व के हर्त्ता, कर्त्ता, मतों के मालक बन गये। क्योंकि सूना घर देख के कुत्ता भी आटा खा जाता है। और जो जगत् में पाखंड तथा बुरे २ देवतादिकों की पूजा है, तथा और भी जो जो कुमार्ग प्रच-लित हुआ है, वे सर्व उन्हों ने ही चलाये हैं। मानो आदीश्वर भगवान् की रची हुई सृष्टिरूप अमृत में ज़हर डालनेवाले हुये। क्योंकि आगे तो जैनमत के और कपिल के मत के विना और कोई भी मत नहीं था। कपिल के मतवाले भी श्रीआदीश्वर अर्थात् ऋषभदेव को ही देव मानते थे। निदान यह हुंडा अवसर्पिणी में आश्चर्य गिना जाता है।

तिस पीछे भद्दिलपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशी दृढरथ राजा हुआ, तिसकी नंदा नामा रानी, तिनोंका पुत्र श्री शीत-लनाथ नामा दशमा तीर्थंकर हुआ। इन ही के शासन में हरिवंश उत्पन्न हुआ है, तिसकी कथा लिखते हैं।

हरिवंश की उत्पत्ति

कौशांबी नगरी में वीरा नामा कोली रहता था, तिस की वनमाला नामा स्त्री अत्यंत रूपवती थी। सो नगर के राजा ने छीन के अपनी रानी बना ली। वीरा कोली स्त्री के विरह

से बावला हो गया—हा ! वनमाला हा ! वनमाला ! ऐसे कहता हुआ नगर में फिरने लगा । एकदा वर्षाकाल में राजा वनमाला के साथ महल के झरोखे में बैठा था । तब राजा रानी ने वीरे को तिस हाल में देख के बड़ा पश्चात्ताप करा, अरु विचार करने लगे कि हम ने यह बहुत बूरा काम करा । उसी वक्त बिजली गिरने से राजा रानी दोनों मर के हरिवास क्षेत्र में युगल स्त्री पुरुष हो गये । तब वीरा कोली राजा रानी का मरण सुन के राजी हो गया । पीछे तापस वन के तप करा । अज्ञान तप के प्रभाव किल्बिष देवता हुआ । तब अवधिज्ञान से राजा रानी को युगलिये हुये देख कर विचार करा कि, यह भद्रक परिणामी और अल्पारम्भी हैं इस वास्ते मर के देवता होवेंगे, तो फिर मैं अपना वैर किस से लूंगा ? इस वास्ते ऐसा करूं कि जिस से ये दोनों मर के नरक में जावें । ऐसा विचार के तिन दोनों को तहां से उठा करके भरत क्षेत्र में चम्पा नगरी में लाया । वहां का इक्ष्वाकुवंशी चंडकीर्त्ति राजा अपुत्रिया मरा था, लोक सब चिन्ता में बैठे थे कि, कौन यहां का राजा होवेगा ? तब तिस देवताने ये दोनों उनको सौंपे, और कहा कि–यह तुमारा हरि नामा राजा हुआ, इसकी यह हरिणी नामा रानी है, इन के खाने वास्ते तुम ने फलमिश्रित मांस देना और इन से शिकार भी कराना । तब लोगोंने तैसे ही करा । वे दोनों पाप के प्रभाव से मर के नरक में गये ।

और उनकी औलाद हरिवंशी कहलायी। इसी वंश में वसुराजा हुआ।

इन श्री शीतलनाथजी का भी शासन विच्छेद गया। इसी तरे पंदरहवें तीर्थंकर तक सात तीर्थंकरों का शासन विच्छेद होता रहा, और मिथ्या धर्म वढ़ गये।

तिस पीछे सिंहपुरी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी विष्णु राज हुआ, तिसकी विष्णुश्री रानी, तिनोंका पुत्र श्रीश्रेयांसनाथ नामा ग्यारमा तीर्थंकर हुआ। तिनके समय में वैताढ्य पर्वत से श्रीकंठ नामा विद्याधर के पुत्र ने पद्मोत्तर विद्याधर की वेटी को हर के अपने वहनोई राक्षसवंशी लंका के राजा कीर्त्तिधवल की शरण गया। तव कीर्त्तिधवल ने तीन सौ योजन परिमाण वानर द्वीप उनके रहने को दिया। तिनों के संतानों में से चित्र-विचित्र विद्याधरों ने विद्या से वंदर का रूप वनाया। तव वानर द्वीप के रहने से और वानर का रूप वनाने से वानरवंशी प्रसिद्ध हुये। तिनों ही की औलाद में वाली और सुग्रीवादिक हुये हैं।

तथा श्रेयांसनाथ के समय में पहिला त्रिपृष्ट नामा वासुदेव हरिवंश में हुआ, तिसकी उत्पत्ति ऐसे है—पोतनपुर नगर में हरिवंशी जितशत्रु नामा राजा हुआ, तिसकी धारणी नामा रानी थी। तिसका अचल नामा पुत्र और मृगावती नामा वेटी थी, सो अत्यंत रूपवती और यौवनवती थी।

त्रिपृष्ट वासुदेव

उसको देख के उसके पिता जितशत्रु ने अपनी रानी बना लीनी। तब लोगों ने जितशत्रु राजा का नाम प्रजापति रक्खा, अर्थात् अपनी बेटी का पति ऐसा नाम रक्खा। तब ही से वेदों में यह श्रुति लिखी गई—

"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्येतामृश्योभूत्वारोहितं भूतामभ्यत् तस्य यद्रेतसः प्रथमंमुददीप्यत तदसावादित्योभवत्।"

इस का भावार्थ यह है कि प्रजापति ब्रह्मा अपनी बेटी से विषय सेवने को प्राप्त हुआ। हमारे जैनमतवालों की तो इस अर्थ से कुछ हानि नहीं; परन्तु जिन लोगों ने ब्रह्माजी को वेदकर्त्ता, हिरण्यगर्भ के नाम से ईश्वर माना है; और इस कथा को पुराणों में लिखा है, उनका फजीता तो जरूर दूसरे मतवाले करेंगे। इस में हम क्या करें? क्योंकि जो पुरुष अपने हाथों से ही अपना मुंह काला करे, तब उसको देखनेवाले क्योंकर हंसी न करेंगे? यद्यपि मीमांसा के वार्त्तिककार कुमारिल ने इस श्रुति के अर्थ के कलंक दूर करने को मनमानी कल्पना करी है। तथा इस काल में दयानन्द सरस्वती ने भी वेदश्रुतियों के कलंक दूर करने को अपने बनाए भाष्य में ख़ूब अर्थों के जोड़ तोड़ लगाये हैं, परन्तु जो पुराणवाले ने कथानक लिखा है,

तिसको क्योंकर छिपा सकेंगे ? इस में यह मसल मशहूर है कि, बूंद की बात तो विलायत गई, अब क्यों घडे रुड़हाते हो । अच्छा हमारे मत में तो वेदश्रुति और ब्रह्मा(प्रजापति) का अर्थ यथार्थ ही करा है । अरु जब त्रिपृष्ट और अचल दोनों यौवनवंत हुये, तब तिनों ने त्रिखण्ड के राजा अश्वग्रीव को मार के तीन खण्ड का राज्य करा ।

तिस पीछे चंपापुरी का इक्ष्वाकुवंशी वसुपूज्य नामा राजा हुआ । तिसकी जया नामा रानी, तिनोंका पुत्र श्री वासुपूज्यनाथ नामा बारहवां तीर्थंकर हुआ । तिनोंके बारे दूसरा द्विपृष्ट वासुदेव और अचल बलदेव हुये । और इन का प्रतिशत्रु रावण समान तारक नामा दूसरा प्रतिवासुदेव हुआ । इन सर्व वासुदेव और चक्रवर्त्ती आदिकों का सम्पूर्ण वर्णन त्रेसठशलाकापुरुष चरित्र से जान लेना ।

तिस पीछे कंपिलपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशी कृतवर्मा नामा राजा हुआ । तिस की श्यामा नामा रानी, तिनोंका पुत्र श्री विमलनाथ नामा तेरहवां तीर्थंकर हुआ । तिनोंके बारे तीसरा स्वयंभू वासुदेव और भद्रनामा बलदेव तथा मेरक नामा प्रतिवासुदेव हुये ।

तिस पीछे अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी सिंहसेन राजा हुआ, तिसकी सुयशा रानी, तिनोंका पुत्र श्रीअनंतनाथ नामा चौदहवां तीर्थंकर हुआ । तिनके बारे चौथा पुरुषोत्तम नामा वासुदेव और सुप्रभ नामा बलदेव तथा मधुकैटभ नामा

प्रतिवासुदेव हुये ।

तिस पीछे रत्नपुरी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी भानु नामा राजा हुआ, तिसकी सुव्रता नामा रानी, तिनों का पुत्र श्री धर्मनाथ नामा पंदरहवां तीर्थंकर हुआ । तिनके वारे पांचमा पुरुषसिंह नामा वासुदेव और सुदर्शन नामा वलदेव तथा निशुंभ नामा प्रतिवासुदेव हुआ । यहां तक पांच वासुदेव हुये, सो पांचों ही अरिहंतों के सेवक अर्थात् जैनधर्मी हुये ।

तिस पीछे पंदरहवें धर्मनाथ और सोलहवें श्रीशांतिनाथ-जी के अंतर में तीसरा मघवा नामा चक्रवर्ती और चौथा सनत्कुमार नामा चक्रवर्ती हुये ।

तिस पीछे हस्तिनापुरी नगरी में कुरुवंशी विश्वसेन राजा हुआ, तिसकी अचिरा रानी, तिनका पुत्र श्रीशांति-नाथ नामा हुवा । सो पहिले गृहवास में तो पांचमा चक्रवर्ती था, पीछे दीक्षा लेके केवली होकर सोलहवां तीर्थंकर हुआ ।

तिस पीछे हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी सूरनामा राजा-हुआ, तिसकी श्री रानी, तिनोंका पुत्र श्रीकुंथुनाथ हुआ । सो प्रथम गृहस्थावस्था में छट्ठा चक्रवर्त्ती था, अरु दीक्षा लिये पीछे सतरहवां तीर्थंकर हुआ ।

तिस पीछे हस्तिनापुर नगरी में कुरुवंशी सुदर्शन नामा राजा हुआ, तिसकी देवी रानी, तिनोंका पुत्र श्रीअरनाथ हुआ । सो गृहस्थावास में तो सातवां चक्रवर्त्ती था और दीक्षा लिये पीछे अठारहवां तीर्थंकर हुआ ।

अठारहवें और उन्नीसवें तीर्थंकर के अन्तर में आठवां कुरुवंशी सुभूम नामा चक्रवर्त्ती हुआ। इस सुभूम के वक्त में ही परशुराम हुआ। इन दोनों का संबन्ध जैनमत के शास्त्रों में जेसे लिखा है, तैसे मैं भी यहां लिख देता हूं।

सुभूम चक्रवर्त्ती और परशुराम

यह कथा योगशास्त्र में ऐसे लिखी हैं कि, वसंतपुर नामा नगर में उच्छिन्नवंश नामा अर्थात् जिसका कोई भी संबन्धी नहीं था, ऐसा अग्निक नामा एक लड़का था। सो अग्निक एकदा किसी साथवारा के साथ देशांतर को गया। मार्ग में साथ से भूल के जंगल में एक तापस के आश्रम में गया। तब कुलपति तापस ने तिसको अपना पुत्र बना के रख लिया। पीछे तहां अग्निक ने बड़ा भारी घोर तप करा और बड़ा तेजस्वी हुआ। जगत् में जमदग्नि तापस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अवसर में एक जैनमती विश्वानर नामा देव और दूसरा तापसों का भक्त ध्वनन्तरी नामा देव, यह दोनों देव परस्पर विवाद करने लगे। तिस में विश्वानर तो ऐसा कहने लगा कि, श्री अर्हंत का कहा धर्म प्रामाणिक है, और दूसरा कहने लगा कि तापसों का धर्म सच्चा है। तब विश्वानर ने कहा कि दोनों धर्म के गुरुओं की परीक्षा कर लो। तिस में भी अर्हंत धर्म के तो जघन्य गुरु की और तापस धर्म के उत्कृष्ट गुरु की परीक्षा—धैर्य देख लो। तब मिथिला नगरी का

पद्मरथ राजा नया ही जिनधर्मी हो कर भावयति हुआ। सो चम्पानगरी में गुरुओं के पास दीक्षा लेने वास्ते जाता था, तिस को पंथ में तिन दोनों देवताओंने देखा तब रस्ते में दुःख देनेवाले बहुत कंटे, कंकरे बना दिये, तथा रस्ते के सिवाय दूसरे स्थान में बहुत कीड़े आदि जीव हर जगे बना दिये। तब राजा भावयति के भावों से कमल समान कोमल, नंगे पगों से उन कांटे, कंकरों के ऊपर चला जाता है, पगों में से रुधिर की ततीरियां छूटती हैं, तो भी जीवों संयुक्त भूमि ऊपर नहीं चलता है। तब देवताओं ने गीत नाटक का बड़ा प्रारंभ करा, तो भी वो क्षोभायमान न हुआ। तब दोनों देवता सिद्धपुत्रों का रूप कर के राजा को कहने लगे, हे महाभाग! तेरी आयु अभी बहुत है, तू स्वच्छन्द भोगविलास कर, क्योंकि यौवन में तप करना ठीक नही, इस वास्ते जब तू वृद्ध हो जावेगा तब दीक्षा ले लीजो। यह बात सुन कर राजा कहने लगा कि, यदि मेरी बहुत आयु है, तब मैं बहुत धर्म करुंगा, क्योंकि जितना ऊंडा पानी होता है, तितनी ही कमल की नालि भी बढ जाती है। और यौवन में इंद्रियों को जीतना है, सोई असली तप होता हैं। तब तिन देवताओं ने जाना कि यह तो कदापि चलायमान न होगा।

पीछे वो दोनों देवता मिल कर सर्व से उत्कृष्ट जमदग्नि तापस के पास परीक्षा करने को गये। तब तिनोंने जिसकी

वडवृक्ष की जटा की तरे तो धरती से जटा लग रही है, और पगों में सर्पों की वंवियां वन गई हैं, ऐसे हाल में जमदग्नि को देखा। तव उन दोनों देवताओं ने देवमाया से जमदग्नि की दाढी में घोंसला बना कर, चिडा और चिडी वनकर घोंसले में दोनों बैठ गये। पीछे चिड़ा चिड़ी से कहने लगा कि, मैं हिमवंत पर्वत में जाऊंगा। तब चिड़ी कहने लगी कि, मैं तुझे कभी न जाने दूंगा। क्योंकि तू तहां जाके किसी ओर चिड़ी से आसक्त हो जावेगा। फिर मेरा क्या हाल होवेगा? तव चिड़ा कहने लगा कि, जो मैं फिर कर न आऊं, तो मुझे गोघात का पाप लगे। तव चिडी कहने लगी कि मैं तेरी शपथ को नहीं मानती। हां, जो मैं सपथ—सौगंद कहूं वो तू करे, तो मैं जाने दूंगी। तव चिडेने कहा कि तू कह दे। तव चिड़ी कहने लगी कि, जो तू किसी चिड़ी से यारी करे तो इस जमदग्नि का जो पाप है, सो तुझ को लगे। चिड़ा चिड़ी का ऐसा वचन सुन के जमदग्नि को क्रोध उत्पन्न हुआ। तव दोनों हाथों से चिड़ा चिड़ी को पकड़ लिया, और कहा कि मैं तो वड़ा दुष्कर तप जो पापों का नाश करनेवाला है, सो कर रहा हूं तो फिर मेरे में ऐसा कौन सा पाप शेष रह गया है कि, जिस से तुम मुझे पापी वतलाते हो? तव चिड़ा जमदग्नि को कहता है, हे ऋषि! तू हमारे ऊपर कोप मत कर, क्योंकि हमने झूठ नहीं कहा है। और जो तेरे को अपने तप का घमण्ड है, सो तप

तेरा निष्फल है। क्योंकि तुमारे शास्त्रों में लिखा है— "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" अर्थात् पुत्र रहित की गति नहीं। यह तुमने शास्त्र में नहीं सुना ? जिस की शुभगति न हुई तिससे अधिक और पापी कौन है ? तब जमदग्नि ने सोचा कि हमारे शास्त्र में तो जैसे चिड़ेने कहा है, तैसे ही है। तब मन में विचारा कि, जब मेरे स्त्री और पुत्र नहीं, तब मेरा सर्व तप ऐसा है, जैसा पानी के प्रवाह में मूतना। पीछे जमदग्नि के मन में स्त्री की चाहना उत्पन्न हुई। यह देख के धन्वंतरी देवता श्रावक जैनधर्मी हो गया। अरु वहां से दोनों देवता अदृश्य हो गये और जमदग्नि तहां से उठ के नेमिक कोष्टक नगर में पहुंचा।

तिस नगर में जितशत्रु राजा था, तिसके बहुत बेटियां थीं। तिस राजा पासों एक कन्या मांगूं, ऐसा विचार किया। राजा भी आसन से उठ के और हाथ जोड़ के कहता भया कि, आप किस वास्ते आये हो ? और मुझे आदेश दो कि क्या करूं ? तब जमदग्निने कहा कि, मैं तेरे पास तेरी एक कन्या मांगने आया हूं। तब राजाने कहा कि मेरी सौ पुत्री हैं, तिन में से जौनसी तुम को वांछे सो तुम ले लो। तब जमदग्नि कन्याओं के महल में गया, और कहने लगा कि तुम में से जिसने मेरी धर्मपत्नी बनना है, सो कह देवे कि मैं तुमारी स्त्री बनूंगी। तब तिन राजपुत्रियोंने जटावाला और पलित–धौले केशोंवाला, दुर्बल और भीख

मांग के खानेवाला जब देखा और उसका पूर्वोक्त वचन सुना, तब सबने थूका और कहा कि ऐसी बात कहते हुये तुझ को लज्जा नहीं आती है ! यह बात सुन कर जमदग्नि को बड़ा क्रोध चढ़ा, तब विद्या के प्रभाव से उन राजपुत्रियों को कुबड़ी और महा कुरूपवती बना दिया। अरु आप तहां से निकल के महलों के अंगन में आया। तहां राजा की एक छोटी बेटी रेणुपुञ्ज—मट्टी के ढेर में खेल रही थी। तिसको हाथ में बिजोरे का फल ले कर कहने लगा, हे रेणुका ! तू मुझ को वांछती है ? तब तिस बालिकाने बिजोरे को देख के हाथ पसारा। तब मुनिने कहा कि मुझ को यह वांछती है, ऐसे कहकर मुनिने उसको ले लिया। पीछे राजाने कितनीक गौआं और धन देकर लड़की का विवाह उसके साथ विधि से कर दिया। तब जमदग्निने सालियों के स्नेह से सर्व कन्याओं को अच्छा कर दिया और तिस रेणुका भार्या को लेकर अपने आश्रम में आया।

पीछे तिस मुग्धा, मधुर आकृति, हरिणी समान लोलाक्षी को प्रेम से वृद्धि करता भया। जमदग्नि के अंगुलियों ऊपर दिन गिनते हुए जब वो रेणुका सुन्दर यौवन—काम के लीला वन को प्राप्त हुई, तब जमदग्नि ने अग्नि की साक्षी करके रेणुका से फिर विवाह करा। जब रेणुका ऋतुकाल को प्राप्त हुई, तब जमदग्नि कहने लगा कि मैं तेरे वास्ते चरु साधता हूं। [चरु होम में डालने की वस्तुओं को कहते हैं] जिस से

सर्व ब्राह्मणों में उत्तम प्रतापवाला तेरे को पुत्र होवेगा। तब रेणुकाने कहा कि हस्तिनापुर में कुरुवंशी अनंतवीर्य राजा को मेरी बहिन व्याही है। तिसके वास्ते तू क्षत्रिय चरु भी साध, अर्थात् मन्त्रों से संस्कार करके सिद्ध कर। पीछे जमदग्नि ने ब्राह्मण चरु तो अपनी भार्या वास्ते अरु क्षत्रिय चरु तिस भार्या की बहिन वास्ते सिद्ध करा। तब रेणुकाने मन में विचार करा कि, मैं जैसे अटवी में हरिणी की तरे रहती हूं, तो मेरा पुत्र भी वैसे ही जंगलों में रहेगा; इस वास्ते मैं क्षत्रिय चरु भक्षण करूं, जिससे मेरा पुत्र राजा हो के इस जंगल के वास से छूट जावे। ऐसा विचार के क्षत्रिय चरु खा लिया, और ब्राह्मण चरु अपनी बहिन को भक्षण कराया। तब तिन दोनों के दो पुत्र हुये। तिस में रेणुका के तो राम नामक पुत्र हुआ, और रेणुका की बहिन के कृतवीर्य पुत्र हुआ। क्रम से दोनों बडे हुए, राम तो आश्रम में पला, और कृतवीर्य राजमहलों में पला। राम तो क्षात्रतेज अर्थात् क्षत्रियपने की तेजी दिखाने लगा।

अन्यदा एक विद्याधर अतिसार रोगवाला तिस आश्रम में आ गया। अतिसार के प्रभाव से आकाशगामिनी विद्या भूल गया। तब तिस मांदे विद्याधर की रामने औषध पथ्यादि करके भाई की तरें सेवा करी। पीछे तिस विद्याधरने तुष्टमान हो के राम को परशुविद्या दीनी। तब

राम भी सरकड़े के वन में जाकर तिस विद्या को सिद्ध करता भया। तिस विद्या के प्रभाव से राम परशुराम नाम करके जगत् में प्रसिद्ध हुआ।

एकदा अपने जमदग्नि पति को पूछ के रेणुका वड़ी उत्कंठा से अपनी वहिन को मिलने वास्ते हस्तिनापुर में गई। तहां रेणुका को अपनी साली जान कर अनंतवीर्य राजा हंसी मश्करी करने लगा, और रेणुका का बहुत सुन्दर रूप देख कर कामातुर हो उसके साथ निरंकुश हो कर विषय सेवन करने लगा। तब अनंतवीर्य के भोग से रेणुका को एक पुत्र जन्मा। पीछे जमदग्नि पुत्र सहित रेणुका को आश्रम में लाया। क्योंकि पुरुष जब स्त्रियों में लुब्ध हो जाता है, तब वहुलता से कोई भी दोष नहीं देखता है। जब परशुरामने अपनी माता को पुत्र सहित देखा, तब क्रोध में आकर परशु से अपनी माता का और तिस लड़के का शिर काट डाला। जब यह वृत्तांत अनन्तवीर्य राजाने सुना, तब क्रोध में भर कर और फौज लेकर जमदग्नि का आश्रम जला फूंक, तोड़ फोड़ गेरा, और सर्व तापसों को त्रासमान करा। तब तापसोंने दौड़ते हुये जो रौला करा, तिस को परशुरामने सुना और सारा वृत्तांत सुन के परशु ले के राजा की सेना ऊपर दौड़ा। परशुरामने परशु से राजा और राजा की सेना सुभटों को काष्ठ की तरे फाड़ के गेर दिया। आप पीछे आश्रम

में चला गया। उधर प्रधान राजपुरुषोंने अनंतवीर्य के बेटे कृतवीर्य को राजसिंहासन ऊपर बिठाया, परन्तु वो उमर में छोटा था। एक दिन अपनी माता के मुख से अपने पिता के मरने का वृत्तांत सुन के सर्प के डसे हुये की तरे आ कर जमदग्नि को मार दिया। तब परशुराम अपने पिता का वध देख के क्रोध में जाज्वल्यमान हो कर हस्तिनापुर में आके कृतवीर्य को मार के आप राजसिंहासन ऊपर बैठ गया। क्योंकि राज्य जो है, सो पराक्रम के अधीन है। तब कृतवीर्य की तारा नामा गर्भवती रानी परशुराम के भय से दौड़ कर किसी जंगल में तापसों के आश्रम में गई। तब तिन तापसों ने दया करके तिस रानी को अपने मठ के भौंहरे में निधान की तरे छिपा के रक्खा। तहां तिस रानी के चौदह स्वप्न सूचित पुत्र जन्मा। तिसका नाम तिसकी माता ने सुभूम रक्खा। क्षत्रिय जो जहां मिलता है, तहां ही परशुराम का कुहाड़ा जाज्वल्यमान हो जाता है। तब परशुराम परशु से क्षत्रियों का शिर काट देता है।

अन्यदा परशुराम जहां छिपी हुई रानी पुत्र सहित रहती थी, तिस आश्रम में आया। तहां परशुराम का परशु जाज्वल्यमान हुआ, तब परशुराम ने तापसों को पूछा, क्या यहां कोई क्षत्रिय है? तब तापसोंने कहा कि हम गृहस्थावास में क्षत्रिय थे। तब परशुरामने भी ऋषियों को छोड़ के सात वार निःक्षत्रिय पृथ्वी करी। अर्थात् सात वार चढ़ाई

करके अपनी जान में कोई भी क्षत्रिय बाकी नहीं छोडा। जैसे अग्नि पर्वत ऊपर घास को नहीं छोड़ती हैं, तैसे परशुरामने भी जो जो क्षत्रिय राजादि प्रसिद्ध थे, तिनों को मार के तिनों की दाढों से एक थाल भरा। और परशुराम ने छाना निमित्तिये को पूछा कि मेरा मरना किस के हाथ से होगा ? तब निमित्तियेने कहा कि, जो तूने दाढों से थाल भरा हैं, सो थाल जिसके देखने से दाढों की क्षीर बन जायेगी, और इस सिंहासन ऊपर बैठ के जो तिस क्षीर को खायगा, तिसके हाथ से तेरा मरण होवेगा। यह सुन कर परशुरामने दानशाला बनाई, और दानशाला के आगे एक सिंहासन रचाया, तिस ऊपर क्षत्रियों की दाढोंवाला थाल रखवाया।

अब इधर तापसों के आश्रम में प्रतिदिन तापस सुभूम बालक को लाड लड़ाते, खिलाते, अंगन के वृक्ष की तरे वृद्धि करते हुये रहते हैं। इस अवसर में मेघ नामा विद्याधर किसी निमित्तिये को पूछने लगा कि मेरी जो पद्मश्री कन्या है, तिसका वर कौन होवेगा ? तब तिस निमित्तियेने सुभूम वर बतलाया, और उसका सर्व वृत्तांत भी सुना दिया। तब मेघ विद्याधरने अपनी बेटी सुभूम को व्याही और तिसका ही सेवक बन गया।

एकदा कूप के मेंडक की तरे और कहीं न जाने से सुभूम अपनी माता को पूछने लगा कि, हे माता ! इतना ही लोक

है कि, जिस में हम रहते हैं, क्या इस से अधिक भी है ? तब माता कहने लगी, हे पुत्र ! लोक तो अनंत है। तिस में मक्खी के पग जितनी जगा में यह आश्रम है। इस लोक में बहुत प्रसिद्ध हस्तिनापुर नगर है। तिस नगरी का राजा तेरा पिता कृतवीर्य था; परन्तु परशुराम तेरे पिता को मार के हस्तिनापुर का राजा बन गया है। और तिस परशुराम- ने निःक्षत्रिय पृथ्वी कर दी है। तिस परशुराम के भय से हम यहां आश्रम में छिपे हुये बैठे हैं। अपनी माता का यह कहना सुन के सुभूम भौम की तरे अर्थात् मंगल के तारे की तरे लाल हुआ, और तहां से निकल के सीधा हस्तिना- पुर में आया। तब लोगोंने पूछा कि तू ऐसा अत्यद्भुत सुंदर किस का बेटा है ? तब कहा कि मैं क्षत्रिय का पुत्र हूं। तब लोगोंने कहा कि तू यहां जलती आग में क्यों आया ? तब तिसने कहा कि मैं परशुराम को मारने वास्ते आया हूं। तब लोगोंने बालक जान के उसकी बात ऊपर कुछ ख्याल न करा। तब सुभूम सिंह की तरे उस पूर्वोक्त सिंहा- सन ऊपर जा के बैठा, और तहां देवता के विनियोग से दाढों की क्षीर बन गई। तिसको सुभूम खाने लग गया। तब तहां जो रखवाले ब्राह्मण थे, वे सर्व सुभूम को मारने को उठे। तब मेघनाद विद्याधर ने सब ब्राह्मणों को मार दिया। तब कांपता हुआ और होठों को चबाता हुआ, क्रोध में भरा हुआ, ऐसा परशुराम कोहाड़ा(परशु) लेके सुभूम

को मारने आया। परशुरामने सुभूम के मारने को परशु चलाया वो परशु सुभूम तक पहुंचने से पहिले ही आग के अंगारे की तरे बुझ गया। विद्या देवी जो थी, सो सुभूम के पुण्य प्रभाव से परशु को छोड़ के भाग गई। तब सुभूमने शस्त्र के अभाव से थाल ही उठा के परशुराम को मारा, तिस थाल का चक्र बन गया, तिस चक्रने परशुराम का मस्तक काट गेरा। तिस चक्र से ही सुभूम आठवां चक्रवर्त्ती हुआ।

इस कथा पर लोगोंने जो वह कथा बना रक्खी हैं, सो ठीक नहीं है। सो कथा कहते हैं। जैसे कि परशुराम परशु से क्षत्रियों को काटता हुआ रामचन्द्रजी के पास पहुंचा, और परशु से रामचन्द्रजी को मारने लगा। तब रामचन्द्रजी-ने नरमाई से पगचंपी करके उसका तेज हर लिया; तब परशुराम का परशु हाथ से गिर पड़ा और फिर न उठा सका। यह श्रीरामचन्द्र नहीं था, परन्तु यह तो सुभूम नामा आठवां चक्रवर्त्ती था, जिसने परशुराम का काम तमाम किया। इस कथा के बनानेवालोंने परशुराम की हीनता दूर करने को श्रीरामचन्द्रजी का सम्बन्ध लिख दिया है। है असल में सुभूम चक्रवर्त्ती। लिखनेवालोंने यह भी सोचा होगा कि एक अवतारने दूसरे अवतार का अंश खींच लिया, इस में परशुराम की लघुता न होवेगी। परन्तु यह नहीं सोचा होगा कि दोनों अवतार अज्ञानी बन

जायेंगे । जब परशुराम आप ही अंश को कोहाडे से काटने लगा, तब तिस से और अधिक अज्ञानी कौन बनेगा ? जब सुभूम चक्रवर्त्ती आठमा हुआ, तब जैसे परशुरामने सात वार निःक्षत्रिया पृथ्वी करी थी, तैसे सुभूमने पिछले वैर से इक्कीस वार निर्ब्राह्मण पृथ्वी करी । अपनी जान में कोई भी ब्राह्मण जीता नहीं छोड़ा । इसी वास्ते इन राजाओं को ब्राह्मणोंने दैत्य, राक्षस के नाम से पुस्तकों में लिख दिया है । यह दोनों मर के अधोगति में गये ।

इस सुभूमचक्रवर्त्ती से पहिले इसी अंतरे में छठा पुरुषपुंडरीक वासुदेव तथा आनन्द नामा बलदेव और बलि नामा प्रतिवासुदेव हुये । तथा सुभूम के पीछे इस अंतरे में दत्त नामा सातमा वासुदेव तथा नंद नामा बलदेव और प्रह्लाद नामा प्रतिवासुदेव हुये ।

तिस पीछे मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशी कुम्भ राजा हुआ, तिसकी प्रभावती रानी, तिनकी पुत्री मल्लिनाथ नामा उन्नीसवां तीर्थंकर हुआ ।

तिस पीछे राजगृह नगरी में हरिवंशी सुमित्र हुआ, तिसकी पद्मावती रानी, तिनका पुत्र मुनिसुव्रत नामा वीसवां तीर्थंकर हुआ । इनों के समय में महापद्म नामा नवमा चक्रवर्ती हुआ । तिसका सम्बंध त्रेसठशलाकापुरुष–चरित्र से जान लेना; परन्तु तिसके भाई विष्णुकुमार का थोड़ा सा सम्बंध यहां लिखते हैं ।

हस्तिनापुर नगर में पद्मोत्तर नामा राजा, तिसकी ज्वाला-देवी रानी, तिनका बड़ा पुत्र विष्णुकुमार, और छोटा पुत्र महापद्म हुआ। तिस अवसर में अवंती नगरी में श्रीधर्म नामा राजा का मंत्री नमुचि [अपरनाम बल] मिथ्यादृष्टि ब्राह्मण था। इसने श्रीमुनिसुव्रत तीर्थंकर के शिष्य श्री सुव्रताचार्यके साथ अपने मत का विवाद करा, बाद में हार गया। तब रात्रि को तलवार ले के आचार्य को मारने चला, रास्ते में पग थम गये। राजाने यह बात सुन के अपने राज्य से बाहिर निकाल दिया। तब नमुचिबल तहां से चल के हस्तिनापुर में युवराज महापद्म की सेवा करने लगा। किसी काम से तुष्टमान हो के महापद्म ने तिसको यथेच्छा वर दिया। पीछे पद्मोत्तर राजा और विष्णुकुमार दोनों-ने सुव्रत गुरु के पास दीक्षा ले लीनी। पद्मोत्तर मोक्ष गया और विष्णुकुमार तप के प्रभाव से महालब्धिमान् हुआ।

विष्णुमुनि तथा नमुचिबल

इस अवसर में सुव्रताचार्य फिर हस्तिनापुर में आये। तब नमुचिबलने विचारा कि यह वैर लेने का अवसर है। तब महापद्म चक्रवर्त्ती से विनति करी कि मैंने जैसे वेदों में कहा है तैसे एक महायज्ञ करना है, इस वास्ते मैं पूर्वोक्त वर मांगना चाहता हूं। तब महापद्मने कहा कि मांग। तब नमुचि-ने कहा कि मुझे कितनेक दिन तक अपना सर्वराज दे दो। यह सुनकर महापद्मने उसके कहे दिन तक सर्वराज

उसे दे कर आप अपने अंतेउरों में चला गया। तब नमुचिबल-ने नगर से निकल के यज्ञ वास्ते यज्ञपाड़ा बनाया। उसमें दीक्षा ले के आसन ऊपर बैठा। तब जैन मत के साधु छोड़ के दूसरे सर्व पाखण्डी भिक्षु और गृहस्थ भेटना ले के आये। भेट दे के सर्वने नमस्कार करा। तब नमुचिबलने पूछा कि जो नहीं आया होवे, ऐसा तो कोई रहा नहीं? तब लोगों-ने कहा कि जैनमती सुव्रताचार्य वर्ज के सर्व दर्शनी आ गये हैं। तब नमुचिबलने यह छिद्र प्रगट करके और क्रोध में भर के सिपाही बुलाने को भेजे। और कहला भेजा कि, राजा चाहे कैसा ही हो, तो भी सर्व को मानने योग्य है, उसमें भी साधुओं को तो विशेष करके मानना चाहिये। क्योंकि राजा से उपरांत ऐसे अनाथ लिंगियों की रक्षा करनेवाला कौन है? तथा मेरा तुम कुछ करने को समर्थ नही, और बड़े अभिमानी हो तथा हमारे धर्म के निंदक हो, इस वास्ते मेरे राज से बाहिर हो जाओ। जो रहेगा, उसको मैं मार डालूंगा, इसमें मुझे पाप भी नहीं होगा।

तब गुरुने आकर मीठे वचन से कहा कि, हमारा यह कल्प नहीं कि गृहस्थ के कार्य में जाना। परन्तु हम अभि-मान से ही नहीं आये, ऐसा मत समझना, क्योंकि साधु-समभाव से अपने धर्मकृत्य में लगे रहते हैं। तब नमुचि-बल अति शांतवृत्तिवाले मुनियों को कठोर हो कर कहने

लगा कि, सात दिन के अंदर मेरे राज से बाहिर हो जाओ। जो रहेगा, सो मारा जायगा। यह सुन के सब साधु अपने तपोवन में आये, और सोचने लगे कि अब क्या उपाय करें? तब एक साधु कहने लगा कि महापद्म चक्रवर्त्ती का बड़ा भाई विष्णुमुनि लब्धिपात्र है, अर्थात् बड़ी शक्तिवाला मेरु पर्वत ऊपर है, तिस के कहने से यह नमुचिबल प्रशांत हो जावेगा। इस वास्ते कोई चारण साधु उसको यहां बुला लावे तो ठीक है। तब एक साधु बोला कि मेरी वहां मेरु पर्वत पर जाने की तो शक्ति है, परन्तु पीछे आने की शक्ति नहीं है। तब गुरु कहने लगे कि, तुम को पीछे विष्णुमुनि ही यहां ले आवेंगे, तुम जाओ। तब वो साधु लब्धि से एक क्षण में तहां गया, और सर्व वृत्तांत सुनाया। तब विष्णुमुनिने उस साधु को भी साथ ले कर तत्काल गुरु के पास आ के वंदना करी। पीछे गुरु की आज्ञा से अकेला ही राजसभा में आया। तब नमुचिबल के बिना सभा के और सब लोकोंने उठके वंदना करी।

तब विष्णुमुनिने धर्मोपदेश देकर कहा कि निःसंगी साधुओं से वैर करना महा नरक का कारण है, क्योंकि साधु किसी का कुछ बिगाड़ते नहीं। और जगत् तो बड़े पुरुषों को नमस्कार करता है। किसी शास्त्र में मुनि निंदे नहीं हैं। तो फिर यह आश्चर्य है कि, तुच्छ, क्षणिक

राज के पाने से अन्धे, अधम पुरुष अपने को साधुओं से नमस्कार कराना चाहते हैं। और नमुचिबल को कहा कि तू इस बूरे कामको जाने दे, जिस से साधु सब सुख से रहें। और तू क्यों मत्सर में मगन हो के अपना आप विगाड़ा चाहता है। साधु चौमासे में विहार करते नहीं क्योंकि चौमासे में जीवों की बहुत उत्पत्ति हो जाती है। और सर्व जगे तेरा ही राज्य है, तो सर्व साधु सात दिन में कहां चले जाएं? तब नमुचिबल कुकाष्ठ की तरे होकर बोला कि, बहुत कहने से क्या है? पांच दिन से उपरांत जो कोई तुमारा साधु मेरे राज्य में रहेगा, तो मैं उसको चौर की तरे वद्ध करूंगा। और तू हमारे मानने योग्य है, इस वास्ते तू जाकर साधुओं को कह दे कि, जो जीवना चाहते हो, तो नमुचि के राज्य से वाहिर चले जाओ क्योंकि राज्य ब्राह्मण का है। और तेरे मान के रखने वास्ते तीन कदम अर्थात् तीन डग जगा देता हूं। तिस से वाहिर जिस साधु को देखूंगा, तिस का शिर छेद करूंगा। तब विष्णुमुनिने विचारा कि यह साम अर्थात् मीठे वचनों के योग्य नहीं, यह तो वड़ा पापी साधुओं का घातक है, इस की जड़ ही उखाड़नी चाहीये। तब विष्णुमुनिने कोप में आ कर वैक्रिय लब्धि से लाख योजन की देह बनाई, एक डग से तो भरतक्षेत्रादि मापा और दूसरी डग पूर्वापर समुद्र ऊपर धरी और तीसरी डग नमुचिबल

के शिर ऊपर रख के सिंहासन से हेठ गेर के धरती में घुसेड़ दिया। नमुचि मर के नरक में पहुंच गया। और विष्णुमुनि को देवताओंने कानों में मधुर गीत सुना कर शांत करा। तब शरीर को संकोच के गुरां पास जा कर आलोचना करी, पाप का प्रायश्चित्त ले कर विहार कर गया। जप तप कर संयम पाल के मोक्ष गया।

इस कथा से ऐसा मालूम होता है कि ब्राह्मणोंने पुराणों में जो लिखा है कि, विष्णु भगवान् ने वामन रूप करके यज्ञ करते बलिराजा को छला, सो यही विष्णुमुनि अरु नमुचि की कथा को बिगाड़ के अपने मत के अनुसार और की और कथा बना लीनी है। क्योंकि श्रीभगवान् को क्या गरज थी कि, जो धर्मी बलिराजा यज्ञ करनेवाले के साथ छल करता? यह कहना तो केवल बुद्धिहीनों का काम कि, भगवान् ने अपनी बेटी तथा परस्त्री से विषय सेवन करा, तथा झूठ बोला, औरों से बुलाया, चोरी करी, औरों से करायी, भगवान्ने कुशील सेवन करा, छल से मारा, कपट करा। क्योंकि ये काम तो नीच जनों के करने के हैं, श्री वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर यह काम कभी भी नहीं करता। और करनेवाले को परमेश्वर भूल के भी कभी न मानना चाहिये।

वीसमे और इकीसमे तीर्थंकर के अन्तर में श्रीअयोध्या नगरी के दशरथ राजा की कौशल्या रानी का पद्म—श्रीराम-

चन्द्र नामा पुत्र हुआ। सो आठमा बलदेव और दशरथ राजा की सुमित्रा रानी का पुत्र नारायण अपरनाम लक्ष्मण, सो आठमा वासुदेव हुआ। जिनों का प्रतिशत्रु रावण प्रतिवासुदेव लंका का राजा हुआ, सो जगत् में प्रसिद्ध है। इन तीनों का यथार्थ स्वरूप पद्मचरित्र से जान लेना।

रावण और उसके दश मुख

परन्तु लौकिक रामायण में जो रावण के दश शिर लिखे हैं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि मनुष्य के स्वाभाविक दश सिर कदापि नहीं हो सकते हैं। पद्मचरित्र प्रथमानुयोग शास्त्र में लिखा है कि, रावण के वडे वडेरों की परंपरा से एक वड़ा नव माणिक का हार चला आता था, सो रावण-ने बालावस्था से अपने गले में पहिर लिया था। और वे नौ ही माणिक बहुत वडे थे, सो चार माणिक एक पासे स्कंध के ऊपर हार में जडे हुये थे। और पांच माणिक दूसरे पासे जडे हुए थे। दोनों स्कंधो ऊपर नव माणिकों में नवमुख दीखते थे, और एक रावण का असली मुख था। इस वास्ते दश मुखवाला रावण कहा जाता है। तथा रावण के समय से ही हिमालय के पहाड़ में बद्रीनाथ का तीर्थ उत्पन्न हुआ है, तिसकी उत्पत्ति जैनमत के शास्त्रों में ऐसे लिखी है कि, यह असल में पार्श्वनाथ की मूर्त्ति थी, तिसका ही नाम बद्रीनाथ रक्खा गया है। इसका पूरा स्वरूप गद्यबंध पार्श्व-पुराण से जान लेना।

तिस पीछे मिथिलानगरी में इक्ष्वाकुवंशी विजयसेन राजा की विप्रा रानी का पुत्र श्रीनमिनाथ नामा इक्कीसमा तीर्थंकर हुआ। तिनों के वारे हरिषेण नामा दसमा चक्रवर्त्ती हुआ है। तथा इस इक्कीसमे और वावीसमे तीर्थंकर के अंतर में ग्यारहवां जय नामा चक्रवर्त्ती हुआ।

श्रीकृष्ण और बलभद्र

तिस पीछे सौरीपुर नगर में हरिवंशी समुद्रविजय राजा हुआ, तिसकी शिवादेवी रानी, तिनका पुत्र श्रीअरिष्टनेमि नामा वावीसमा तीर्थंकर हुआ। तिनोंके वारे तिनोंके चचे के वेटे नवमे कृष्णवासुदेव और राम वलदेव-बलभद्र वलदेव हुए। इनका प्रतिशत्रु जरासिंध प्रतिवासुदेव हुआ। तिन में कृष्ण अरु वलभद्र तो जगत् में वहुत प्रसिद्ध हैं। परन्तु जो लोक श्रीकृष्ण वासुदेव को साक्षात् ईश्वर तथा ईश्वर का अवतार, जगत् का कर्त्ता मानते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि यह वात कृष्ण वासुदेव के जीते हुये नहीं हुई। किन्तु उनके मरे पीछे लोक कृष्ण वासुदेव को अवतार मानने लगे हैं। तिसका हेतु त्रेसठशलाकापुरुषचरित्र में ऐसे लिखा है—

जब कृष्ण वासुदेव ने कुसम्वी वन में शरीर छोड़ा, तव काल करके वालुप्रभा पृथ्वी—पाताल में गये। और वलभद्रजी एक सौ वर्ष जैनदीक्षा पाल के पांचमे ब्रह्मदेवलोक में गये। वहां अवधिज्ञान से अपने भाई श्रीकृष्ण को पाताल में

तीसरी पृथ्वी में देखा। तब भाई के स्नेह से वैक्रिय शरीर बना कर श्रीकृष्ण के पास पहुंचा और श्री कृष्ण से आलिंगन करके कहा कि, मैं बलभद्र नामा तेरे पिछले जन्म का भाई हूं, मैं काल करके पांचवे ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुआ हूं, और तेरे स्नेह से यहां तेरे पास मिलने को आया हूं, सो मैं तेरे सुख वास्ते क्या काम करूं? इतना कह कर जब बलभद्रजीने अपने हाथों पर कृष्णजी को लिया, तब कृष्ण का शरीर पारे की तरें हाथ से झर के भूमि ऊपर गिर पड़ा, और मिल कर फिर सम्पूर्ण शरीर पूर्ववत् हो गया। इसी तरें प्रथम आलिंगन करने से फिर वृत्तांत कहने से और हाथों पर उठाने से कृष्णजीने भी जान लिया कि यह मेरे पूर्व भव का अति वल्लभ बलभद्र भाई है। तब कृष्णजीने संभ्रम से उठ के नमस्कार करा तब बलभद्रजीने कहा, हे भ्राता! जो श्री नेमिनाथने कहा था कि यह विषय सुख महादुःखदाई है, सो प्रत्यक्ष तुम को प्राप्त हुआ और तुझ कर्मनियंत्रित को मैं स्वर्ग में भी नहीं लेजा सकता हूं; परन्तु तेरे स्नेह से तेरे पास मैं रहा चाहता हूं। तब कृष्णने कहा कि, हे भ्राता! तेरे रहने से भी तो मैंने करे हुये कर्म का फल अवश्यमेव भोगना ही है परन्तु मुझ को इस दुःख से वो दुःख बहुत अधिक है, जो मैं द्वारिका और सकल परिवार के दग्ध हो जाने से एकला कुसंबी वन में जराकुमार के तीर से मरा, और मेरे शत्रुओं को सुख तथा मेरे मित्रों को दुःख हुआ। जगत्

में सर्व यदुवंशी वदनाम हुये । इस वास्ते हे भ्राता ! तु भरतखण्ड में जा कर चक्र, शार्ङ्ग, शंख, गदा का धरनेवाला और पीत-पीले वस्त्रवाला, तथा गरुड़ ध्वजावाला ऐसा मेरा रूप वना कर विमान में वैठ कर लोगों को दिखला। तथा नीलवस्त्र और तालध्वज अरु हल, मूसल, शस्त्र का धरनेवाला, ऐसा तू विमान में वैठ के अपना रूप सर्व जगे दिखला कर लोगों को कहो कि, राम कृष्ण दोनों हम अविनाशी पुरुष हैं, और स्वेच्छाविहारी हैं। जब लोगों को यह सत्य प्रतीत हो जावेगा, तब हमारा सर्व अपयश दूर हो जावेगा । यह श्रीकृष्णजी का कहना सर्व श्रीवलभद्रजीने स्वीकार कर लिया, और भरतखण्ड में जाकर कृष्ण वलभद्र दोनों का रूप करके सर्व जगे विमानारूढ दिखलाया । और ऐसे कहने लगा—

भो लोको ! तुम कृष्ण वलभद्र अर्थात् हमारे दोनों की सुंदर प्रतिमा वना कर ईश्वर की वुद्धि से वड़े आदर से पूजो । क्योंकि हम ही जगत् के रचनेवाले और स्थिति संहार के कर्त्ता हैं। और हम अपनी इच्छा से स्वर्ग अर्थात् वैकुंठ से यहां चले आते हैं, और पीछे स्वर्ग में अपनी इच्छा से जाते हैं। और द्वारका हमने ही रची थी तथा हमने ही उसका संहार करा है। क्योंकि जब हम वैकुण्ठ में जाने की इच्छा करते हैं, तब सर्व अपना वंश द्वारिका सहित दग्ध करके चले जाते हैं। हमारे उपरांत और कोई अन्य

कर्त्ता हर्त्ता नहीं है। तथा स्वर्गादि के भी देनेवाले हम ही । हैं ऐसा वलभद्रजी का कहना सुनने से सर्व ग्राम नगर के लोगों ने कृष्ण वलभद्रजी की प्रतिमा सर्व जगे बना कर पूजी। तव प्रतिमा पूजनेवालों को वहुत सुख धनादि से वलभद्रने आनंदित करा। इस वास्ते वहुत लोग हरि-भक्त हो गये। जव से भक्त हुये तव से पुस्तकों में कृष्णजी को पूर्णब्रह्म परमात्मा ईश्वरादि नामों से लिखा। क्या जाने जब से वलभद्रजीने कृष्ण की पूजा कराई, तव से ही लोगोंने कृष्ण को ही ईश्वरावतार माना हो! और उस समय को पांच हजार वर्ष हुये हों। जिस से लोक में कृष्ण हुये को पांच हजार वर्ष कहते हैं।

बाईसमे अरु तेईसमे तीर्थंकर के अन्तर में वारमा ब्रह्मदत्त नामा चक्रवर्त्ती हुआ। तिस पीछे वाराणसी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी अश्वसेन राजा हुआ, तिसकी वामादेवी रानी, तिनका पुत्र श्री पार्श्वनाथ नामा तेईसमा तीर्थंकर हुआ। तिस पीछे क्षत्रियकुंड नामा नगर में इक्ष्वाकुवंशी दूसरा नाम सूर्यवंशी सिद्धार्थ नामा राजा हुआ, तिस-की त्रिसला नामा रानी, तिनका पुत्र श्रीवर्द्धमान महा-वीर नामा चौवीसमा चरम तीर्थंकर हुआ। आज कल जो जैनमत भरतखण्ड में प्रचलित है, सो इन ही श्रीमहावीर का शासन अर्थात् उनही के उपदेश से चलता है। और जो जैनमत के शास्त्र हैं, वे सर्व श्रीमहावीर भगवन्त के

उपदेशानुसार ही रचे गये हैं। श्रीमहावीर भगवन्त का संपूर्ण वृत्तांत देखना होवे, तदा आवश्यक सूत्रवृत्ति, कल्प-सूत्र वृत्ति तथा श्रीमहावीर चरितादि ग्रन्थों से जान लेना।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि
आनंदविजय-आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे
एकादशः परिच्छेदः संपूर्णः

द्वादश परिच्छेद

इस परिच्छेद में श्री महावीर भगवान् से लेकर आज पर्यंत कितनाक वृत्तांत लिखते हैं। श्री महावीर भगवन्त के ग्यारह शिष्य मुख्य और सर्व साधुओं से बड़े हुये, तिन के नाम कहते हैं—१. इंद्रभूति अर्थात् गौतमस्वामी,

श्री महावीर के गणधरादि

२. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्तस्वामी, ५. सुधर्मास्वामी, ६. मंडिकपुत्र, ७. मौर्यपुत्र, ८. अकंपित, ९. अचलभ्राता, १०. मैतार्य, ११. प्रभास। और सर्व शिष्य तो चौदह हजार साधु हुये, चौदह हजार से कदे भी अधिक नहीं हुये। और साध्वी छत्तीस हजार हुई। तथा श्रेणिक, उदायन, कोणक, उदायी, वत्सदेश का उदायन, चेटक, नवमल्लिक क्षत्रिय जाति के नवलेच्छिक क्षत्रिय जाति के, उज्जैन का राजा चन्द्रप्रद्योत, अमलकल्पा नगरी का स्वेत नामा राजा, पोलासपुर का विजय राजा, क्षत्रियकुण्ड का नंदिवर्द्धन राजा, वीतभयपट्टन का उदायन राजा, दशार्णपुर का दशार्णभद्र राजा, पावापुरी का हस्तिपाल राजा इत्यादि अनेक राजे श्रीमहावीर भगवन्त के सेवक अर्थात् श्रावक थे। और आनंद, कामदेव, संख, पुष्कली प्रमुख श्रावक, और जयंती, रेवती, सुलसा प्रमुख श्राविका तो लाखों ही थे। तिन श्रावकों में एक सत्यकी नामा अविरति,

सम्यग्दृष्टि श्रावक हुआ है, तिसका सम्बंध आवश्यक शास्त्र में इस तरे लिखा है।

सत्यकी और महेश्वरपूजा

विशाला नगरी के चेटक राजा की छट्ठी पुत्री सुज्येष्ठा नामा कुमारी कन्याने दीक्षा लीनी थी अर्थात् जैनमत की साध्वी हो गई थी। वो किसी अवसर में उपाश्रय के अन्दर सूर्य के सन्मुख आतापना लेती थी। इस अवसर में पेढाल नामा परिव्राजक अर्थात् संन्यासी विद्या-सिद्ध था। सो अपनी विद्या देने के वास्ते पात्र पुरुष को देखता था। और उसका विचार ऐसा था कि यदि ब्रह्म-चारिणी का पुत्र होवे, तो सुनाथ होवेगा। तब तिस संन्यासीने रात्रि में सुज्येष्ठा को नग्नपने शीत की आतापना लेती को देखा। तब धुन्धविद्या से अंधकार में विमोह अर्थात् अचेत करके उसकी योनि में अपने वीर्य का संचार करा। तिस अवसर में सुज्येष्ठा को ऋतुधर्म आ गया था, इस वास्ते गर्भ रह गया। तब साथ की साध्वियों में गर्भ की चर्चा होने लगी। पीछे अतिशय ज्ञानीने कहा कि सुज्येष्ठाने विषयभोग किसी से नहीं करा, अरु तिस विद्या-धर का सर्व वृत्तांत कहा। तब सर्व की शंका दूर हो गई। पीछे समय में सुज्येष्ठा के पुत्र जन्मा। तब तिस लड़के को श्रावकने अपने घर में ले जा के पाला, तिसका नाम सत्यकी रक्खा। एक समय सत्यकी साध्वियों के साथ श्रीमहावीर

भगवान् के समवसरण में गया। तिस अवसर में एक कालसंदीपक नामा विद्याधर श्रीमहावीर को वंदना करके पूछने लगा कि, मुझ को किस से भय है? तब भगवंत श्री महावीर स्वामीने कहा कि यह जो सत्यकी नामा लड़का है, इस से तुझ को भय है। तब कालसंदीपक सत्यकी के पास गया, अवज्ञा से कहने लगा कि, अरे तू मुझ को मारेगा? ऐसे कह कर जोरावरी से सत्यकी को अपने पगों में गेरा। तब तिसके पिता पेढ़ालने सत्यकी का पालन करा, और अपनी सर्व विद्याओं सत्यकी को दे दिया। सत्यकी का यह सातमा भव रोहिणी विद्या साधने में लग रहा था। रोहिणी विद्याने इस सत्यकी के जीव को पांच भव में तो जान से मार गेरा और छट्ठे भव में छः महीने शेष आयु के रहने से सत्यकी के जीवने विद्या की इच्छा न करी; परन्तु इस सातमे भव में तो तिस रोहिणी विद्या को साधने का आरम्भ करा। तिसकी विधि लिखते हैं।

अनाथ मृतक मनुष्यों को चिता में जलावे और गीले चमडे को शरीर ऊपर लपेट के पग के वामे अंगूठे से खड़ा हो कर जहां लग तिस चिता का काष्ठ जले तहां लग जाप करे। इस विधि से सत्यकी विद्या साध रहा था। तहां कालसंदीपक विद्याधर भी आ गया, और चिता में काष्ठ प्रक्षेप करके सात दिन रात्रि तक अग्नि बुझने न देनी। तब

सत्यकी का सत्य देख के रोहिणी देवी आप प्रगट हो कर कालसंदीपक को कहने लगी कि मत विघ्न कर, क्योंकि मैं इस सत्यकी को सिद्ध होनेवाली हूं, इस वास्ते मैं सिद्ध हो गई हूं। तब रोहिणी देवीने सत्यकी को कहा कि, मैं तेरे शरीर में किधर से प्रवेश करूं? सत्यकीने कहा कि मेरे मस्तक में हो कर प्रवेश कर। तब रोहिणीने मस्तक में हो कर प्रवेश करा, तिस से मस्तक में खड्डा पड़ गया। तब देवीने तुष्टमान हो कर तिस मस्तक की जगा तीसरे नेत्र का आकार बना दिया। तब तो सत्यकी तीन नेत्रवाला प्रसिद्ध हुआ। पीछे सत्यकीने सोचा कि पेढालने मेरी माता राजा की कुमारी बेटी को बिगाड़ा है। ऐसा सोच कर अपने पिता पेढाल को मार दिया। तब लोगोंने सत्यकी का नाम रुद्र(भयानक) रख दिया, क्योंकि जिसने अपना पिता मार दिया, उससे और भयानक कौन है?

पीछे सत्यकीने विचारा कि कालसंदीपक मेरा वैरी कहां है? जब सुना कि कालसंदीपक अमुक जगा में है। तब सत्यकी तिस के पास पहुंचा। फिर कालसंदीपक विद्याधर तहां से भाग निकला तो भी सत्यकी तिसके पीछे लगा। कालसंदीपक हेठ ऊपर भागता रहा, परन्तु सत्यकीने तिसका पीछा न छोड़ा। फिर कालसंदीपकने सत्यकी के भुलाने वास्ते तीन नगर बनाये। तब सत्यकी-ने विद्या से तीनों नगर भी जला दिये, तब कालसंदीपक

दौड़ के लवणसमुद्र के पातालकलश में चला गया। सत्यकी- ने तहां जा कर कालसंदीपक को मार डाला। तिस पीछे सत्यकी विद्याधर चक्रवर्त्ती हुआ। तीन संध्या में सर्व तीर्थंकरों को वंदना करके नाटक करने लगा, तव इन्द्रने सत्यकी का नाम महेश्वर दिया। तिस महेश्वर के दो शिष्य हुये, एक नंदीश्वर, दूसरा नादीया। तिन में नादीया तो विद्या से बैल का रूप वना लेता था, और तिस ऊपर चढ़ के महेश्वर अनेक क्रीड़ा कुतूहल करता था। महेश्वर श्रीमहा- वीर भगवंत का अविरति सम्यग्दृष्टि श्रावक था। परन्तु वड़ा भारी कामी था और ब्राह्मणों के साथ उसका वड़ा भारी वैर हो गया। तव विद्या के वल से सैंकड़ों ब्राह्मणों की कुमारी कन्याओं को विषयसेवन करके विगाड़ा। और लोक तथा राजा प्रमुख की वहुवेटियों से कामक्रीड़ा करने लगा। परन्तु उसकी विद्याओं के भय से उसे कोई कुछ कहता नहीं था। जेकर कोई मना भी करता था, तो मारा जाता था। महेश्वर ने विद्या से एक पुष्पक नामा विमान बनाया तिस में बैठ के जहां इच्छा होती, तहां चला जाता था। ऐसे उसका काल व्यतीत होता था।

एक समय महेश्वर उज्जैन नगर में गया। तहां चंड- प्रद्योत की एक शिवा नामा रानी को छोड़ के दूसरी सर्व रानियों के साथ विषय भोग करा। और भी सर्व लोगों की बहुबेटियों को बिगाडना शुरू करा। तव चंडप्रद्योत को

बडी चिंता हुई, अरु विचारा कि कोई ऐसा उपाय करें कि जिस से इस महेश्वर का विनाश–मरण हो जावे। परन्तु तिसकी विद्या के आगे किसीका कोई उपाय नहीं चलता था। पीछे तिस उज्जैन नगर में एक उमा नामा वेश्या बडी रूपवती रहती थी। उसका यह कौल था कि जो कोई इतना धन मुझे देवे, सो मेरे से भोग करे। जो कोई उसके कहे मूजब धन देता था, सो उसके पास जाता था। एक दिन महेश्वर उस वेश्या के घर गया, तब तिस उमा वेश्याने महेश्वर के सन्मुख दो फूल करे, एक विकशा हुआ, दूसरा मिचा हुआ। तब महेश्वरने विकशे—खिड़े फूल की तर्फ हाथ पसारा। तब उमा वेश्याने मिचा हुआ कमल महेश्वर के हाथ में दिया, और कहा कि यह कमल तेरे योग्य है। तब महेश्वरने कहा, क्यों यह कमल मेरे योग्य है? तब उमाने कहा कि, इस मिचे हुए कमल समान कुमारी कन्या है, सो तुझ को भोग करने वास्ते वल्लभ है, और मैं खिले हुए फूल के समान हूं। तब महेश्वरने कहा कि तू भी मेरे को बहुत वल्लभ है। ऐसा कह कर महेश्वर उसके साथ भोग भोगने लगा। और तिसके ही घर में रहने लगा। तिस उमाने महेश्वर को अपने वश में कर लिया। उमा का कहना महेश्वर उल्लंघन नहीं कर सकता था।

ऐसे जब कितनाक काल व्यतीत हुआ, तब चंद्रप्रद्योतने उमा को बुला के उसको बहुत धन और आदर–सन्मान

देकर कहा कि, तू महेश्वर से यह पूछ कि ऐसा भी कोई काल है कि, जिस में तुमारे पास कोई भी विद्या नहीं रहती ? तब उमाने महेश्वर को पूर्वोक्त रीति से पूछा। महेश्वरने कहा कि जब मैं मैथुन सेवता हूं तब मेरे पास कोई भी विद्या नहीं रहती, अर्थात् कोई विद्या चलती नहीं। तब उमाने चंद्रप्रद्योत राजा को सर्व कथन सुना दिया। तब राजाने उमा से कहा कि, अब महेश्वर तेरे से भोग करेगा, तब हम उसको मारेंगे। उमाने कहा कि मुझ को मत मारना। तब चन्द्रप्रद्योतने कहा कि तुझ को नहीं मारेंगे। पीछे चन्द्रप्रद्योतने अपने सुभटों को गुप्तपने उमा के घर में छिपा रक्खा। जब महेश्वर उमा के साथ विषय सेवन में मग्न हो के दोनों का शरीर परस्पर मिल के एक शरीरवत् हो गया, तब राजा के सुभटों ने दोनों ही को काट डाला और अपने नगर का उपद्रव दूर करा। पीछे महेश्वर की सर्व विद्याओंने उसके नन्दीश्वर शिष्य को अपना अधिष्ठाता बनाया। जब नन्दीश्वरने अपने गुरु को इस विडम्बना से मारा सुना, तब विद्या से उज्जैन के ऊपर शिला बनाई। और कहने लगा कि, हे मेरे दासो ! अब तुम कहां जाओगे ? मैं सब को मारूंगा क्योंकि मैं सर्वशक्तिमान् ईश्वर हूं, किसी का मारा मैं मरता नहीं हूं, मैं सदा अविनाशी हूं। यह सुन कर बहुत लोक डरे और सर्व लोक विनंतिः करके पगों में पड़े, अरु कहने लगे कि

हमारा अपराध क्षमा करो । तब नन्दीश्वरने कहा कि जेकर तुम उसी अवस्था में अर्थात् उमा की भग में महेश्वर का लिंग स्थापन करके पूजो, तो मैं तुम को जीता छोडूंगा । तब लोगों ने तैसे ही बना कर पूजा करी । पीछे नन्दीश्वरने भी ऐसे ही गाम गाम में, नगर नगर में लोगों को डरा डरा करके मन्दिर बनवाये, तिन में पूर्वोक्त आकारे भग में लिंगस्थापन करा के पूजा कराई । यह श्रीमहावीर के अविरति सम्यग्दृष्टि श्रावक महेश्वर की उत्पत्ति है ।

तथा श्रीमहावीरस्वामी के विद्यमान होते राजगृह नगर में श्रेणिक राजा की चेलणा रानी के

कोणिक और श्राद्ध

कोणिक नामा पुत्र हुआ । परन्तु कोणिक का श्रेणिक के साथ पूर्वजन्म का वैर था । इस वास्ते कोणिक राजाने श्रेणिक राजा को पकड़ के पिंजरे में दे दिया, और राजसिंहासन ऊपर आप बैठा । जब अपनी माता चेलणा के मुख से सुना कि श्रेणिक को जैसा तू वल्लभ था, ऐसा कोई भी पुत्र वल्लभ नहीं था । क्योंकि जब तू बालक था तब तेरी अंगुली पक गई थी, तिस से तुझे रात्रि में नीन्द नहीं आती थी, और तू सर्व रात्रि में रोता था, तब तेरा पिता तेरी अंगुली को अपने मुख में ले कर चूस के उसकी राध रुधिर को थूकता था । इत्यादि तेरे पिताने तेरे साथ राग-स्नेह करा है, और तुमने उस उपकार के बदले अपने पिता को पिंजरे में

बंद किया, वाह रे पुत्र ! तेरी लायकी ! यह सुन के कोणिक राजा बड़ा दुःखी हुआ, और रोता हुआ आप कुहाड़ा ले कर दौड़ा कि, मैं अपने हाथ से पिता का पिंजरा काट के बाहिर निकालूंगा और राजसिंहासन ऊपर बिठाऊंगा। परंतु जब श्रेणिक राजाने देखा कि कोणिक कुहाड़ा लेकर दौड़ा आता है, तब विचार करा कि, क्या जाने मुझे किस कुमौत से मारेगा ? तब श्रेणिक राजा कुछ खा के मर गया। जब कोणिकने आकर देखा कि पिता तो मर गया, तब बहुत रोया पीटा, महा शोक से दाह लगाया। जब राज-गृह के अन्दर बाहिर श्रेणिक के मकान महल सिंहासनादि देखता है, बड़ा दिलगीर—शोकवंत होता है। इस दुःख से राजगृह नगर को छोड़ के चंपा नगरी अपनी राजधानी बना के रहने लगा। तो भी पिता के वियोग से सेवा न करने से दुःखी रहने लगा। तब प्रधान—मन्त्रियोंने मता करके एक छाना पुस्तक बनवाया। उस में ऐसा कथन लिखवाया कि जो पुत्र अपने मरे हुये पिता को पिण्डप्रदान वस्त्र जोडे, आभूषण, शय्या प्रमुख ब्राह्मणों को देता है, वो सर्व श्राद्धादि सामग्री उसके पिता को, प्राप्त होती है। तिस पुस्तक को धुंए के मकान में रख के धुंए से पुराने पुस्तकवत् बना दिया। तब कोणिक राजा को सुनाया। कोणिकने भी पिता की भक्ति वास्ते पिंडप्रदानादि बहुत धन लगा करके करा। तब ही से मृतकों को पिंडप्रदान श्राद्धादि प्रवृत्त

हुये हैं। क्योंकि जगत् में प्रसिद्ध है कि कर्ण राजाने श्राद्ध चलाये हैं। सो इसी कोणिक राजा का नाम लोगोंने कर्ण राजा करके लिखा है।

प्रयागतीर्थ

तथा अन्निकासुत जैनाचार्य अत्यंत वृद्ध को गंगा नदी उतरते केवलज्ञान हुआ और जहां प्रयाग है, तहां शरीर छोड़ के मोक्ष हुआ। तिस जगे देवताओंने तिस मुनि की महिमा करी, तव से प्रयाग तीर्थ की मानता चली, अर्थात् प्रयाग तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

महावीरस्वामी के वक्त में जो स्वरूप राजादि व्यवहारों का था तथा जैनमत का जहां तक विस्तार था, सो आवश्यक सूत्र, वीरचरित्र तथा वृहत्कल्पादि शास्त्रों से जान लेना।

तथा श्रीमहावीर के समय में राजगृह नगरी का राजा श्रेणिक हुआ। तिसके पीछे कोणिक हुआ, जिसने श्रेणिक के मरने से पीछे चंपा नगरी को अपनी राजधानी वनाया। तिसका वेटा उदायी हुआ, जिसने कोणिक के मरे पीछे उदासी से चंपा को छोड़ के पाटलीपुत्र(पटना) नगर वसा के अपनी राजधानी वनायी।

श्रीमहावीर भगवंत विक्रम संवत् से ४७७ वर्ष पहिले पावापुरी नगरी में हस्तपाल राजा की पुरानी राजसभा में वहत्तर वर्ष की आयु भोग के कार्तिक वदि अमावास्या की रात्रि के पिछले प्रहर में पद्मासन अर्थात् चौकडी मारे

हुये, शरीरादि चार कर्म की सर्व उपाधि छोड़ के निर्वाण हुये—मोक्ष पहुंचे। तिस समय में गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी यह दो बडे शिष्य जीते थे, शेष नव बडे शिष्य तो श्रीमहावीरजी के जीते हुये ही एक मास का अनशन करके केवलज्ञान पा के मोक्ष चले गये थे। यह ग्यारह ही बडे शिष्य जाति के तो ब्राह्मण थे, चार वेद और छ वेदांग आदि सर्व शास्त्रों के जानकार थे, इन के चौतालीस सों (४४००) विद्यार्थी थे। इनका सम्बन्ध ऐसे है।

गौतम और संशयनिवृत्ति

जब भगवंत श्रीमहावीरजी को केवलज्ञान हुआ, तिस अवसर में मध्यपापा नगरी में सोमिल नामा ब्राह्मणने यज्ञ करने का आरम्भ करा था, और सर्व ब्राह्मणों में श्रेष्ठ विद्वान् जान कर इन पूर्वोक्त गौतमादि ग्यारह ही आचार्यों को बुलाया था। तिस समय तिस यज्ञपाड़ा के ईशान कूण में महासेन नामा उद्यान में श्रीमहावीर भगवंत का समवसरण रत्न सुवर्ण रौप्यमय, क्रम से तीन गढ़ संयुक्त देवों ने बनाया। तिसके बीच में बैठ के भगवंत श्रीमहावीरस्वामी उपदेश करने लगे। तब आकाश मार्ग के रास्ते सैंकडों विमानों में बैठे हुए चार प्रकार के देवता भगवंत श्रीमहावीर के दर्शन और उपदेश सुनने को आते थे। तब तिन यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंने जाना कि, यह देव सब हमारे करे हुये यज्ञ की आहुतियां लेने आये हैं। इतने में देवता तो

यज्ञपाड़े को छोड़ के भगवान् के चरणों में जाकर हाजिर हुये। तथा और लोक भी श्रीमहावीर भगवंत का दर्शन करके और उपदेश सुन के गौतमादि पंडितों के आगे कहने लगे कि आज इस नगर के वाहिर सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् आये हैं। न तो उनके रूप की कोई तारीफ कर सकता है, अरु न कोई उनके उपदेश से संशय रहता है, और लाखों देवता जिनों के चरणों की सेवा करते हैं। ताते हमारे वड़े भाग्योदय हैं, जो ऐसे सर्वज्ञ अरिहंत भगवंत का हमने दर्शन पाया। जब गौतमजीने सुना कि सर्वज्ञ आया है, तव मन में ईर्ष्या की अग्नि भड़की अरु ऐसे कहने लगा कि, मेरे से अधिक और सर्वज्ञ कौन है? मैं आज इसका सर्वज्ञपना उड़ा देता हूं। इत्यादि गर्व संयुक्त भगवान् श्रीमहावीर के पास पहुंचा, और भगवान् को चौतीस अतिशय संयुक्त देखा। तथा देवता, इन्द्र, मनुष्यों से परिवृत देखा। तव वोलने की शक्ति से हीन हुवा २ भगवंत के सन्मुख जाके खड़ा हो गया। तब भगवंतने कहा, हे गौतम इन्द्रभूति! तू आया? तव गौतमजीने मन में विचारा कि मेरा नाम भी ये जानते हैं, मैं तो सर्व जगे प्रसिद्ध हूं, मुझे कौन नहीं जानता? इस वास्ते मैं इस वात में कुछ आश्चर्य और इन को सर्वज्ञ नहीं मानता हूं। किंतु मेरे मन में जो संशय है, तिसको यदि दूर कर देवें, तो मैं इन को सर्वज्ञ मानूं। तव भगवंतने कहा, हे गौतम! तेरे मन में यह संशय है—

जीव है कि नहीं ? और यह संशय तेरे को वेदों की परस्पर विरुद्ध श्रुतियों से हुआ है, वे श्रुतियां यह हैं—

* विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीतीत्यादि ।

इस से विरुद्ध यह श्रुति है—

स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि ।

इन श्रुतियों का अर्थ ऐसा तेरे मन में भासन होता है। प्रथम श्रुति का अर्थ कहते हैं—नीलादि रूप होने से विज्ञान ही चैतन्य है। चैतन्यविशिष्ट जो नीलादि, तिससे जो घन सो विज्ञानघन। सो विज्ञानघन, प्रत्यक्ष परिच्छिद्यमान पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश रूप पांच भूतों से उत्पन्न हो कर फिर तिनके साथ ही नाश हो जाता है। अर्थात् भूतों के नाश होने से उनके साथ विज्ञानघन का भी नाश हो जाता है। इस हेतु से प्रेत्यसंज्ञा नहीं अर्थात् मर के फिर परलोक में और कोई नर नार का जन्म नहीं होता इस श्रुति से जीव की नास्ति सिद्ध होती है। और दूसरी श्रुति कहती है—यह आत्मा ज्ञानमय अर्थात् ज्ञानस्वरूप है । इस से आत्मा की सिद्धि होती है। अब ये दोनों श्रुतियें परस्पर विरोधी होने से प्रमाण नहीं हो सकती हैं। और

* 'प्रज्ञानघनः' ऐसा पाठ वर्तमान पुस्तकों में है।

आत्मा के स्वरूप में परस्पर विरोधी बहुत मत हैं। कोई कहता है कि—

एतावानेव लोकोऽयं यावानिंद्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥

इस श्लोक का अर्थ *चार्वाक मत में लिख आये हैं। यह भी एक आगम कहता है। तथा " न रूपं भिक्षवः! पुद्गलः" अर्थात् आत्मा अमूर्त्त है, यह भी एक आगम कहता है। तथा " अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा " अर्थात्—अकर्त्ता सत्त्व, रज, अरु तम, इन तीनों गुणों से रहित, सुख दुःख का भोगनेवाला आत्मा है, यह भी एक आगम कहता है। अब इन में से किस को सच्चा और किस को झूठा मानें? परस्पर विरोधी होने से सर्व तो सच्चे हो ही नहीं सकते हैं। तथा युक्ति प्रमाण से भी मर के परलोक जानेवाली आत्मा सिद्ध नहीं होती है। ताते हे गौतम! यह तेरे मन में संशय है। अब इस का उत्तर कहता हूं कि, तू वेद पदों का अर्थ नहीं जानता है, इत्यादि श्रीगौतमजी के संशय को दूर करा। ये सर्व अधिकार मूलावश्यक और श्रीविशेषावश्यक से जान लेना। मैंने ग्रंथ के भारी और गहन हो जाने के सबब से यहां नहीं लिखा। क्योंकि सब ग्यारह गणधरों के संशय दूर करने के प्रकरण के चार हजार श्लोक

---

* देखो पूर्वार्ध का पृ० ३०२

हैं। पीछे जब गौतमजी का संशय दूर हो गया, तब गौतमजी पांच सौ अपने विद्यार्थियों के साथ दीक्षा ले के श्री महावीर भगवन्त का प्रथम शिष्य हुआ।

अग्निभूति और संशयवृत्ति

इस तरे इंद्रभूति को दीक्षित सुन के दूसरा भाई अग्निभूति बड़े अभिमान में भर कर चला और कहने लगा कि, मेरे को भाई को इन्द्रजालिये ने छल से जीत के अपना शिष्य बना लिया। मैं अभी उस इंद्रजालिये को जीत के अपने भाई को पीछे लाता हूं। इस विचार से भगवन्त श्रीमहावीरजी के पास पहुंचा। जब भगवान् को देखा, तब सर्व आइ बाइ भूल गया, मुख से बोलने की शक्ति भी न रही। और मन में बड़ा अचम्भा हुआ, क्योंकि ऐसा स्वरूप न उसने कभी सुना था और न कभी देखा था। तब भगवान् ने उसका नाम लिया। अग्निभूतिने विचारा कि यह मेरा नाम भी जानते हैं। अथवा मैं प्रसिद्ध हूं, मुझे कौन नहीं जानता है? परन्तु मेरे मन का संशय दूर करें, तो मैं इन को सर्वज्ञ मानूं। तब भगवन्तने कहा—हे अग्निभूति! तेरे मन में यह संशय है कि कर्म है किंवा नहीं? यह संशय तेरे को विरुद्ध वेदपदों से हुआ है। क्योंकि तू वेदपदों का अर्थ नहीं जानता है। वे वेदपद यह हैं:—

पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं, उतामृतत्वस्ये-शानो यदन्नेनाऽतिरोहति । यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदु अंतिके यदंतरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य वाह्यत इत्यादि ।

इस से विरुद्ध यह श्रुति है:—

पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा, इत्यादि ।

और इन का अर्थ तेरे मन में ऐसा भासन होता है कि 'पुरुष' अर्थात् आत्मा । 'एव' शब्द अवधारण के वास्ते है, सो अवधारण कर्म और प्रधानादिकों के व्यवच्छेद वास्ते है । 'इदं सर्वं' अर्थात् यह सर्व प्रत्यक्ष वर्त्तमान चेतन अचेतन वस्तु । 'ग्निं' यह वाक्यालंकार में है । 'यद् भूतं यच्च भाव्यं' अर्थात् जो पीछे हुआ है और आगे को होवेगा' जो मुक्ति तथा संसार सो सर्व पुरुष आत्मा ब्रह्म ही हैं । तथा 'उतं' शब्द अपिशब्द के अर्थ में है, और अपि शब्द समुच्चय अर्थ में है । 'अमृतत्वस्य'—अमरणभाव का अर्थात् मोक्ष का, 'ईशानः'—प्रभु अर्थात् स्वामी (मालक) है । 'यदिति यच्चेति' च शब्द के लोप होने से यदिति बना, इसका अर्थ जो अन्न करके वृद्धि को प्राप्त होता है । 'यदे-जति यन्नैजति'—जो चलता है ऐसे पशु आदिक और जो नहीं चलता है ऐसे पर्वतादिक । और 'यद्दूरे'—जो दूर

है मेरु आदिक 'यत् उ अंतिके'–उ शब्द अवधारणार्थ में है, जो समीप है। सो सर्व पूर्वोक्त पदार्थ पुरुष अर्थात् ब्रह्म ही है। इस श्रुति से कर्म का अभाव होता है। अरु दूसरी श्रुति से तथा शास्त्रांतरों से कर्म सिद्ध होते हैं। तथा युक्ति से कर्म सिद्ध होते नही क्योंकि अमूर्त्त आत्मा को मूर्त्त कर्म लगते नहीं, इस वास्ते मैं नहीं जानता कि कर्म हैं वा नहीं। यह संशय तेरे मन में है। ऐसा कह कर भगवान्ने वेदश्रुतियों का अर्थ बरावर करके तिसका पूर्वपक्ष खण्डन करा। सो विस्तार से मूलावश्यक तथा विशेषावश्यक से जान लेना। अग्निभूतिने भी गौतमवत् दीक्षा लीनी।

वायुभूति और संशयनिवृत्ति

अग्निभूति की दीक्षा सुन के तीसरा वायुभूति आया। परंतु आगे दोनों भाइयों के दीक्षा ले लेने से इसको विद्या का अभिमान कुछ भी न रहा। मन में विचार करा कि, मैं जाकर भगवान् को वंदना–नमस्कार करूंगा। ऐसा विचार के आया, आकर भगवंत को वंदना करी। तब भगवंतने कहा कि तेरे मन में संशय तो है, परन्तु क्षोभ से तू पूछ नहीं सकता है। संशय यह है कि जो जीव है सो देह ही है? और यह संशय तेरे को विरुद्ध वेदपदश्रुति से हुआ है, और तू तिन वेद पदों का अर्थ नहीं जानता है। वे वेद पद ये हैं:— "विज्ञानघन" इत्यादि पहिले गणधर की श्रुति जाननी। इस

से देह से न्यारा जीव-आत्मा सिद्ध नहीं होता है। और इस श्रुति से विरुद्ध यह श्रुति है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यंति धीरा यतयः संयतात्मानः इत्यादि।

इस श्रुति से देह से भिन्न आत्मा सिद्ध होती है, इस वास्ते तुझ को संशय है। पीछे भगवान्‌ने यह सर्व संशय दूर करा। तब तीसरे वायुभूतिने भी अपने पांच सौ विद्यार्थियों के साथ दीक्षा लीनी।

वायुभूति की तरें शेष आठ गणधर क्रम से आये, तिस में चौथा अव्यक्तजी आया तिनके मन में यह संशय था कि पांचभूत हैं कि नहीं? यह संशय विरुद्ध श्रुतियों से हुआ। वे परस्पर विरुद्ध श्रुतियां यह हैं—

स्वप्नोपम वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरंजसा विज्ञेय इत्यादीनि।

तथा इस से विरुद्ध यह श्रुति है—

द्यावापृथिवी जनयन् देव इत्यादि।

तथा—

पृथिवीदेवता, आपोदेवता, इत्यादीनि।

इन का अर्थ तेरे मन में ऐसा भासन होता है— स्वप्न सरीखा [वै निपात अवधारणार्थे] सम्पूर्ण जगत् है—'एष ब्रह्मविधिः' अर्थात् यह परमार्थ प्रकार है, 'अंजसा'— सीधे न्याय से जानने योग्य है। यह श्रुति पांचभूत का अभाव कहती है। और श्रुतियें पांचभूत की सत्ता को कहती हैं, इस वास्ते तेरे को संशय है। तेरे मन में यह भी है कि युक्ति से पांचभूत सिद्ध नहीं होते हैं। पीछे भगवान्‌ने इसका पूर्वपक्ष खण्डन करा, वेद पदों का यथार्थ अर्थ करा । यह अधिकार उक्त ग्रंथों से जान लेना। यह सुन कर चौथे अव्यक्तने भी अपने पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा लीनी।

तब पांचमा सुधर्म नामा गणधर आया। इसका भी इसी तरें सर्वाधिकार जान लेना। यावत् तेरे मन में यह संशय है कि मनुष्यादि सर्व जैसे इस भव में हैं, तैसे ही अगले जन्म में होते हैं ? कि मनुष्य कुछ और पशु आदि भी बन जाते हैं ? यह संशय तेरे को परस्पर विरुद्ध वेदश्रुतियों से हुआ है, सो वेदश्रुतियां यह हैं—

पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वं इत्यादीनि ॥

अर्थः—जैसे इस जन्म में पुरुष स्त्री आदि हैं, वे परजन्म में भी ऐसे ही होवेंगे। इस से विरुद्ध यह श्रुति है—

शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यत इत्यादि ।

इन सर्व श्रुतियों का भगवान् ने अर्थ करके संशय दूर करा, तब अपने पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा लीनी ।

तिस पीछे छठा मंडिकपुत्र आया । तिसके मन में यह संशय था कि, बंध मोक्ष है वा नहीं है ? यह संशय भी विरुद्ध श्रुतियों से हुआ है, सो श्रुतियां यह हैं—

स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा न वा एष बाह्यमभ्यंतरं वा वेद इत्यादीनि ।

इस श्रुति का ऐसा अर्थ तेरे मन में भासन होता है— 'एष अधिकृतजीवः' अर्थात् यह जीव जिसका अधिकार है, 'विगुणः' अर्थात् सत्वादि गुण रहित, सर्वगत-सर्वव्यापक पुण्य पाप करके इस को बंध नहीं होता है, और संसार में भ्रमण भी नहीं करता है, और कर्मों से छूटता भी नहीं है, बंध के अभाव होने से दूसरों को कर्म बंध से छुड़ाता भी नहीं है । इस कहने से आत्मा अकर्त्ता है, सोई कहते हैंः— यह पुरुष अपनी आत्मा से बाहिर महत् अहंकारादि और अभ्यंतर स्वरूप अपना जानता नहीं । क्योंकि जानना ज्ञान से होता है, और ज्ञान जो है, सो प्रकृति का धर्म है, और प्रकृति अचेतन है, इस वास्ते बंध मोक्ष नहीं । इस श्रुति से बंध मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है । अब इस से विरुद्ध श्रुति यह है ।

न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशत इत्यादीनि ।

अर्थः—सशरीरस्य अर्थात् शरीर सहित को सुख दुःख का अभाव कदापि नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि संसारी जीव सुख दुःख से रहित नहीं होता है, और अमूर्त आत्मा को कारण के अभाव से सुख दुःख स्पर्श नहीं कर सकते हैं । इस श्रुति से बंध मोक्ष सिद्ध होते हैं । तथा तेरे मन में यह भी बात है कि, युक्ति से भी वन्ध मोक्ष सिद्ध नहीं होते हैं । इत्यादि संशय कह कर भगवान्ने तिसके पूर्वपक्षों को खण्डन करके संशय दूर करा । तब मंडिकपुत्र साढे तीन सौ विद्यार्थियों के साथ दीक्षित भया ।

तिस पीछे सातवां मौर्यपुत्र आया, तिसके मन में यह संशय था कि देवता हैं किंवा नहीं हैं ? यह संशय परस्पर विरुद्ध श्रुतियों से हुआ है, वे श्रुतियां यह हैंः—

स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति इत्यादि ।

ऐसी श्रुतियां स्वर्ग तथा देवताओं की सिद्धि करती हैं । इस से विरुद्ध श्रुति यह है—

अपाम सोमममृता अभूम, अगमाम ज्योतिरविदाम देवान्, किं नूनमस्मात् तृणवदरातिः किमु मूर्त्तिममृतमर्त्यस्येत्यादीनि ।

तथा—

को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेरादीन् इत्यादि ।

इन का ऐसा अर्थ तेरे मन में भासन होता है—पाप दूर करने में समर्थ, ऐसे यज्ञरूपी आयुध-शस्त्र का धारण करनेवाला यजमान शीघ्र स्वर्गलोक में जाता है। तथा हमने सोमलता का रस पिया है, और अमृत-अमरण धर्मवाले हुये हैं। ज्योति—स्वर्ग को प्राप्त हुये हैं, तथा देवता हुये हैं, इस वास्ते तृण की तरे अराति—शत्रु, व्याधी, जरा अमर पुरुष का क्या कर सकते हैं ? यह श्रुतियां देवसत्ता की प्रतिपादक हैं। और इन श्रुतियों का यथार्थ अर्थ करके और तिसका पूर्वपक्ष खण्डन करके भगवंतने इनका संशय दूर करा, तब यह भी साढे तीन सौ छात्रों के साथ दीक्षित भया ।

तिस पीछे आठमा अकंपित आया, उसके मन में भी वेद की परस्पर विरुद्ध श्रुतियों के पदों से यह संशय उत्पन्न

हुआ था कि नरकवासी जीव हैं कि नहीं ? वे परस्पर विरुद्ध श्रुतियां लिखते हैं:—

नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति इत्यादि ।

इसका अर्थः—यह ब्राह्मण नारक होवेगा जो शूद्र का अन्न खाता है । इस श्रुति से नरक सिद्ध होता है । तथा—

न ह वै प्रेत्य नारकाः संतीत्यादि ।

इस श्रुति से नरक का अभाव सिद्ध होता है । इन का अर्थ करके और पूर्वपक्ष खंडन करके भगवान्ने तिसका संशय दूर करा । तब अकंपितने भी तीन सौ छात्रों के साथ दीक्षा लीनी ।

तिस पीछे नवमा अचलभ्राता आया । तिसको भी परस्पर वेद की विरुद्ध श्रुतियों के पदों से पुण्य पाप है कि नहीं ? यह संशय था । सो वेद पद यह हैं—

पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं इत्यादि ।

दूसरे गणधरवत् । इस से विरुद्ध पद यह है—

पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा भवति इत्यादि ।

इस से पुण्य पाप सिद्ध होते हैं। यह संशय भी भगवान्ने दूर करा, तब यह भी तीन सौ छात्रों के साथ दीक्षित भया।

तिस पीछे दशमा मैतार्य आया। उसको भी वेद की परस्पर विरुद्ध श्रुतियों से यह संशय हुआ था कि, परलोक है किंवा नहीं? वे श्रुतियां यह हैंः—"विज्ञानघन" इत्यादि प्रथम गणधरवत् अभाव कथक श्रुति जाननी। तथा—

स वै अयं आत्मा ज्ञानमय इत्यादि।

यह परलोक भावप्रतिपादक श्रुति जाननी। इनका तात्पर्य भगवान्ने कहा, तब मैतार्यजीने भी निःशंक हो के तीन सौ छात्रों के साथ दीक्षा लीनी।

तिस पीछे ग्यारहवां प्रभास नामा गणधर आया। तिसके मन में भी वेद श्रुतियों के परस्पर विरुद्ध होने से यह संशय था कि निर्वाण है कि नहीं है? वे श्रुतियां यह हैंः—

जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्।

इस से विरुद्ध श्रुति यह हैः—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परमपरं च तत्र परं ज्ञानमनंतं ब्रह्मेति।

इनका यह अर्थ तेरी बुद्धि में भासन होता है कि अग्नि-होत्र जो है, सो जीवहिंसा संयुक्त है, और जरा मरण का कारण है। अरु वेद में अग्निहोत्र निरंतर करना कहा है, तब ऐसा कौनसा काल है कि, जिसमें मोक्ष जाने का कर्म करें? इस वास्ते आत्मा को मोक्ष कदापि नहीं हो सकता है। अरु दूसरी श्रुति मोक्षप्राप्ति भी कहती है। इस वास्ते संशय हुआ है। इसका जब भगवान्‌ने उत्तर दे के निःशंक करा, तब तीन सौ छात्रों के साथ दीक्षा लीनी।

यह श्री महावीर भगवंत के वैशाख शुदि दशमी के दिन मध्यपापानगरी के महासेन वन में ४४०० शिष्य हुये। तिस पीछे राजपुत्र, श्रेष्ठिपुत्रादि तथा राजपुत्री, श्रेष्ठिपुत्री, राजा की रानी आदिकने दीक्षा लीनी।

श्री सुधर्मा-स्वामी

तथा जब भगवंत श्रीमहावीरजी पावापुरी में मोक्ष गये, तिस ही रात्रि में इन्द्रभूति अर्थात् गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ। तब इन्द्रोंने निर्वाण महोत्सव करा, और सुधर्मा-स्वामीजी को श्रीमहावीरस्वामीजी की गद्दी ऊपर बिठाया। श्रीगौतमजी को गद्दी इस वास्ते न हुई कि, केवलज्ञानी पुरुष पाट ऊपर नहीं बैठता है। क्योंकि केवली तो जो पूछे उसका उत्तर अपने ज्ञान से ही देता है, परन्तु ऐसा नहीं कहता है कि मैं अमुक तीर्थंकर के कहने से कहता हूं। इस वास्ते केवल-

ज्ञानी पाट ऊपर नहीं बैठता है। जेकर बैठे तो तीर्थंकर का शासन दूर होजावे, यह बात कभी हो नहीं सकती कि अनादि रीति को केवली भंग करे, इस वास्ते श्री गौतमजी गद्दी ऊपर नहीं बैठे और सुधर्मास्वामी बैठे।

श्रीसुधर्मास्वामी पचास वर्ष तो गृहस्थावास में रहे, और तीस वर्ष श्रीमहावीर भगवंत की चरणसेवा करी। जब श्रीमहावीर का निर्वाण हुआ तिस पीछे बारां वर्ष तक छद्मस्थ रहे, और आठ वर्ष केवली रहे। क्योंकि श्रीमहावीर अर्हंत के पीछे केवली हो कर बारां वर्ष तक श्रीगौतमजी जीते रहे। और श्रीगौतमजी के निर्वाण पीछे श्रीसुधर्मास्वामीजी को केवलज्ञान हुआ, केवली हो कर आठ वर्ष जीते रहे। श्रीसुधर्मास्वामीजी की सब आयु एक सौ वर्ष की थी, सो श्रीमहावीरजी के बीस वर्ष पीछे मोक्ष गये।

२. श्रीसुधर्मास्वामी के पाट ऊपर श्रीजंबूस्वामी बैठे। सो राजगृहनगर का वासी श्रीऋषभदत्त श्रेष्ठी की धारिणी नामा स्त्री से जन्मे थे। निनानवे क्रोड़ सोनैये और आठ स्त्रियों को छोड़ कर दीक्षा लेता भया। सोलां वर्ष गृहस्थवास में रहे, बीस वर्ष व्रतपर्याय, और चौतालीस वर्ष केवलपर्याय पाल के श्रीमहावीर के निर्वाण पीछे चौसठमे वर्ष मोक्ष गये।

श्री जम्बूस्वामी और दश विच्छेद

यह श्रीजम्बूस्वामी के पीछे भरत क्षेत्र में दश बातें

विच्छेद हो गई। तिसका नाम लिखते हैं—१. मनःपर्याय ज्ञान. २ परमावधि ज्ञान, ३ पुलाकलब्धि, ४. आहारक शरीर, ५. क्षपकश्रेणि, ६. उपशमश्रेणि, ७. जिनकल्पमुनि की रीति, ८. परिहारविशुद्धिचारित्र, तथा सूक्ष्मसंपराय, और यथाख्यात, यह तीन तरे के संयम, ९. केवलज्ञान, १०. मोक्ष होना—यह दश वस्तु विच्छेद हो गई। श्रीमहावीर भगवंत के केवली हुये पीछे जब चौदह वर्ष बीते; तब जमाली नामा प्रथम निन्हव हुआ, और सोलां वर्ष पीछे तिष्यगुप्त नामा दूसरा निन्हव हुआ। श्रीजंबूस्वामी की आयु अस्सी वर्ष की थी।

श्रीप्रभवस्वामी

२. जम्बूस्वामी के पाट ऊपर प्रभवस्वामी बैठे, तिन-की उत्पत्ति ऐसे है। विंध्याचल पर्वत के पास जयपुर नामा पत्तन था, तिसका विंध्य नामा राजा था। तिसके दो पुत्र थे। एक बड़ा प्रभव, दूसरा छोटा प्रभु। विंध्य राजाने किसी कारण से छोटे पुत्र प्रभु को राजतिलक दे दिया, तब बड़ा बेटा प्रभव गुस्से हो कर जयपुर पत्तन से निकल कर विंध्याचल की विषम जगा में गाम बसा कर रहने लगा, और खात्रखनन, बंदिग्रहण, रस्ते में लूटना आदि अनेक तरें की चोरियों से अपने परिवार की आजीविका करता था। एक दिन पांच सौ चोरों को लेकर राजगृह नगर में जम्बूजी के घर को लूटने आया, तहां जंबूस्वामीने तिसको प्रतिबोध करा। तब तिसने

पांच सौ चोरों के सहित दीक्षा श्रीजंबूस्वामी के साथ लीनी। इत्यादि जंबूजी का और प्रभवजी का अधिकार जंबूचरित्र तथा परिशिष्ट पर्वादि ग्रन्थों से जान लेना। प्रभवस्वामी तीस वर्ष गृहस्थ पर्याय, चौतालीस वर्ष व्रतपर्याय, तथा एकादश वर्ष युगप्रधान पदवी, सर्व पचासी वर्ष की आयु पूरी करके श्रीमहावीर से पचहत्तर वर्ष पीछे स्वर्ग गया।

श्री शय्यंभव स्वामी

४. श्रीप्रभवस्वामी के पाट ऊपर श्रीशय्यंभव स्वामी बैठे। जिनोंने मणक साधु के वास्ते दशवैकालिक सूत्र बनाया। तिनकी उत्पत्ति ऐसे है। एक समय प्रभवस्वामीने रात्रि में विचार करा कि मेरे पाट ऊपर कौन बैठेगा? पीछे ज्ञानबल से अपने सर्वसंघ में पाट योग्य कोई न देखा, तब पर दर्शनियों को ज्ञानबल से देखने लगा। तब राजगृह नगर में यज्ञ करते हुये शय्यंभव भट्ट को अपने पाट योग्य देखा। पीछे प्रभवस्वामी विहार करके सपरिवार राजगृह नगर में आये। वहां दो साधुओं को आदेश दिया कि तुम यज्ञपाडे में जाकर भिक्षा के वास्ते धर्मलाभ कहो, और यज्ञ करनेवालों को ऐसे कहो—" अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते न हि "। तब तिन साधुओंने पूर्वोक्त गुरु का कहना सर्व किया। जब ब्राह्मणोंने " अहो कष्टं " इत्यादि सुना, तब तिस यज्ञपाडे में शय्यंभव ब्राह्मणने यज्ञ-दीक्षा लीनी थी। तिसने यज्ञपाडे के दरवाजे में खडे हुए 'अहो कष्टं' इत्यादि मुनियों

का कहना सुन के विचार करने लगा कि ऐसे उपशमप्रधान साधु होते हैं, इस वास्ते यह असत्य नहीं बोलते हैं। इस से मन में संशय हो गया। तब उपाध्याय को पूछा कि तत्त्व क्या है ? तब उपाध्यायने कहा कि चार वेदों में जो कथन करा है, सो तत्त्व है। क्योंकि वेदों के सिवाय और कोई तत्त्व नहीं है। शय्यंभवने कहा कि तू दक्षिणा के लोभ से मुझ को तत्त्व नहीं बतलाता है, क्योंकि रागद्वेष रहित, निर्मम, निष्परिग्रह, शांत, दांत, महामुनियों का कहना झूठा नहीं होता है। और तू मेरा गुरु नहीं, तैंने तो जन्म से इस जगत् को ठगना ही सीखा है, इस वास्ते तू शिक्षा के योग्य है। इस वास्ते या तो मुझे तत्त्व कह दे, नहीं तो तलवार से तेरा शिर छेद करूंगा। ऐसे कह के जब मियान से तलवार काढी, तब उपाध्याय-ने प्राणांत कष्ट देख के कहा कि, हमारे वेदों में भी ऐसे लिखा है, और हमारी आम्नाय भी यही है कि, जब हमारा कोई शिर छेदे, तब तत्त्व कहना, नहीं तो नहीं कहना। तिस वास्ते मैं तुम को तत्त्व कह देता हूं—

इस यज्ञस्तंभ के हेठ अर्हंत की प्रतिमा स्थापन करी है, और नीचे ही तिसको प्रच्छन्न हो के पूजते हैं, तिस-के प्रभाव से यज्ञ के सर्व विघ्न दूर हो जाते हैं, जेकर यज्ञ-स्तंभ के नीचे अर्हंत की प्रतिमा न रक्खें, तो महातपा सिद्धपुत्र और नारद ये दोनों यज्ञ को विध्वंस कर देते हैं।

पीछे उपाध्यायने यज्ञस्तम्भ उखाड़ के अर्हंत की प्रतिमा दिखाई और कहा कि यह प्रतिमा जिस देव की है, तिस अर्हंत का कहा हुआ धर्म जीवदयारूप तत्त्व है। और यह जो वेद प्रतिपाद्य यज्ञ हैं, वे सर्व हिंसात्मक होने से विडंबनारूप हैं, परन्तु क्या करें? जेकर हम ऐसे न करें तो हमारी आजीविका नहीं चलती है। अब तू तत्त्व मान ले और मुझ को छोड़ दे अरु तू परमार्हत् होजा, क्योंकि मैंने अपने पेट के वास्ते तुझ को बहुत दिन बहकाया है। तब शय्यंभवने नमस्कार करके कहा कि तू यथार्थ तत्त्व के प्रकाश करने से सच्चा उपाध्याय है, ऐसा कह कर शय्यंभवने तुष्टमान हो कर यज्ञ की सामग्री जो सुवर्णपात्रादि थे, वे सर्व उपाध्याय को दे दी, और प्रभवस्वामी के पास जा कर तत्त्व का स्वरूप पूछ कर दीक्षा ले लीनी। शेष इनका वृत्तांत परिशिष्टपर्व ग्रंथ से जान लेना। शय्यंभवस्वामी अठाईस वर्ष गृहस्थावास में रहे, ग्यारह वर्ष सामान्य साधु व्रत में रहे, और तेईस वर्ष युगप्रधानाचार्य पदवी में रहे। इस तरे सर्वायु बासठ वर्ष भोग के श्रीमहावीर भगवंत के ९८ वर्ष पीछे स्वर्ग गये।

५. श्री शय्यंभवस्वामी के पाट ऊपर श्री यशोभद्र बैठे। सो बावीस वर्ष गृहस्थावास में रहे, और चौदह वर्ष व्रत पर्याय में रहे अरु पचास वर्ष तक युगप्रधान पदवी में रहे। इस तरे सब ८६

श्री यशोभद्र

वर्ष की आयु भोग के श्रीमहावीर से १४८ वर्ष पीछे स्वर्ग गये।

६. श्रीयशोभद्रस्वामी के पाट ऊपर एक श्री संभूतविजय और दूसरे श्रीभद्रबाहु, यह दोनों बैठे।

श्री संभूतविजय श्री भद्रबाहु

तिनमें संभूतविजय तो बैतालीस वर्ष तक गृहस्थ रहे, और चालीस वर्ष व्रतपर्याय तथा आठ वर्ष युगप्रधान पदवी सर्व आयु नव्वे वर्ष भोग के स्वर्ग में गये। और भद्रबाहुस्वामीने—१. आवश्यक निर्युक्ति, २. दशवैकालिक निर्युक्ति, ३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, ४. आचारांग की निर्युक्ति, ५. सूत्रकृदंग निर्युक्ति, ६. सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति, ७. ऋषिभाषित निर्युक्ति, ८. कल्प निर्युक्ति, ९. व्यवहार निर्युक्ति, १०. दशा निर्युक्ति, ये दश निर्युक्तियां और १. कल्प, २. व्यवहार, ३. दशाश्रुतस्कंध, यह नवमे पूर्व से उद्धार करके बनाये। और एक बहुत बड़ा भद्रबाहु नामक संहिता ज्योतिषशास्त्र बनाया। उपसर्गहर स्तोत्र बनाया। जैनियों के ऊपर बहुत उपकार करा। इन ही भद्रबाहुजी का सगा भाई वराहमिहर हुआ। वो पहिले तो जैनमत का साधु हुआ था, फिर साधुपना छोड़ के वराही संहिता बनाई। और जो वराहमिहर विक्रमादित्य की सभा का पंडित था, वो दूसरा वराहमिहर था, संहिताकारक वो नहीं हुआ। इसका सम्पूर्ण वृत्तांत परिशिष्टपर्व से जान लेना। श्री भद्रबाहुस्वामी गृहस्थावास में पैतालीश

वर्ष रहे, सतरा वर्ष व्रतपर्याय, अरु चौदह वर्ष युगप्रधान, सब मिल कर ७६ वर्ष की आयु भोग के श्री महावीर से १७० वर्ष पीछे स्वर्ग गये।

श्री स्थूलभद्र

७. यह श्री संभूतविजय अरु भद्रबाहुस्वामी के पाट ऊपर श्रीस्थूलभद्रस्वामी बैठे। इनका बहुत वृत्तांत है, सो परिशिष्टपर्व ग्रंथ से जान लेना। श्री स्थूलभद्रस्वामी तीस वर्ष गृहस्थावास में रहे, चौवीस वर्ष व्रतपर्याय, अरु पैतालीस वर्ष युगप्रधान पदवी, सब आयु ९९ वर्ष भोग के श्रीमहावीर से २१५ वर्ष पीछे स्वर्ग गये।

१. प्रभव स्वामी, २. शय्यंभव स्वामी, ३. यशोभद्रस्वामी, ४. संभूतविजय, ५. भद्रबाहु स्वामी, ६. स्थूलभद्र, यह छ आचार्य चौदह पूर्व के वेत्ता थे। श्री महावीर से दो सौ चौदह वर्ष पीछे आषाढाचार्य के शिष्य तीसरे निन्हव हुये।

स्थूलिभद्र के वक्त में नव नन्दों का एक सौ पंचावन (१५५) वर्ष का राज्य उच्छेद करके चाणक्य ब्राह्मणने चन्द्रगुप्त राजा को राजसिंहासन ऊपर बिठाया, और चन्द्रगुप्त के सन्तानोंने एक सौ आठ वर्ष तक राज्य किया। चन्द्रगुप्त मोरपाल का बेटा था, इस वास्ते चन्द्रगुप्त के वंश को मौर्यवंश कहते हैं। यह चन्द्रगुप्त जैनमत का धारक श्रावक राजा था। इस चन्द्रगुप्त तथा नव नन्द का वृत्तांत देखना होवे, तदा

परिशिष्टपर्व, उत्तराध्ययन वृत्ति तथा आवश्यक वृत्ति से देख लेना ।

श्री स्थूलभद्र स्वामी के पीछे ऊपर के चार पूर्व, प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, व्यवच्छेद हो गये, तथा श्रीमहावीर से दो सौ बीस (२२०) वर्ष पीछे अश्वमित्र नामा चौथा क्षणिकवादी निन्हव हुआ । और श्री स्थूलभद्रजी के समय में बारां वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा । उस समय में चन्द्रगुप्त का राज था । तथा श्री महावीर के पीछे २२८ वर्ष व्यतीत हुए गंग नामा पांचमा निन्हव हुआ ।

८. श्री स्थूलभद्र पीछे श्री स्थूलभद्रजी के दो शिष्य, एक आर्यमहागिरि और दूसरा सुहस्तिसूरि आठमे पाट ऊपर बैठे । तिस में आर्यमहागिरि के शिष्य १. बहुल, २. बलिस्सह, फिर बलिस्सह का शिष्य श्री उमास्वातिजी जिसने तत्त्वार्थादि सूत्र रचे हैं, और उमास्वाति का शिष्य श्यामाचार्य, जिसने प्रज्ञापना (पन्नवणासूत्र) बनाया । यह श्यामाचार्य श्री महावीर से तीन सौ छिहत्तर वर्ष पीछे स्वर्ग गया । और आर्य महागिरिजी तीस वर्ष गृहवास में रहे, चालीस वर्ष व्रतपर्याय अरु तीस वर्ष युगप्रधान पदवी सर्वायु एक सौ वर्ष की भोग के स्वर्ग गये ।

और दूसरा आठमे पाटवाला सुहस्तिसूरि, जिसने एक भिखारी को दीक्षा दीनी । वो भिखारी काल करके चन्द्रगुप्त का बेटा बिंदुसार और बिंदुसार का बेटा अशोक और अशोक का बेटा

सम्प्रति राजा

कुणाल, तिस कुणाल का बेटा संप्रति राजा हुआ। तिस संप्रति राजाने जैनधर्म की बहुत वृद्धि करी। क्योंकि कल्पसूत्र के प्रथम उद्देश में श्री महावीर के समय में अब की निसबत बहुत थोडे देशों में जैनधर्म लिखा है। मारवाड़, गुजरात, दक्षिण, पंजाब वगैरे देशों में जो जैनधर्म है, सो संप्रति राजा ही से फैला है। यद्यपि इस काल में जैनी राजा के न होने से जैनधर्म सर्व जगे नहीं है; परन्तु संप्रति राजा के समय में बहुत उन्नति पर था। क्योंकि संप्रति राजा का राज्य मध्यखण्ड और गंगा पार और सिंधु पार के सर्व देशों में था। संप्रति राजाने अपने नौकरों को जैन के साधुओं का वेष बना कर अपने सेवक राजाओं के जो शक, यवन, फारसादि देश थे, तिन देशों में भेजा। तिनोंने तिन राजाओं को जैन के साधुओं का आहारविहार, आचारादि सर्व बताया और समझाया। पीछे से साधुओं का विहार तिन देशों में करा कर लोगों को जैनधर्मी करा। और संप्रति राजाने निन्यानवे हजार (९९०००) जीर्ण जिनमन्दिरों का उद्धार कराया अर्थात् पुराने टूटों फूटों को नवा बनाया। और छव्वीसं हजार (२६०००) नवीन जिनमन्दिर बनवाये। और सोने, चांदी, पीतल, पाषाण, प्रमुख की सवा क्रोड प्रतिमा बनवाई। तिसके बनवाये मन्दिर नडौल, गिरनार, शत्रुंजय, रतलाम प्रमुख अनेक स्थानों में खडे हमने अपनी आंखों से देखे हैं। और संप्रति की बनवाई जिनप्रतिमा तो हमने सैंकडों देखी हैं। इस

संप्रति राजा का वृत्तांत परिशिष्ट पर्वादि ग्रन्थों से समग्र जान लेना।

तिस ही श्रीसुहस्तिसूरि आचार्यने उज्जैन की रहने-वाले भद्रा सेठानी का पुत्र अवन्तिसुकुमाल को दीक्षा दीनी। और जहां उस अवन्तिसुकुमालने काल करा था, तिस जगे तिस अवन्तिसुकुमाल के महाकाल नामक पुत्रने जिनमन्दिर बनवाया, और तिस मंदिर में अपने पिता के नाम से अवंति पार्श्वनाथ की मूर्त्ति स्थापन करी। कालांतर में ब्राह्मणोंने अपना जोर पा कर तिस मंदिर में मूर्त्ति को हेठ दाव कर ऊपर महादेव का लिंग स्थापन करके महाकाल(महादेव) का मंदिर प्रसिद्ध कर दिया। पीछे जब राजा विक्रम उज्जैन में राजा हुआ, तिस अवसर में कुमुदचंद्र अर्थात् सिद्धसेन दिवाकर नामा जैनाचार्यने कल्याणमंदिर स्तोत्र बनाया, तब शिव का लिंग फट कर बीच में से पूर्वोक्त पार्श्वनाथ की मूर्त्ति फिर प्रगट हुई।

श्री वृद्धवादी और श्री सिद्धसेन

इस का संबन्ध ऐसा है। विद्याधर गच्छ में स्कंदिला-चार्य, तिनका शिष्य वृद्धवादी आचार्य था। तिस अवसर में उज्जैन का राजा विक्रमादित्य था, तिसका मन्त्री कात्यायन गोत्री देव-ऋषि नामा ब्राह्मण, तिसकी देवसिका नामा स्त्री, तिनका पुत्र सिद्धसेन, सो विद्या के अभिमान से सारे जगत् के लोगों को तृणवत्(घासफूस समान) समझता था,

और ऐसा जानता था कि मेरे समान बुद्धिमान् कोई भी नहीं, और जो मुझ को वाद में जीत लेवे, तो मैं उसका ही शिष्य वन जाऊंगा। पीछे तिसने वृद्धवादी की बहुत कीर्ति सुनी, उनके सन्मुख जानेवास्ते सुखासन ऊपर बैठ के भृगुकच्छ(भडौच) की तरफ चला जाता था। तिस अवसर में वृद्धवादी भी रस्ते में सन्मुख आता हुआ मिला, तब आपस में दोनों का आलापसंलाप हुआ। पीछे सिद्धसेनजीने कहा कि मेरे साथ तुम वाद करो। तब वृद्धवादीने कहा कि वाद तो करूं, परंतु इस जंगलमें जीते हारे का कहनेवाला कोई साक्षी नहीं। तब सिद्धसेनजीने कहा कि यह जो गौ चरानेवाले गोप हैं, ये ही मेरे तुमारे साक्षी रहे, ये जिसको हारा कह देंगे सो हारा। तब वृद्धवादीने कहा कि वहुत अच्छा, ये ही साक्षी रहे। अब तुम बोलो। तब तुम सिद्धसेनजीने वहुत संस्कृत भाषा बोली और चुप हुआ। तब गोपोंने कहा कि यह तो कुछ भी नहीं जानता, केवल ऊंचा बोल के हमारे कानों को पीड़ा देता है। तब गोप कहने लगे कि हे वृद्ध ! तूं बोल। पीछे वृद्धवादी अवसर देख के कच्छा बांध कर तिन गोपों की भाषा में कहने लगे, और थोडे थोडे कूदने भी लगे। जो छंद उच्चारा सो कहते हैं—

नवि मारियें नवि चोरियें, परदारागमण निवारियें।
थोवाथोवं दाइयइ सग्गि मट्टे मट्टे जाइयइ ॥

फिर भी बोले और नाचने लगे—

काली कंबल नीचोवट्ट, छाछे भरिउ दीवडो थट्ट ।
एवड पडीओ नीले झाड, अवर किसो छे सग्ग निलाड ॥

यह सुन कर गोप बहुत खुशी हुये और कहने लगे कि वृद्धवादी सर्वज्ञ है । इसने कैसा मीठा कानों को सुखदायी हमारे योग्य उपदेश कहा, और सिद्धसेन तो कुछ नहीं जानता । तब सिद्धसेनजीने वृद्धवादी को कहा कि हे भगवान् ! तुम मुझ को दीक्षा दे के अपना शिष्य बनाओ । क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा थी कि जो गोप मुझे हारा कहेंगे, तो मैं हारा, और तुमारा शिष्य बनूंगा । यह सुन कर वृद्धवादी-ने कहा कि भृगुपुर में राजसभा के बीच तेरा मेरा वाद होवेगा । क्योंकि इन गोप की सभा में वाद ही क्या है ? तब सिद्धसेनने कहा कि मैं अवसर नहीं जानता, अवसर के ज्ञाता हो, इस वास्ते मैं हारा । पीछे वृद्धवादीने राजसभा में उसका पराजय करा । तब सिद्धसेनने दीक्षा लीनी । गुरु-ने उनका नाम कुमुदचन्द्र दिया । पीछे जब आचार्य पदवी दीनी, तब फिर सिद्धसेन दिवाकर नाम रक्खा ।

पीछे वृद्धवादी तो और कहीं को विहार कर गये, और सिद्धसेन दिवाकर अवंति—उज्जैन में गये । तब उज्जैन का संघ सन्मुख आया, और सिद्धसेन दिवाकर को सर्वज्ञपुत्र, ऐसा बिरुद दिया, ऐसा बिरुद बोलते हुए अवंतिनगरी

श्रीसिद्धसेन और विक्रमराजा

के चौक में लाये। तिस अवसर में राजा विक्रमादित्य हाथी ऊपर चढ़ा हुआ सन्मुख मिला। तब राजाने सर्वज्ञपुत्र ऐसा विरुद सुन के तिनकी परीक्षा वास्ते हाथी ऊपर बैठे ही मन से नमस्कार करा। तब आचार्यने धर्मलाभ कहा। तब राजाने पूछा कि विना ही वंदना करे, आपने मेरे को धर्मलाभ क्योंकर कहा ? क्या यह धर्मलाभ बहुत सस्ता है ? तब आचार्यने कहा कि, यह धर्मलाभ क्रोड़ चिंतामणि रत्नों से भी अधिक है। जो कोई हम को वंदना करता है, उसको हम धर्मलाभ कहते हैं। और ऐसे नहीं कि तुमने हम को वंदना नहीं करी। तुमने अपने मन से वंदना करी, मन ही तो सर्व कार्यों में प्रधान है, इस वास्ते हमने धर्मलाभ कहा है। और तुमने भी मेरी परीक्षा वास्ते ही मन में नमस्कार करा है। तब विक्रम राजाने तुष्टमान हो कर हाथी से नीचे उतर कर सर्व संघ के समक्ष वंदना करी और एक क्रोड़ अशर्फी दीनी, परन्तु आचार्यने अशर्फियां नहीं लीनी, क्योंकि वे त्यागी थे और राजा भी पीछे नहीं लेता। तब आचार्य की आज्ञा से संघपुरुषोंने जीर्णोद्धार में लगा दीनी। राजा के दफतर में तो ऐसा लिखा है—

धर्मलाभ इति प्रोक्ते दूरादुच्छ्रितपाणए।
सूरये सिद्धसेनाय, ददौ कोटिं धराधिपः॥

श्रीविक्रमराजा के आगे सिद्धसेन दिवाकरने ऐसे भी कहा था—

पुण्णे वास सहस्से, सयंमि वरिसाण नवनवइकलिए।
होइ कुमरनरिंदो, तुह विक्रमरायसारिछो॥

अन्यदा सिद्धसेन चित्रकूट में गये। तहां बहुत पुराने जिनमंदिर में एक बड़ा मोटा स्तम्भ देखा। तब किसी को पूछा कि यह स्तम्भ किस तरे का है? यह सुन कर किसीने कहा कि, यह स्तम्भ औषध द्रव्यमय जलादि करके अभेद्य वज्रवत् है। इस स्तम्भ में पूर्वाचार्योंने बहुत रहस्य विद्या के पुस्तक स्थापन करे हैं, परन्तु किसी से यह स्तम्भ खुलता नहीं। यह सुन कर सिद्धसेन आचार्यने तिस स्तम्भ को सूंघा, तिसकी गंध से तिसकी प्रतिपक्षी औषधियों का रस छांटा, तिससे वो स्तम्भ कमल की तरें खिड़ गया। तब तिसमें पुस्तक देखे, तिनमें से एक पुस्तक ले कर वाचा। तिसके प्रथम पत्र में दो विद्या लिखी पाईं, एक सरसों विद्या और दूसरी सुवर्णविद्या। तिसमें सरसों विद्या उसको कहते हैं कि, जब काम पडे तब मंत्रवादी जितने सरसों के दाने जप के जलाशय में गेरे, उतने ही असवार बैतालीस प्रकार के आयुधों सहित बाहिर निकल के मैदान में खड़े हो जाते हैं, तिनों से शत्रु की सेना का भंग हो जाता है। पीछे जब वो कार्य पूरा हो जाता है, तब

असवार अदृश्य हो जाते हैं। और दूसरी हेमविद्या से विना महेनत के जितना चाहे, उतना सुवर्ण हो जाता है। ये दो विद्या सिद्धसेनने ले लीनी। जब आगे वांचने लगा तब स्तंभ मिल गया, सर्व पुस्तक बीच में रह गये। और आकाश में देववाणी हुई कि तू इन पुस्तकों के वाचने योग्य नहीं, आगे मत वाचना, वाचेगा तो तत्काल मर जायगा। तब सिद्धसेनने डर के विचार करा कि दो विद्या मिली दो ही सही।

पीछे चित्तोड़ से विहार करके पूर्वदेश में कुमारपुर में गये। तहां देवपाल राजा था, तिसको प्रतिबोध के पक्का जैन-धर्मी करा। तहां वो राजा निन्य सिद्धांत श्रवण करता है। जब ऐसे कितनाक काल व्यतीत हुआ, तब एक समय राजा छाना आया, और आंसु से नेत्र भर कर कहने लगा कि, हे भगवन्! हम बड़े पापी हैं, क्योंकि आप की ऐसी उत्तम गोष्ठी का रस नहीं पी सकते हैं। कारण कि हम बड़े संकट में पड़े हैं। तब आचार्यने कहा कि तुम को क्या संकट हुआ है? राजा कहने लगा कि, बहुत मेरे वैरी राजे इकट्ठे हो कर मेरा राज्य छीनना चाहते हैं। तब फिर आचार्यने कहा कि हे राजन्! तू आकुलव्याकुल मत हो, जब मैं तेरा सहायक हूं, तो फिर तुझे क्या चिंता है? यह बात सुन कर राजा बहुत राजी हुआ। पीछे आचार्यने राजा को पूर्वोक्त दोनों विद्याओं से समर्थ कर दिया। तिन विद्याओं से परदल का

भंग हो गया। तिनका डेरा डंडा सर्व राजाने लूंट लिया। तब राजा आचार्य का अत्यन्त भक्त हो गया। उससे आचार्य सुखों में पड़ के शिथिलाचारी हो गया। यह स्वरूप वृद्धवादीजीने सुना, पीछे दया करके तिनका उद्धार करने वास्ते तहां आये। दरवाजे आगे खड़े हो कर कहला भेजा कि एक बूढा वादी आया है, तब सिद्धसेनने बुला कर अपने आगे बिठाया। तब वृद्धवादी सर्व अपना शरीर वस्त्र से ढांक कर बोलेः—

अणफुल्लियफुल्लमतोडहिं,
मारोवामोडिहिं मणुकुसुमेहिं।
अच्चि निरंजणं जिणं,
हिंडहि काइ वणेण वणु॥

इस गाथाको सुन कर सिद्धसेनने विचार भी करा, परन्तु अर्थ न पाया। तब विचार करा कि क्या यह मेरे गुरु वृद्धिवादी हैं? जिनके कहने का मैं अर्थ नहीं जानता हूं। पीछे जब वार वार देखने लगा तब जाना कि यह मेरे गुरु हैं। पीछे नमस्कार करके क्षमापना मांगा, और पूर्वोक्त श्लोक का अर्थ पूछा। तब वृद्धवादी कहने लगे "अणफुल्लियेत्यादि" अणफुल्लियफुल्ल—प्राकृत के अनंत होने से अप्राप्त फूल फलों को मत तोड़। भावार्थ यह है कि, योग जो है, सो कल्पवृक्ष

है। किस तरे ? जिस योगरूप वृक्ष में यम नियम तो मूल है, और ध्यानरूप बड़ा स्कंध है, तथा समतापना, कविपना, वक्तापना, यश, प्रताप, मारण, उच्चाटन, स्तंभन, वशीकरणादि सिद्धियों का जो सामर्थ्य, सो फूल है, अरु केवल-ज्ञान फल है। अभी तो योगकल्पवृक्ष के फूल ही लगे हैं, सो केवल ज्ञानरूप फल करके आगे फलेंगे। इस वास्ते तिन अप्राप्त फल पुष्पों को क्यों तोड़ता है ? अर्थात् मत तोड़, ऐसा भावार्थ है। तथा "मारोवामोडिहिं" जहां पांच महाव्रत आरोपा है, तिनको मत मरोड़। "मणुकुसुमे-त्यादि" मनरूप फूलों करी 'निरंजनं जिनं पूजय'—निरंजन जिन को पूज। "वनात् वनं किं हिंडसे" राजसेवादि वूरे नीरस फल क्यों करता है ? इति पद्यार्थः।

तब सिद्धसेनसूरिने गुरुशिक्षा को अपने शिर ऊपर धर के और राजा को पूछ के वृद्धवादी गुरु के साथ विहार करा, और निविड़ चारित्र धारण करा। अनेक आचार्यों से पूर्वों का ज्ञान सीखा। वृद्धवादी स्वर्गवास हुए पीछे एकदा सिद्धसेनजीने सर्वसंघ इकट्ठा करके कहा कि जेकर तुम कहो तो सर्वागमों को मैं संस्कृत भाषा में कर दूं। तब श्रीसंघने कहा कि क्या तीर्थंकर गणधर संस्कृत नहीं जानते थे ? जो तिन्होंने अर्द्धमागधी भाषा में आगम करे ? ऐसी बात कहने से तुम को पारांचिक नाम प्रायश्चित्त आवेगा, हम तुम से क्या कहें ? तुम आप ही जानते हो। तब

सिद्धसेनने विचार करके कहा कि मैं मौन करके बारां वर्ष का पारांचिक नाम प्रायश्चित ले के गुप्त मुखवस्त्रिका, रजोहरणादि लिंग करके और अवधूतरूप धार के फिरूंगा। ऐसे कह कर गच्छ को छोड़ के नगरादिकों में पर्यटन करने लगे। बारा वर्ष के पर्यंत में उज्जैन नगरी में महाकाल के मन्दिर में शेफालिका के फूलों करके रंगे वस्त्र पहने हुए सिद्धसेनजी जा के बैठे। तब पूजारी प्रमुख लोगोंने कहा कि तुम महादेव को नमस्कार क्यों नहीं करते ? सिद्धसेन तो बोलते ही नहीं हैं ! ऐसे लोगों की परंपरा से सुन कर विक्रमादित्यने भी तहां आ कर कहा—

क्षीरलिलिक्षो भिक्षो ! किमिति त्वया देवो न वंद्यते ।

तब सिद्धसेनजीने कहा कि मेरे नमस्कार से तुमारे देव का लिंग फट जायगा, फिर तुम को महादुःख होवेगा, मैं इस वास्ते नमस्कार नहीं करता हूं । तब राजाने कहा लिंग फटे तो फट जाने दो, परन्तु तुम नमस्कार करो। पीछे सिद्धसेनजी पद्मासन बैठ के कहने लगे कि सुनो ! तब द्वात्रिंशिका करके देव का स्तवन करने लगा, तथाहि—

स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्र-
मनेकमेकाक्षरभावलिंगम् ।

अव्यक्तमव्याहतविश्वलोक-
मनादिमध्यांतमपुण्यपापम् ॥

इत्यादि प्रथम ही श्लोक पढ़ने से लिंग में से धूआं निकला। तब लोग कहने लगे कि शिवजी का तीसरा नेत्र खुला है, अब इस भिक्षु को अग्नि नेत्र से भस्म करेगा। तब तो विजली के तेज की तरें तडतडाट करती प्रथम अग्नि निकली, पीछे श्रीपार्श्वनाथजी का बिंब प्रगट हुआ। तब वादी सिद्धसेनने कल्याणमंदिरादि स्तवनों करी स्तवन करके क्षमापन मांगा। तब राजा विक्रमादित्य कहने लगा कि हे भगवन्! यह क्या अदृश्यपूर्व देखने में आया? यह कौनसा नवीन देव है? और यह प्रगट क्योंकर हुआ? तब सिद्धसेनजीने अवंतिसुकुमाल और तिसके पुत्र महाकालने पिता के नाम से अवंति पार्श्वनाथ का मन्दिर और मूर्ति बनाई, स्थापन करी, तिसकी कितनेक वर्ष लोगोंने पूजा करी। अवसर पा कर ब्राह्मणोंने जिनप्रतिमा को हेठ दाब के ऊपर यह शिवलिंग स्थापन करा इत्यादि सर्व वृत्तांत कहा। और हे राजन्! इस मेरी स्तुति से शासनदेवताने शिवलिंग फाड़ के बीच में से यह प्रतिमा प्रगट कर दीनी। अब तूं सत्यासत्य का निर्णय कर ले। तब विक्रमादित्यने एक सौ गाम मंदिर के खरच वास्ते दिये, और देव के समक्ष गुरुमुख से बारां व्रत ग्रहण करे। सिद्धसेन की बहुत महिमा करी और अपने स्थान में गया। और वादींद्र सिद्धसेन

दिवाकर को संघ ने जिनधर्म की प्रभावना से तुष्टमान हो कर संघ में लिया, अरु पूर्ववत् आचार्य बनाया।

एक समय श्रीसिद्धसेन दिवाकर विहार करते हुये माल्वे के देश में जो ॐकार नामक नगर है, तहां गये। तिस नगर के भक्त श्रावकोंने आचार्य को विनति करी कि, हे भगवन्! इसी नगर के समीप एक गाम था, तिस में सुन्दर नामा राजपुत्र ग्रामणी था, तिसकी दो स्त्रियां थीं। एक स्त्री के प्रथम पुत्री जन्मी वो स्त्री मन में खिजी। तिस अवसर में उसकी सौकन भी प्रसूत होनेवाली थी। तब तिस बेटी-वालीने विचारा कि इस के पुत्र न होवे, तो ठीक है। क्योंकि नहीं तो यह पति को वल्लभ हो जावेगी। तब दाई से मिल के उस से पैदा हुए पुत्र को बाहिर गिरा दिया, और तत्काल का मरा हुआ लड़का उसके आगे रख दिया। पीछे जौनसा लड़का बाहिर गेरा गया था, उसको कुलदेवीने गौ का रूप करके पाला। जब आठ वर्ष का हुआ, तब इस ॐकार नगर के शिवभवन के अधिकारी भरटने देखा और अपना चेला बनां लिया।

एकदा आंखों से अंधे कान्यकुब्ज देश के राजाने दिग्विजय के कार्य से तहां पड़ाव करा। तब रात्रि में उस छोटे चेले को शिवभक्त व्यंतर देवताने कहा कि, शेष भोग राजा को देना, उसकी आंखें अच्छी हो जावेंगी। तैसे ही करा, तिससे राजा की आंखें अच्छी हो गई। तब राजाने सौ

गाम मंदिर के खरच वास्ते दिये, और यह बड़ा ऊंचा जो शिव का मंदिर है, सो भी उसीने बनवाया। और हम इस नगर में रहते हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टियों के बलवान् होने से हम जिनमंदिर बनाने नहीं पाते हैं। इस वास्ते आप से विनति करते हैं कि, इस मंदिर से अधिक हमारा मन्दिर यहां बने तो ठीक है, और आप सर्व तरें से समर्थ हैं। तिन का वचन सुन कर वादींद्रने अवंति में आकर चार श्लोक हाथ में ले कर विक्रमादित्य के द्वार पास आये। दरवाजेदार के मुख से राजा को कहलाया—

दिदृक्षुर्भिक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारवारितः।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोक उतागच्छतु गच्छतु ॥

तिस श्लोक को सुनकर विक्रमादित्यने बदले का यह श्लोक लिखकर भेजा—

दत्तानि दश लक्षाणि, शासनानि चतुर्दश।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोक उतागच्छतु गच्छतु ॥

तिस श्लोक को सुन कर आचार्यने कहला भेजा कि भिक्षु तुम को मिलना चाहता है, परन्तु धन नहीं लेता। तब राजाने सन्मुख बुलवाये और पिछान के कहने लगा कि गुरुजी, बहुत दिनों पीछे दर्शन दिया। तब आचार्य कहने लगे कि धर्मकार्य के करने से बहुत दिन हो गये, इस वास्ते चिर से आना हुआ है। अब चार श्लोक तुम सुनो—

अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः ? ।
मार्गणौघः समभ्येति, गुणो याति दिगंतरे ॥ १ ॥

सरस्वती स्थिता वक्त्रे, लक्ष्मीः करसरोरुहे ।
कीर्तिः किं कुपिता राजन् !, येन देशांतरं गता ? ॥२॥

कीर्तिस्ते जातजाड्येव, चतुरंभोधिमज्जनात्, ।
आतपाय धरानाथ ! गता मार्त्तंडमंडलम् ॥ ३ ॥

सर्वदा सर्वदोसीति, मिथ्या संस्तूयसे जनैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं, न वक्षः परयोपितः ॥ ४ ॥

यह चारों श्लोक सुन के राजा बहुत खुश हुआ, और आचार्य को कहने लगा कि जो मेरे राज्य में सार है, सो मांगो तो दे दूं। तब आचार्यने कहा कि मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिये। परन्तु ॐकार नगर में चतुर्द्वार जैनमंदिर शिव-मंदिर से ऊंचा बनाओ, और प्रतिष्ठा भी कराओ। तब राजा-ने वैसे ही करा। तब जिनमत की प्रभावना को देख के संघ तुष्टमान हुआ। इत्यादि प्रकार से जैनधर्म की प्रभावना करते हुए दक्षिण देश में प्रतिष्ठानपुर में जा कर अनशन करके देवलोक गये। तब तहां से संघने एक भट्ट को सिद्ध-सेन की गच्छ पास खबर करने को भेजा, तिस भट्टने सूरियों की सभा में आधा श्लोक पढा और बार बार पढता ही रहा। वो आधा श्लोक यह है:—

स्फुरंति वादिखद्योताः, सांप्रतं दक्षिणापथे ।

जब बार बार यह अर्ध श्लोक सुना तब सिद्धसेन की बहिन साध्वीने सिद्धसारस्वत मन्त्र से अर्द्ध श्लोक पूरा करा—

नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनो दिवाकरः ॥

पीछे तिस भट्टने सर्व वृत्तांत सुनाया तब संघ को बड़ा शोक हुआ । यह सिद्धसेन दिवाकर का प्रसंग से सम्बन्ध कथन करा ।

यह सुहस्ति आचार्य तीस वर्ष गृहस्थावास में रहे, और चौवीस वर्ष व्रतपर्याय, तथा छैतालीस वर्ष युगप्रधान पदवी, सब मिल कर एक सौ वर्ष की आयु भोग के महावीरजी से दो सौ एकानवे (२९१) वर्ष पीछे स्वर्ग गये; ये आठमे पाट पर आर्य महागिरि और सुहस्ति आचार्य हुए ।

९. श्री सुहस्तिसूरि के पाट ऊपर श्री सुस्थित और सुप्रतिबद्ध नामा दो शिष्य बैठे । तिनोंने क्रोड़ों बार सूरिमन्त्र का जाप करा, इस वास्ते गच्छ का 'कोटिक' ऐसा दूसरा नाम संघने रक्खा, क्योंकि सुधर्मास्वामी से लेकर आठ पाट तक तो अनगार निर्ग्रंथगच्छ नाम था, पीछे दूसरा कोटिक नाम हुआ ।

१०. श्री सुस्थितसूरि के पाट ऊपर श्री इंद्रदिन्नसूरि

हुआ। इस अवसर में महावीरजी से चार सौ त्रेपन (४५३) वर्ष पीछे गर्दभिल्ल राजा के उच्छेद करनेवाला दूसरा कालिकाचार्य हुआ। इस की कथा कल्पसूत्र में प्रसिद्ध है। और महावीर से ४५३ वर्ष पीछे भृगुकच्छ (भडौच) में श्री आर्य खपुटाचार्य विद्याचक्रवर्ती हुआ। इन का प्रबन्ध प्रबन्धचिंतामणि ग्रंथ तथा हारिभद्री आवश्यक की टीका से जान लेना। और प्रभावक चरित्र में ऐसा लिखा है कि, महावीर से ४८४ वर्ष पीछे खपुटाचार्य और ४६७ वर्ष पीछे आर्यमंगु, वृद्धवादी, पादलिप्त तथा कल्याणमन्दिर का कर्त्ता, ऊपर जिस का प्रवन्ध लिख आये हैं, सो सिद्धसेन दिवाकर हुआ। जिनोंने विक्रमादित्य को जैनधर्मी करा। सो विक्रमादित्य महावीर से ४७० वर्ष पीछे हुआ। सो ४७० वर्ष ऐसे हुये हैं:—

विक्रमादित्य का समय

जिस रात्रि में श्री महावीर का निर्वाण हुआ, उस दिन अवन्ति नगरी में पालक नामा राजा को राज्याभिषेक हुआ। यह पालक चंद्रप्रद्योत का पोता था। तिसका राज्य ६० वर्ष रहा। तिसके पीछे श्रेणिक का बेटा कोणिक और कोणिक का बेटा उदायी, जब बिना पुत्र के मरा तब तिस की गद्दी ऊपर नंद नामा नाई बैठा। तिनकी गद्दी में सर्व नंद नामा नव राजे हुए। तिनका राज्य १५५ वर्ष तक रहा। नवमें नंद की गद्दी ऊपर मौर्यवंशी चंद्रगुप्त राजा

हुआ। तिसका बेटा बिंदुसार, तिसका बेटा अशोक, तिसका बेटा कुणाल, तिसका बेटा सम्प्रति महाराजादि हुए। इन मौर्यवंशियों का सर्व राज १०८ वर्ष तक रहा। यह पूर्वोक्त सर्व राजे प्रायः जैनमतवाले थे। तिनके पीछे तीस वर्ष तक पुष्यमित्र राजा का राज्य रहा। तिस पीछे बलमित्र, भानुमित्र, इन दोनों राजाओं का राज्य ६० वर्ष तक रहा, तिस पीछे नभवाहन राजा का राज्य ४० वर्ष तक रहा, तिस पीछे तेरां वर्ष गर्दभिल्ली का राज्य रहा, और चार वर्ष शकों का राज्य रहा, पीछे विक्रमादित्यने शकों को जीत के अपना राज्य जमाया। यह सर्व ४७० वर्ष हुए।

११. श्री इन्द्रदिन्नसूरि के पाट ऊपर श्री दिन्नसूरि हुये।

१२. श्री दिन्नसूरि के पाट ऊपर श्री सिंहगिरिसूरि हुये।

१३. श्री सिंहगिरिजी के पाट ऊपर वज्रस्वामीजी हुये।

श्री वज्रस्वामी

जिनको बाल्यावस्था से जातिस्मरण ज्ञान था, जिन को आकाशगमन विद्या भी थी; जिनोंने दूसरे बारां वर्षी काल में संघ की रक्षा करी। तथा जिनोंने दक्षिणपथ में बौधों के राज्य में जिनेंद्र पूजा वास्ते फूल ला के दिये, बौद्ध राजा को जैनमती करा। यह आचार्य पिछला दश पूर्व का पाठक हुआ। जिनोंसे हमारी वज्री शाखा उत्पन्न हुई। इनका प्रबन्ध आवश्यक वृत्ति से जान लेना। सो वज्रस्वामी महावीर से पीछे चार सौ छयानवे और विक्रमादित्य के संवत् छब्बीस

में जन्मे, और आठ वर्ष घर में रहे, चौतालीस वर्ष समान साधुव्रत में रहे, और छत्तीस वर्ष युगप्रधान पदवी में रहे, सर्वायु अठासी वर्ष की भोगी। तथा इन आचार्य के समय में जावड़शाह सेठने शत्रुंजय तीर्थ का संवत् १०८ में तेरहवां वड़ा उद्धार करा, तिसकी वज्रस्वामीने प्रतिष्ठा करी। यह वज्रस्वामी महावीर से ५०४ वर्ष पीछे स्वर्ग गये। इन वज्रस्वामी के समय में दशमा पूर्व और चौथा संहनन और चौथा संस्थान व्यवच्छेद हो गये।

यहां श्री सुहस्तिसूरि आठमे और वज्रस्वामी तेरहवें पाट के वीच में अपर पटावलियों में—१. गुणसुन्दरसूरि, २. कालिकाचार्य, ३. स्कंदिलाचार्य, ४. रेवतमित्रसूरि, ५. धर्मसूरि, ६. भद्रगुप्ताचार्य, ७. गुप्ताचार्य, यह सात क्रम से युगप्रधान आचार्य हुये। तथा श्रीमहावीर से पांच सौ तेतीस (५३३) वर्ष पीछे श्रीआचार्य रक्षितसूरिने सर्व शास्त्रों का अनुयोग पृथग् पृथग् कर दिया। यह प्रवंध आवश्यक वृत्ति से जान लेना। तथा श्री महावीर से ५४८ वर्ष पीछे त्रैराशि के जीतनेवाले श्रीगुप्तसूरि हुये, तिनका प्रवन्ध उत्तराध्ययन की वृत्ति तथा विशेषावश्यक से जान लेना। जिसने त्रैराशिक मत निकाला तिसका नाम रोहगुप्त था, वो गुप्तसूरि का चेला था, जिसका उल्लूक गोत्र था। जब रोहगुप्त गुरु के आगे हारा, और मत कदाग्रह न छोड़ा, तब अंतरंजिका नगरी के वलश्री राजाने अपने राज्य से वाहिर निकाल दिया।

तब तिस रोहगुप्तने कणाद नाम शिष्य करा। उसको—१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, इन षट् पदार्थों का स्वरूप बतलाया, तब तिस कणादने वैशेषिक सूत्र बनाये, तहां से वैशेषिक मत चला।

श्रीवज्रसेनसूरि

१४. श्रीवज्रस्वामी के पाट ऊपर चौदवें वज्रसेनसूरिजी बैठे। वे दुर्भिक्ष में वज्रस्वामी के वचन से सोपारक पत्तन में गये। तहां जिनदत्त के घर में ईश्वरी नामा तिसकी भार्याने लाख रूपक के खरचने से एक हांडी अन्न की रांधी। जिस में विष (जहर) डालने लगी। क्योंकि उनोंने विचारा था कि अन्न तो मिलता नहीं, तिस वास्ते जहर खाके सर्व घर के आदमी मर जायेंगे। तिस अवसर में वज्रसेनसूरि तहां आये। वो उनको कहने लगे कि तुम जहर मत खाओ, कल को सुकाल हो जावेगा। तैसे ही हुआ। तब तिन सेठ के चार पुत्रोंने दीक्षा लीनी, तिन के नाम लिखते हैं:—१. नागेंद्र, २. चन्द्र, ३. निवृत्त, ४. विद्याधर। तिन चारों से स्व स्व नाम के चार कुल बने। यह वज्रसेनसूरि नव वर्ष तक गृहस्थावास में रहे, और ११६ वर्ष समान साधुव्रत में रहे, तथा तीन वर्ष युगप्रधान पदवी में रहे, सर्व आयु १२८ वर्ष की भोग के महावीर से ६२० वर्ष पीछे स्वर्ग गये।

यहां श्रीवज्रस्वामी और वज्रसेनसूरि के बीच में आर्य रक्षितसूरि तथा दुर्बलिकापुष्य सूरि, यह दोनों युगप्रधान

हुये। महावीर से ५८४ वर्ष पीछे सातवां निन्हव हुआ। तथा महावीर से ६०९ वर्ष पीछे कृष्णसूरि का शिष्य शिवभूति नामक था, तिसने दिगंबर मत प्रवृत्त करा, सो अधिकार विशेषावश्यकादिकों से जान लेना।

१५. श्रीवज्रसेनसूरि के पाट ऊपर चन्द्रसूरि बैठा। तिनके नाम से गच्छ का तीसरा नाम चंद्रगच्छ हुआ।

१६. श्रीचन्द्रसूरि के पाट ऊपर सामंतभद्रसूरि हुये। वे पूर्वगत श्रुत के जानकार थे। वैराग के रंग से निर्मल हुए जङ्गलों में रहते थे। तब लोगोंने चन्द्रगच्छ का नाम वनवासीगच्छ रक्खा।

१७. श्रीसामंतभद्र सूरि के पाट ऊपर वृद्धदेवसूरि हुये। तथा महावीर से ५९५ वर्ष पीछे कोरंट नगर में नाहड नामा मंत्रीने तथा सत्यपुर में नाहड मन्त्रीने मंदिर बनवाया, प्रतिमा की प्रतिष्ठा जज्जकसूरिने करी, प्रतिमा महावीर की स्थापन करी, जिस को "जयउ वीरसच्चउरिमंडण" कहते हैं।

१८. श्रीवृद्धदेवसूरि के पाट ऊपर प्रद्योतनसूरि हुये।

१९. श्री प्रद्योतनसूरि के पाट ऊपर मानदेवसूरि हुये।

श्रीमानदेव

इन के सूरिपद स्थापनावसर में दोनों स्कंधों पर सरस्वती और लक्ष्मी साक्षात् देख के यह चारित्र से भ्रष्ट हो जावेगा, ऐसा विचार करके खिन्नचित्त गुरु को जान के गुरु के आगे ऐसा नियम

करा कि भक्तिवाले घर की भिक्षा और दूध, दहीं, घृत, मीठा, तेल, अरु सर्व पक्वान्न का त्याग किया। तव तिनके तप के प्रभाव से नडोलपुर जो पाली के पास है, तिस में—१. पद्मा, २. जया, ३. विजया, ४. अपराजिता ये चार नाम की चार देवी सेवा करती देखीं। कोई मूर्ख कहने लगा कि यह आचार्य स्त्रियों का संग क्यों करता है? तव तिन देवियोंने तिसको शिक्षा दीनी। तथा तिसके समय में तक्षिला (गजनी) नगरी में वहुत श्रावक थे, तिन में मरी का उपद्रव हुआ। तिसकी शांति के वास्ते मानदेवसूरिने नडोल नगरी से शांतिस्तोत्र बना कर भेजा।

श्रीमानतुंगसूरि

२०. श्री मानदेवसूरि के पाट ऊपर मानतुंगसूरि हुये, जिनोंने भक्तामर स्तवन करके बाण अरु मयूर पंडितों की विद्या करके चमत्कृत हुआ जो वृद्ध भोजराजा तिनको प्रतिबोधा, और भयहर स्तवन करके नाग राजा वश करा। तथा भत्तिभरेत्यादि स्तवन जिनोंने करे हैं। प्रभावक चरित्र में प्रथम मानतुंगसूरि का चरित्र कहा है और पीछे देवसूरि के शिष्य प्रद्योतनसूरि, तिनके शिष्य मानदेवसूरि का प्रवंध कहा है। परन्तु तहां शंका न करनी चाहिये, क्योंकि प्रभावक चरित्र में और भी कई प्रवन्ध आगे पीछे कहे हैं।

२१. श्रीमानतुंगसूरि के पाट ऊपर वीरसूरि वैठा। तिस वीरसूरिने महावीर से ७७० वर्ष पीछे तथा विक्रम

संवत् के तीन सौ वर्ष पीछे नागपुर में श्री नमि अर्हंत की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करी । यदुक्तं—

नागपुरे नमिभवनप्रतिष्ठया महितपाणिसौभाग्यः ।
अभवद्वीराचार्यस्त्रिभिः शतैः साधिके राज्ञः ॥

२२. श्रीवीरसूरि के पाट ऊपर जयदेवसूरि बैठे ।

२३. श्रीजयदेवसूरि के पाट ऊपर देवानंदसूरि बैठे । इस अवसर में महावीर से ८४५ वर्ष पीछे वल्लभी नगरी भंग हुई, तथा ८८२ वर्ष पीछे चैत्य स्थिति, तथा ८८६ वर्ष पीछे ब्रह्मद्वीपिका ।

२४. श्रीदेवानंदसूरि के पाट ऊपर विक्रमसूरि बैठे ।

२५. श्रीविक्रमसूरि के पाट ऊपर नरसिंहसूरि बैठे, यतः—

नरसिंहसूरिरासीदतोऽखिलग्रंथपारगो येन ।
यक्षो नरसिंहपुरे, मांसरतिस्त्याजितः स्वगिरा ॥

२६. श्रीनरसिंहसूरि के पाट ऊपर समुद्रसूरि बैठा ।

खोमीणराजकुलजोऽपि समुद्रसूरि-
गच्छं शशास किल यः प्रवणः प्रमाणी ।
जित्वा तदाक्षपणकान् स्ववशं वितेने,
नागह्रदे भुजगनाथनमस्यतीर्थम् ॥

२७. श्रीसमुद्रसूरि के पाट ऊपर मानदेवसूरि हुए ।

विद्यासमुद्रहरिभद्रमुनींद्रमित्रं,
सूरिर्बभूव पुनरेव हि मानदेवः ।
मांद्यात्प्रयातमपि योनघसूरिमंत्रं,
लेभेंबिकामुखगिरा तपसोज्जयंते ।

श्रीमहावीर से एक हज़ार वर्ष पीछे सत्यमित्र आचार्य के साथ पूर्वों का व्यवच्छेद हुआ। यहां १. नागहस्ति, २. रेवतीमित्र, ३. ब्रह्मद्वीप, ४. नागार्जुन, ५. भूतदिन्न, ६. कालिकसूरि, ये छ युगप्रधान यथाक्रम से वज्रसेनसूरि और सत्यमित्र के वीच में हुए। इन पूर्वोक्त छ युगप्रधानों में से शक्राभिवंदित और प्रथमानुयोग सूत्रों का सूत्रधार कल्प कालिकाचार्य ने महावीर से ९९३ वर्ष पीछे पंचमी से चौथ की संवत्सरी करी। तथा महावीर से १०५५ वर्ष पीछे और विक्रमादित्य से ५८५ वर्ष पीछे याकनी साध्वी का धर्मपुत्र हरिभद्रसूरि स्वर्गवास हुए। तथा १११५ वर्ष पीछे जिनभद्रगणि युगप्रधान हुआ। और यह जिनभद्रीय ध्यान-शतक का कर्ता होने से और हरिभद्रसूरि के टीका करने से दूसरा जिनभद्र है, यह कथन पट्टावलि में है। परन्तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण की आयु १०४ वर्ष की थी, इस वास्ते जेकर हरिभद्रसूरि के वक्त में जीते होवें तो भी विरोध नहीं।

२८. श्रीमानदेवसूरि के पाट ऊपर विबुधप्रभसूरि हुआ।

२९. श्रीविबुधप्रभसूरि के पाट ऊपर जयानंदसूरि हुआ।

३०. श्रीजयानंदसूरि के पाट ऊपर रविप्रभसूरि हुआ। तिसने महावीर से ११७० वर्ष पीछे और विक्रमसंवत् से ७०० वर्ष पीछे नडोल नगर में नेमिनाथ के प्रासाद—मंदिर की प्रतिष्ठा करी। तथा वीर से ११९० वर्ष पीछे उमास्वाति युगप्रधान हुआ।

३१. श्रीरविप्रभसूरि के पाट ऊपर श्री यशोदेवसूरि बैठे। यहां महावीर से १२७२ वर्ष पीछे और विक्रम सम्वत् से ८०२ के साल में अणहलपुर पट्टन वनराज राजाने वसाया। वनराज जैनी राजा था। तथा वीर से १२७० और विक्रमादित्य के सम्वत् ८०० के साल में भाद्रपद शुक्ल तीज के दिन बप्पभट्ट आचार्य का जन्म हुआ, जिसने गवालियर के आम नाम राजा को जैनी वनाया। इन का विशेष चरित्र प्रबन्धचिंतामणि ग्रन्थ से जान लेना।

३२. श्रीयशोदेवसूरि के पाट ऊपर प्रद्युम्नसूरिजी हुआ।

३३. श्रीप्रद्युम्नसूरि के पाट ऊपर मानदेवसूरि उपधानवाच्यग्रन्थ का कर्त्ता हुआ।

३४. श्री मानदेवसूरि के पाट ऊपर विमलचन्द्रजीसूरि हुए।

३५. श्रीविमलचन्द्रसूरि के पाट ऊपर उद्योतनसूरि हुआ, सो उद्योतनसूरि अर्बुदाचल—आबू के पहाड़ ऊपर यात्रा करने आये थे, वहां टेली गाम के पास बडे बड़वृक्ष की छाया

श्रीउद्योतनसूरि

में बैठे थे, अपने पाट की वृद्धि वास्ते अच्छा मुहूर्त देख करके महावीर से १४६४ वर्ष और विक्रम से ६६४ वर्ष पीछे अपने पाट ऊपर सर्वदेव प्रमुख आठ आचार्य स्थापे। कोई एकले सर्वदेवसूरि को ही कहते हैं। बडे वड़ के हेठ सूरि-पदवी देने के कारण तहां से वनवासी गच्छ का पांचमा नाम वडगच्छ हुआ। तथा—

प्रधानशिष्यसंतत्या ज्ञानादिगुणैः प्रधानचरितैश्च वृद्धत्वाद्वृहद्गच्छ इत्यपि।

३६. श्रीउद्योतनसूरि के पाट ऊपर सर्वदेवसूरि हुए।

श्रीसर्वदेवसूरि

यहां कोई एक तो प्रद्युम्नसूरि और उपधान ग्रन्थ का कर्त्ता मानदेवसूरि, इन दोनों को पट्टधर नहीं मानते हैं। तिनके अभिप्राय से सर्वदेवसूरि चौतीसमे पाट पर हुआ, उस सर्वदेवसूरिने गौतम-स्वामी की तरें सुशिष्य लब्धिमान् विक्रमसंवत् से १०१० वर्ष पीछे रामसैन्य पुर में श्री ऋषभचैत्य तथा श्री चन्द्र-प्रभचैत्य की प्रतिष्ठा करी। तथा चन्द्रावती में कुंकणमन्त्री को प्रतिबोध के दीक्षा दीनी तिसने ही चन्द्रावती में जैनमन्दिर वनवाया था।

तथा विक्रम से १०२६ वर्ष पीछे धनपाल पण्डितने देशीनाममाला बनाई। तथा विक्रम से १०६६ वर्ष पीछे उत्तराध्ययन की टीका करनेवाला थिरापद्रीयगच्छ में वादी वैताल शांतिसूरि हुये।

३७. श्री सर्वदेवसूरि के पाट ऊपर देवसूरि हुए, तिन को रूपश्री ऐसा राजाने विरुद दिया।

३८. श्री देवसूरि के पाट ऊपर फिर सर्वदेवसूरि हुए, जिसने यशोभद्र, नेमिचंद्रादि आठ आचार्यों को आचार्य पदवी दीनी। तथा महावीर से १४९६ वर्ष पीछे तक्षिला का नाम गजनी रक्खा गया।

३९. श्री सर्वदेवसूरि के पाट ऊपर यशोभद्र अरु नेमिचंद्र ये दो गुरु भाई आचार्य हुये। तथा विक्रम से ११३५ वर्ष पीछे [कोई कहता है कि ११३९ वर्ष पीछे] नवांगीवृत्ति करनेवाला श्री अभयदेवसूरि स्वर्गवासी हुये। तथा कूर्चपुरगच्छीय चैत्यवासी जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभसूरिने चित्रकूट में महावीर के षट् कल्याणक प्ररूपे।

श्री मुनिचन्द्रसूरि

४०. श्री यशोभद्रसूरि तथा नेमिचन्द्रसूरि के पाट ऊपर मुनिचन्द्रसूरि हुये। जिनोंने जावजीव एक सौ वार पानी पीना रक्खा, और सर्व विगय का त्याग करा। तथा जिनोंने हरिभद्रसूरिकृत अनेकांतजयपताकादि अनेक ग्रन्थों की पंजिका करी, उपदेशपद की वृत्ति, योगबिंदु की वृत्ति, इत्यादिकों के करने से तार्किकशिरोमणि जगत् में प्रसिद्ध हुए। और यह आचार्य बड़ा त्यागी और निःस्पृह हुआ। यहां विक्रम राजा से ११५९ वर्ष पीछे चन्द्रप्रभ से पौर्णिमीयक मत की

उत्पत्ति हुई। तिस चन्द्रप्रभ के प्रतिबोधने वास्ते मुनिचन्द्र-सूरिजीने पाक्षिकसप्ततिका करी।

तथा श्री मुनिचन्द्रसूरि का शिष्य अजितदेवसूरि वादी अरु देवसूरि प्रमुख हुये। तहां वादी अजित-देवसूरिजीने अणहलपुर पाटन में जय-सिंहदेव राजा की अनेक विद्वज्जनसंयुक्त सभा में चौरासी वाद वादियों से जीते। दिगम्बरमत के चक्रवर्त्ती कुमुदचन्द्र आचार्य को जिनोंने वाद में जीता, और दिगम्बरों का पट्टन में प्रवेश करना बंद कराया। सो आज तक प्रसिद्ध है। तथा विक्रम से १२०४ वर्ष पीछे फल-वर्द्धिग्राम में चैत्यबिंब की प्रतिष्ठा करी, सो तीर्थ आज भी प्रसिद्ध है। तथा आरासणे में नेमिनाथ की प्रतिष्ठा करी। तथा जिनोंने ८४००० चौरासी हजार श्लोकप्रमाण स्याद्वा-दरत्नाकर नामा ग्रन्थ बनाया, तथा जिनों से बड़े नामावर चौवीस आचार्यों की शाखा हुई। इनों का जन्म संवत् ११३४ में हुआ, सं० ११५२ में दीक्षा लीनी, सं० ११७४ में सूरिपद मिला, सं० १२२० की श्रावण कृष्ण सप्तमी गुरुवार स्वर्ग को प्राप्त हुये।

श्री अजितदेवसूरि

तिनों के समय में देवचन्द्रसूरि का शिष्य तीन क्रोड़ ग्रन्थ का कर्त्ता, कलिकाल में सर्वज्ञ विरुद का धारक, पाटण के राजा कुमारपाल का प्रतिबोधक, सवा लक्ष श्लोकप्रमाण पंचांग व्याकरण का कर्त्ता श्री हेमचन्द्रसूरि विद्या-

श्री हेमचन्द्रसूरि

समुद्र हुआ। तिनका विक्रमसंवत् ११४५ में जन्म, ११५० में दीक्षा, ११६६ में सूरिपद अरु १२२९ में स्वर्गवास हुआ। इनों का सम्पूर्ण प्रबन्ध देखना होवे, तदा श्री प्रबन्धचिंतामणि तथा कुमारपालचरित्र देख लेना।

४१. श्री मुनिचन्द्रसूरि के पाट ऊपर अजितदेवसूरि हुये। तिनों के समय में संवत् १२०४ में खरतरोत्पत्ति, संवत् १२३३ में आंचलिकमतोत्पत्ति, संवत् १६३६ में सार्द्धपौर्णिमीयक मतोत्पत्ति, संवत् १२५० में आगमिक मतोत्पत्ति हुई। तथा वीरभगवान् से १६९२ वर्ष पीछे वाग्भट मन्त्रीने शत्रुंजय का चौदहवां उद्धार कराया, साढे तीन क्रोड़ रूपक लगाया।

४२. श्री अजितदेवसूरि के पाट ऊपर विजयसिंहसूरि हुये, जिनोंने विवेकमंजरी शुद्ध करी। जिनोंका बड़ा शिष्य सोमप्रभसूरि शतार्थितया प्रसिद्ध था अर्थात् जिनों के बनाये एक एक श्लोकों के सौ सौ तरे के अर्थ निकलें, और दूसरा मणिरत्नसूरि था।

४३. श्री विजयसिंहसूरि के पाट ऊपर सोमप्रभसूरि और मणिरत्नसूरि हुये।

४४. श्री सोमप्रभ तथा मणिरत्नसूरि के पाट ऊपर जगच्चन्द्रसूरि हुये। जिनोंने अपने गच्छ को शिथिल देख के और गुरु की आज्ञा से वैराग्य रस के समुद्र चैत्रवाल गच्छीय देवभद्र उपाध्याय की सहाय से क्रिया का उद्धार

श्री जगच्चन्द्रसूरि और तपागच्छ

किया, और हीरला जगच्चंद्रसूरि बिरुद पाया । क्योंकि जिनोंने चित्तौड़ के राजा की राजधानी अघाट अर्थात् अहड़ में बत्तीस दिगम्बराचार्यों के साथ वाद किया, हीरे की तरे अमेद्य रहे । तब राजाने हीरला जगच्चंद्रसूरि ऐसा विरुद दिया । तथा जिनोंने यावज्जीव आचाम्लतप का अभिग्रह करा । जब बारा वर्ष तप करते बीते, तब चित्तौड़ के रानाने तपा बिरुद दिया । संवत् १२८५ के वर्ष में वडगच्छ का नाम तपगच्छ हुआ, यह छठा नाम हुआ ।

१. निर्ग्रन्थ, २. कोटिक, ३. चन्द्र, ४. वनवासी, ५. वड-गच्छ, ६. तपागच्छ, इन छ नामों के प्रवृत्त होने में छ आचार्य कारण हुये हैं, तिनके नाम अनुक्रम से लिखते हैं:— १. श्री सुधर्मास्वामी, २. श्री सुस्थितसूरि, ३. श्री चन्द्र सूरि, ४. श्री सामंतभद्रसूरि, ५. श्री सर्वदेवसूरि, ६. श्री जगच्चन्द्रसूरि ।

श्री जगच्चन्द्रसूरि पट्टे देवेन्द्रसूरि हुए । सो मालवे की उज्जैन नगरी में जिनचंद्र नामा वड़े सेठ का वीरधवल नामा पुत्र, तिसके विवाह निमित्त महोत्सव हो रहा था, तब वीरधवल कुमार को प्रतिबोध करके संवत् १३०२ में दीक्षा दीनी, तिस पीछे तिसके भाई को भी दीक्षा दे कर चिरकाल तक मालव देश में विचरे । तिस पीछे गुर्जर देश में श्री देवेन्द्रसूरि

श्रीदेवेन्द्रसूरि तथा श्रीविजयचन्द्रसूरि

स्थंभतीर्थ में आये । तहां पहिले श्री विजयचंद्रसूरि गीतार्थों को पृथक् पृथक् वस्त्र के पोटले देता है, और नित्य विगय खाने की आज्ञा देता है, और वस्त्र धोने की तथा फल, शाक लेने की और निर्विकृत के प्रत्याख्यान में विगयगत का लेना कहता है । और आर्या का लाया आहार साधु खावे, यह आज्ञा देता है, और दिन प्रति द्विविध प्रत्याख्यान और गृहस्थों के अवर्जने वास्ते प्रतिक्रमण करने की आज्ञा देता है । और संविभाग के दिन में तिसके घर में गीतार्थ जावे, लेप की संनिधि रखनी, तत्कालोष्णोदक का ग्रहण करना, इत्यादि काम करने से कितनेक साधु शिथिलाचार्यों को साथ लेकर सदोष पौषधशाला में रहता था ।

इन विजयचंद्राचार्य की उत्पत्ति ऐसे है । मंत्री वस्तुपाल के घर में विजयचंद्र नामा दफतरी था । वो किसी अपराध से जेलखाने में कैद हुआ, तब देवभद्र उपाध्यायने दीक्षा की प्रतिज्ञा करवा कर छुड़ा दिया । पीछे तिसने दीक्षा लीनी । सो बुद्धिबल से बहुश्रुत हो गया । तब मंत्री वस्तुपालने कहा कि ये अभिमानी हैं, इस वास्ते सूरि पद के योग्य नहीं हैं । इस तरह मना करने पर भी जगच्चंद्रसूरिजीने देवभद्र उपाध्याय के कहने से सूरि पद दे दिया । यह देवेन्द्रसूरि का सहायक होवेगा, ऐसा जान कर सूरि पद दिया । पीछे वह विजयचंद्र बहुत काल तक देवेंद्रसूरि के साथ विनयवान् शिष्य की तरह वर्त्तता रहा । परन्तु जब मालव देश से देवेंद्र-

सूरि आये, तव वंदना करने को भी नहीं आया। तव देवेंद्र-सूरिजीने कहला भेजा कि एक वस्ती में तुम वारह वर्ष कैसे रहे? तव विजयचंद्रने कहा कि शांत दांतों को वारह वर्ष एक जगह में रहने से कुछ दोष नहीं। संविग्नसाधु सर्व देवेंद्र-सूरि के साथ रहे, और देवेंद्रसूरिजी तो अनेक संविग्न साधु समुदाय के साथ उपाश्रय में ही रहे। तव लोकोंने वडी शाला में रहने से विजयचंद्रसूरि के समुदाय का नाम वृद्ध पौशालिक रक्खा और देवेंद्रसूरिजी के समुदाय का लघुपौं-शालिक नाम दिया। और स्थंमतीर्थ के चौक में कुमारपाल के विहार में धर्मदेशना में मंत्री वस्तुपालने चारों वेदों का निर्णय दायक, स्वसमय परसमय के जानकार देवेंद्रसूरिजी को वंदना दे के बहुमान दिया। और देवेंद्रसूरिजी विजयचंद्र की उपेक्षा करके विचरते हुये क्रम से पाल्हणपुर में आये। तहां चौरासी इभ्य सेठ अनेक पुरुषों के साथ परिवरे, सुखासन ऊपर वैठे हुये शास्त्र के वड़े श्रोता व्याख्यान सुनने आते थे। और पालनपुर के विहार में रोज की रोज एक मूढक प्रमाण अक्षत और सोलह मन सोपारी दर्शन करनेवाले श्रावकों की चढ़ाई चढ़ती थी, इत्यादि। वड़े धर्मी लोगोंने गुरु को विनति करी कि हे भगवन्! यहां आप किसी को आचार्य पदवी देकर हमारा मनोरथ पूरा करो। तव गुरुने उचित जान के पालनपुर में विक्रम संवत् १३२३ में विद्यानंदसूरि नाम दे के वीरधवल को सूरिपद दीना, और

तिसके अनुज भीमसिंह को धर्मकीर्ति उपाध्याय की पदवी दीनी । तिस अवसर में प्रह्लादनविहार के सौवर्ण कपि-शीर्ष मंडप से कुंकुम की वर्षा हुई, तब सर्व लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ । श्री विद्यानंदसूरिने विद्यानंद नाम नवीन व्याकरण बनाया । यदुक्तम्—

> विद्यानंदाभिधं येन कृतं व्याकरणं नवम् ।
> भाति सर्वोत्तम स्वल्पसूत्रं बह्वर्थसंग्रहम् ॥

पीछे श्री देवेंद्रसूरिजी फिर मालवे को गये । देवेंद्रसूरिजी के करे हुये ग्रंथों का नाम लिखते हैं:—१. श्राद्धदिन-कृत्यसूत्रवृत्ति, २. नव्यकर्मग्रंथपंचकसूत्रवृत्ति, ३. सिद्धपंचा-शिकासूत्रवृत्ति, ४. धर्मरत्नवृत्ति, ५. सुदर्शनचरित्र, ६. तीन भाष्य, ७. वृंदारुवृत्ति, ८. सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन । कोई कहते हैं कि श्राद्धदिनकृत्यसूत्र तो चिरंतन आचार्यों का करा है । विक्रम संवत् १३२७ में मालवदेश में देवेंद्र-सूरि स्वर्गवासी हुए । दैवयोग से विद्यापुर में तेरह दिन पीछे श्री विद्यानंदसूरि भी स्वर्गवासी हुये । तब छ मास पीछे सगोत्रसूरिने श्री विद्यानंदसूरि के भाई धर्मकीर्त्ति उपाध्याय को सूरिपद दे के धर्मघोषसूरि नाम दिया ।

श्री धर्मघोषसूरि

श्री देवेंद्रसूरि के पाट ऊपर श्री धर्मघोषसूरि हुए, जिन्होंने मंडपाचल में शा० पृथवीधर को पंचमाणु-व्रत लेते हुए ज्ञान से निषेध करा । क्योंकि

आचार्यने ज्ञान से जाना कि इस पुरुष के व्रत का भंग हो जावेगा, इस भय से निषेध करा। पीछे वो पृथ्वीधर मंडपाचल के राजा का मन्त्री हुआ, और धन करके तो धनद समान हो गया। पीछे तिसने चौरासी जिनमन्दिर और सात ज्ञान की पुस्तकों के भण्डार बनाये। और शत्रुंजय में इक्कीस घडी प्रमाण सोना खरच के रूपामय श्री ऋषभदेवजी का मंदिर बनवाया। कोई कहते हैं कि छप्पन घडी सुवर्ण खरच के इन्द्रमाला पहरी। तथा धरती नगर में किसी साधर्मीने ब्रह्मचारी का वेष देने के अवसर में पृथ्वीधर को महाधनाढ्य जान के तिसकी भेट करा। तब पृथ्वीधरने वही वेष लेकर तिस दिन से बत्तीस वर्ष की उमर में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करा। तिसके एक ही जांजण नामक पुत्र था, जिसने शत्रुंजय, उज्जयन्तगिरि के शिखर ऊपर बारह योजन प्रमाण सुवर्ण रूपामय एक ही ध्वजा चढ़ाई। जिसने सारंगदेव राजा से कपूर का महसूल छुडाया, तथा जिसने मंडपाचल में बहत्तर हजार (७२०००) रूपक गुरु के प्रवेश के उत्सव में खरच करे।

तथा श्री धर्मघोषसूरिने देवपत्तन में शिष्यों के कहने से मंत्रमय स्तुति बनाई। तथा देवपत्तन में जिनों के स्वध्यान के बल से नवीनोत्पन्न हुये कपर्दी यक्षने वज्रस्वामी के माहात्म्य से पुराने कपर्दी मिथ्यादृष्टि को निकाला था। इनोंने उसको प्रतिबोध के जैनबिंबों का अधिष्ठाता करा।

तथा जिनोंके आगे समुद्र के अधिष्ठाताने अपने समुद्र की तरंगों से रत्न ढौकन करे। एक समय किसी दुष्ट स्त्रीनें कार्मण संयुक्त बडे बना कर साधुओं को दिए, परन्तु धर्मघोषसूरिजीने वे बडे धरती ऊपर गिराए, अरु उस स्त्री को मन्त्र से पकड़ा। पीछे जब बहु दुःखी हुई, तब दया करके छोड़ दीनी। तथा विद्यापुर में पक्षांतरियों की स्त्रियोंने धर्मघोषजी के व्याख्यान रस के भंग करने वास्ते कण्ठ में मन्त्र से केश गुच्छक कर दिया। पीछे धर्मघोषसूरिजीने जब जाना, तब तिन स्त्रियों को स्तंभन कर दिया। तब तिन स्त्रियोंने विनति करी कि आज पीछे हम तुमारे गच्छ को उपद्रव न करेंगी। तब गुरुजीने संघ के बहुत आग्रह से छोडीं।

तथा उज्जयिनी में एक योगी जैन के साधुओं को रहने नहीं देता था। जब धर्मघोषसूरि तहां आये, तब उस योगीने साधुओं को कहा कि अब तुम इहां आये हो सो तकड़े हो कर रहना। तब साधुओंने कहा कि हम भी देखेंगे कि तू क्या करेगा? पीछे उसने साधुओं को दांत दिखलाये, तब साधुओंने कफोणि (कूहनी) दिखलाई। पीछे साधुओंने जा कर यह सर्व समाचार अपने गुरु को कहा। वहां योगीने भी धर्मशाला में विद्या के बल से बहुत चूहे बना दिये; तब साधु बहुत डरे। पीछे गुरुजीने घडे का मुख वस्त्र से ढांक के ऐसा मन्त्र जपा कि जिस से योगी आराटि

करता हुआ आ के पाओं में पड़ा, और अपने अपराध की क्षमापना मांगी। तथा किसी नगर में शाकनियों के भय से मन्त्र के कपाट दिये जाते थे। एक दिन विना मन्त्रे कपाट दिये गये, तब रात्रि को शाकनियोंने उपद्रव करा। गुरुने उनको विद्या से स्तंभित करा। एकदा रात्रि में गुरु को सर्प के काटने से जब जहर चढ़ा, तब गुरुने संघ को विधुर देख के कहा कि दरवाजे में किसी पुरुष के मस्तक पर काष्ठ की भरी में विषापहार एक वेलडी आवेगी। वो वेलड़ी घस के डंक में देनी, उस से जहर उतर जायगा। संघने तैसे ही करा, गुरुजी राजी हो गये। पीछे तिस दिन से जावजीव छ विगय का त्याग करा, और सदा जुवार की रोटी नीरस जान के खाते रहे।

श्री धर्मघोषसूरिजी के करे ये ग्रंथ हैं:—१. संघाचारभाष्यवृत्ति, २. सुअधम्मेतिस्तव, ३. कायस्थिति भवस्थिति, ४. चौवीस तीर्थंकरों के चौवीस स्तवन, तथा ५. स्स्ताशर्मेत्यादिस्तोत्र, ६. देवेंद्रैरनिशमिति श्लेषस्तोत्र, ७. यूयं युवा त्वमिति श्लेषस्तुतियां, ८. जयवृषभेत्यादि स्तुति। यह जयवृषभेत्यादि स्तुति करने का यह निमित्त था कि एक मन्त्रीने आठ यमक काव्य करके कहा कि, ऐसे काव्य अब कोई नहीं बना सकता, तब गुरुने कहा कि नास्ति नहीं। तब तिसने कहा तो हम को कर दिखलाओ। तब गुरुजीने जयवृषभेत्यादि छ स्तुति एक रात्रि में बना

कर भीतों पर लिख के दिखाई। तब तिसने वड़ा चमत्कार पाया। गुरुजीने तिसको प्रतिबोध के जैनी करा, ये धर्मघोषसूरि विक्रम सम्वत् १३५७ में स्वर्ग गये।

४७. श्री धर्मघोषसूरि पट्टे श्री सोमप्रभसूरि हुये, जिनोंने नमिऊण भणइ एवमित्यादि आराधना
श्री सोमप्रभसूरि सूत्र करा। तिनका सम्वत् १३१० में जन्म, १३२१ में दीक्षा, १३३२ में सूरिपद। जिनों के ग्यारह अंग सूत्रार्थ कण्ठ थे, तथा "गुरुभिर्गीयमानायां मन्त्रपुस्तिकायां यच्छतचरित्रं मंत्रपुस्तिकां च" ऐसा कह कर तिस मन्त्रपुस्तिका को ग्रहण करा, क्योंकि अपर कोई योग्य नहीं था। इस सोमप्रभसूरिने जलकुंकणदेश में अप्काय की विराधना के भय से, और मरुदेश में शुद्धजल की दुर्लभता से साधुओं का विहार निषेध करा। तथा भीमपल्ली में दो कार्त्तिक मास हुये, तब सोमप्रभजी प्रथम कार्त्तिक को एकादशी को विहार कर गए। क्योंकि उनोंने जाना कि भीमपल्ली का भंग होगा। अरु भंग हुए पीछे जो रहे वो दुःखी हुए। सोमप्रभसूरि के करे ग्रंथ—जीतकल्पसूत्र, यत्राखिलेत्यादि स्तुतियां, जितेन येनेति स्तुतियां, श्रीमच्छर्म्मेत्यादि। तिनके करे बडे शिष्य—विमलप्रभसूरि, परमानंदसूरि, पद्मतिलकसूरि, अरु सोमविमलसूरि थे। जिस दिन पूर्वोक्त धर्मघोषसूरि दिवंगत हुए, तिस दिन ही १३५७ में सोमप्रभसूरिजीने विमलप्रभसूरि को

सूरिपद दिया, क्योंकि तिनोंने अपनी स्वल्प ही आयु जानी। सोमप्रभजी १३७३ के वर्ष में देवलोक गये।

४८. श्री सोमप्रभसूरि पट्टे श्री सोमतिलकसूरि हुए, तिनका १३५५ के माघ में जन्म, १३६९ में दीक्षा, १३७३ में सूरिपद, १४२४ में स्वर्गगमन, सर्वायु ६९ वर्ष की जाननी। तिनके करे ग्रंथ लिखते हैं:—

श्रीसोमतिलकसूरि

बृहन्नव्यक्षेत्रसमास सूत्र, सत्तरिसयठाणं, यत्राखिलजयवृषभस्तस्ताशर्म० प्रमुख की वृत्ति, तीर्थराज०, चतुरर्थास्तुतितद्वृत्ति, शुभभावानत० श्रीमद्वीरस्तुवेदित्यादिकमलबंधस्तवः शिवशिरसि नाभिसंभव० शैवेय० इत्यादि स्तवन। सोमतिलकसूरिने क्रम करके—१. पद्मतिलकसूरि, २. चन्द्रशेखरसूरि, ३. जयानंदसूरि, ४. देवसुंदरसूरि को सूरिपद दिया। तिन में पद्मतिलकसूरि सोमतिलकसूरि से पर्याय में बड़े थे, सो एक वर्ष जीते रहे, और बड़े वैरागी थे।

तथा श्री चंद्रशेखरसूरि विक्रम संवत् १३७३ में जन्मे, १३८५ में दीक्षा, १३९३ में सूरिपद। इनके करे ग्रन्थ—उषितभोजन कथा, यवराज ऋषि कथा, श्रीमत्स्तम्भकहारबन्धादिस्तवन है। जिनों के मन्त्रों सो मन्त्रित रज होवे, तिससे भी उपद्रव करनेवाले गृह, हरिका, दुर्द्धर मृगराज, श्वान, शुरिति दूर हो जाते थे। तथा जयानंदसूरि का विक्रम

संवत् १३८० में जन्म, १३९२ के आषाढ सुदि सातम शुक्रवार के दिन धारानगरी में व्रतग्रहण, १४२० में सूरिपद, १४४१ में स्वर्ग गये। तिनके करे ग्रंथ—१. थूलभद्रचरित्र, २. देवाः प्रभोयं प्रमुख स्तवन है।

४९. श्री सोमतिलकसूरि पट्टे देवसुन्दरसूरि हुए।

श्रीदेवसुन्दरसूरि

तिनका १३९६ वर्षे जन्म, १४०४ वर्षे दीक्षा, १४२० वर्षे अणहलपत्तन में सूरिपद। यह देवसुन्दरसूरि बड़ा योगाभ्यासी और मंत्र तंत्र की ऋद्धि का मन्दिर, स्थावर जंगम-विषापहारी, जलानल, व्याल अरु हरि-भय का तोड़नेवाला, अतीतानागत निमित्त का वेत्ता, राजमंत्री प्रमुखों का पूज्य। इस देवसुन्दरसूरि के शिष्य—१. ज्ञानसागरसूरि, २. कुलमंडनसूरि, ३. गुणरत्नसूरि, ४. सोमसुंदरसूरि, ५. साधुरत्नसूरि, यह पांच बड़े शिष्य थे।

तिन में श्री ज्ञानसागरजी का १४०५ में जन्म, १४१७ में दीक्षा, १४४१ में सूरिपद, १४६० में स्वर्गगमन। तिन के करे ग्रंथ—आवश्यक, ओघनिर्युक्त्यादि अनेक ग्रंथावचूरी, मुनिसुव्रत स्तवन, घनौघनवखण्ड पार्श्वनाथादि स्तवन।

दूसरे श्री कुलमंडनसूरिजी का १४०९ में जन्म, १४१७ में दीक्षा, १४४२ में सूरिपद, १४५५ में स्वर्गगमन। तिनों के करे ग्रंथ—सिद्धांतालापकोद्धार, विश्वश्रीधरेत्यादि, अष्टादशारचक्रबंधस्तव, गरीयो और हारस्तवादय है।

तीसरे श्री गुणरत्नसूरि, तिनके करे ग्रन्थ—१. क्रियारत्नसमुच्चय, २. षड्दर्शनसमुच्चय की बृहद्वृत्ति है।

चौथे साधुरत्नसूरिजी का करा ग्रंथ यतिजीतकल्पवृत्ति है।

५०. श्री देवसुंदरसूरि पट्टे सोमसुंदरसूरि हुए। तिनका १४३० में जन्म, १४३७ में दीक्षा, १४५० में वाचक पद, १४५७ में सूरिपद। जिस के अठारह सौ क्रियापात्र साधु परिवार को देख के कितनेक लिंगी पाखण्डियोंने पांच सौ रूपक दे के एक सहस्र पुरुषों को उनके वध करने वास्ते भेजा। तब वे जिस मकान में गुरु थे, तिस मकान में रात को छिपे रहे। जब मारने को उद्यत हुए तब चंद्रमा के उद्योत में श्री गुरुजीने रजोहरण से पूंज के जब पासा पलटा, तब देख के तिनके मन में ऐसा विचार आया कि यह नींद में भी क्षुद्र प्राणियों की दया करते हैं, और हम इनको मारने आए हैं, यह कितना अंतर है। तब मन में डरे और गुरु के पाओं में पड़ के अपराध क्षमा कराया। इनों के करे ग्रंथ—योगशास्त्र, उपदेशमाला, षडावश्यक, नवतत्त्वादि-बालावबोध, भाष्यावचूर्णी, कल्याणिकस्तोत्रादि। जिनों के शिष्य मुनिसुंदरसूरि, कृष्णसरस्वती बिरुदधारक जयसुन्दरसूरि, और महाविद्याविडम्बन टिप्पनक कारक भुवनसुन्दरसूरि, जिनके कंठ एकादशांगी सूत्रार्थ थे, और चौथा

श्रीसोमसुंदरसूरि

जिनसुन्दरसूरि, ये चार जिन के प्रतापी शिष्य हुए। जिनोंने राणकपुर में श्री धनकृत चौमुख विहार में ऋषभादि अनेक शत बिंब प्रतिष्ठित करे। यह विक्रम संवत् १४९९ में स्वर्ग गये।

श्रीसोमसुंदरसूरि

५१. श्री सोमसुंदरसूरि पट्टे मुनिसुंदरसूरि हुये, जिन्होंने अनेक प्रसाद, पद्मचक्र, षट्कारक, क्रियागुप्तक, अर्द्ध भ्रम, सर्वतोभद्र, मुरज, सिंहासन, अशोक, भेरी, समवसरण, सरोवर, अष्टमहाप्रातिहार्यादि नवीन त्रिशतिबंध तर्क प्रयोगादि अनेक चित्राक्षर, द्व्यक्षर, पंचवर्ग परिहारादि अनेक स्तवमयस्त्रिदशतरंगिणी नामा एक सौ आठ हाथ लम्बी पत्रिका लिख के श्री गुरु को भेजी। तथा चातुर्वेद्यविशारद्यनिधि, उपदेशरत्नाकर प्रमुख अनेक ग्रंथों का कर्त्ता। तथा जिनको श्री स्तंभतीर्थ में दफरखानने 'वादीगोकुलसंड' ऐसा कहा, तथा जिन्होंने दक्षिण में कालसरस्वती ऐसा बिरुद पाया। आठ वर्ष गणनायक, पीछे तीन वर्ष युगप्रधान पद लोगोंने प्रसिद्ध करा। एक सौ आठ वर्त्तुलिकानादोपलक्षक, बाल्यावस्था में भी एक सहस्र नवीन श्लोक कण्ठ कर लेते थे। तथा संतिकर नामा समहिम स्तवन करने से योगिनीकृत मरी का उपद्रव दूर करा। चौबीस वार विधि से सूरिमन्त्र को आराधा, तिनमें भी चौदह वार जिनके उपदेश से धारादि नगरियों के स्वामी पांच राजाओंने अपने अपने देशों में अमारी का ढिंढोरा फिराया। तथा सिरोही देश में सहस्रमल्लराजाने भी अमारी

प्रवृत्त करी तीड का उपद्रव टाला। इनका विक्रम संवत् १४३६ में जन्म, १४४३ में दीक्षा, १४६६ में वाचक पद, १४७८ में बत्तीस सहस्र रूपक खरच के वृद्ध नगरी के श्राद्ध देवराजने सूरि पद का महोत्सव करा, १५०३ में कार्त्तिकशुदि पडिवा के दिन स्वर्गवास हुआ।

श्री रत्नशेखर-सूरि

५२. श्री मुनिसुंदरसूरि पट्टे श्री रत्नशेखरसूरि हुए, तिनका १४५७ वर्षे जन्म, १४६३ वर्षे दीक्षा, १४८३ वर्षे पंडितपद, १४९३ वर्षे वाचक पद, १५०२ वर्षे सूरिपद, १५१७ वर्षे पोष वदि छट्ठ के दिन स्वर्गवास हुआ। जिनको स्तंभतीर्थ में बांबी नामा भट्टने बालसरस्वती नाम दिया। तिनके करे ग्रंथ—श्राद्ध प्रतिक्रमणवृत्ति, श्राद्धविधिसूत्रवृत्ति, लघुक्षेत्रसमास, तथा आचारप्रदीपादि अनेक ग्रंथ जान लेना। तथा जिन्हों के समय में लुंका नामक लिखारीने संवत् १५०८ में जिन-प्रतिमा का उत्थापक लुंका नामा मत चलाया और तिसके मत में वेष का धरनेवाला संवत् १५३३ में भाणा नामा प्रथम साधु हुआ है। इस मत की उत्पत्ति ऐसे हुई है।

लुंका मत की उत्पत्ति

गुजरात देश में अहमदाबाद में जाति का दशाश्रीमाली लुंका नामक लिखारी वसता था, सो ज्ञानजी यति के उपाश्रय में पुस्तक लिख कर उसकी आमदनी से गुजारा करता था। एक दिन एक पुस्तक को लिख रहा था, तिस में से सात

पत्रे विना लिखे छोड़ दिये । जब पुस्तकवालेने पुस्तक देखा, तब पूछा कि इस पुस्तक के सात पत्रे क्यों छोड़ दिये ? तब लुंका उसके साथ लड़ने लगा । तिस समय लोगोंने मार–पीट के उपाश्रय से बाहिर निकाल दिया, और नगर में कह दिया कि, इस से कोई जन भी पुस्तक न लिखावे, तब लुंका लाचार हो और क्रोध में भरकर अहमदाबाद से छैतालीस कोस के लगभग नींबडी ग्राम में चला गया ।

उस ग्राम में लुंके की बिरादरी का एक लखमसी नामा बनिया राज में कारभारी था । तिसके आगे बहुत रोया–पीटा । जब तिसने पूछा क्या हुआ ? तब लुंकेने कहा कि, मैं भगवान् का सच्चा मत कहने लगा था; श्रावकोंने मुझे पीटा । अब मैं तेरे पास आया हुँ, जेकर तू मेरा मददगार बने, तो मैं सच्चा मत प्रगट करूं । तब तिस लखमसीने कहा कि, नींबडी के राज्य में तू बेशक अपने सच्चे मत को प्रगट कर, मैं तेरा मददगार हूं, खाने पीने को भी दूंगा, और तेरा शास्त्र भी सुनूंगा । तब लुंका तो श्रीमहावीर के साधुओं की और जिनप्रतिमा की उत्थापना करने लगा, अरु कहने लगा कि, यह साधु नहीं हैं, भ्रष्टाचारी हैं, निर्दयी हैं । उलटा ज्ञान सुनाते हैं, इत्यादि जो आप के मनमानी सो निंदा करी । और शास्त्रों में से भी जिन जिन शास्त्रों में जिनप्रतिमा का ज़िकर नहीं था, उन शास्त्रों को सच्चा माना और जिन में थोड़ा सा जिनप्रतिमा का कथन था, तिन पाठों के अर्थ

कुयुक्ति से और के और सुनाने लगा, अरु कहने लगा कि, एकतीस शास्त्र सच्चे हैं। तिन में भी आवश्यकसूत्र को बिल्कुल बिगाड़ के लोगोंने स्वकपोलकल्पित और का और बना दिया है, क्योंकि आवश्यक में बहुत जगह जिन-प्रतिमा का अधिकार चलता है। पीछे एक दिन तिस लुंके को किसीने कहा कि बिना जैनदीक्षा के लिये शास्त्र पढ़ने का तो व्यवहार सूत्र में निषेध करा है, तो फिर तुम गृहस्थ होकर शास्त्र क्यों पढ़ते हो? तब लुंकेने कहा कि मैं व्यवहार सूत्र को ही सच्चा नहीं मानता हूं। इत्यादि प्ररूपणा पच्चीस वर्ष तक करी, परन्तु लुंके के उपदेश से साधु कोई भी न हुआ। जब सम्वत् १५३३ का साल आया तब एक भाणा नामा बनिये के बेटेने लुंके के उपदेश से वेष पहना, उसको ऋषि भूणा नाम दीना। तिसका शिष्य सम्वत् १५६८ में रूपजी हुआ, तिसका शिष्य सम्वत् १५७८ में जीवाजी ऋषि हुआ, तिसका शिष्य १५८७ में वृद्धवरसिंहजी हुआ, तिसका शिष्य सम्वत् १६०६ में वरसिंहजी हुआ, तिसका शिष्य सम्वत् १६४९ में जसवंतजी हुआ। इस लुंपक मत के तीन नाम हुए १. गुजराती, २. नागोरी, ३. उतराधी।

५३. श्री रत्नशेखरसूरि के पाट पर लक्ष्मीसागरसूरि हुए। तिनका १४६४ में जन्म, १४९० में दीक्षा, १५०१ में वाचक पद, १५०८ में सूरिपद।

५४. श्रीलक्ष्मीसागरसूरि पट्टे सुमतिसाधुसूरि हुआ।

श्री हेमविमलसूरि

५५. श्रीसुमतिसाधुसूरि पट्टे हेमविमलसूरि हुए। शिथिल साधुओं के वीच में भी रहे, तो भी जिनोंने साधु का आचार उलंघन न करा। तब कितनेक दिन पीछे बहुत साधुओंने शिथिलपना छोड़ा। तथा ऋषि हरगिरि, ऋषि श्रीपति, ऋषि गणपति प्रमुख बहुत जनोंने लुंपक मत छोड़ के श्री हेमविमलसूरि के पास दीक्षा लीनी। तिस अवसर में सम्वत् १५६२ में कडुये नामक एक बनियेने कडुया मत निकाला और तीन थूई मानी, अरु इस काल में साधु कोई भी नहीं दीखता, ऐसा पंथ निकाला। परन्तु इस ग्रन्थ के लिखनेवाले के समय में यह मत नहीं है, व्यवच्छेद हो गया है। तथा सम्वत् १५७० में लुंका मत से निकल के बीजा नामा वेषधरने बीजामत चलाया, जिस को लोक विजय गच्छ कहते हैं। तथा सम्वत् १५७२ में नागपुरीया तपगच्छ से निकल के उपाध्याय पार्श्वचन्द्रने अपने नाम का मत अर्थात् पासचंदीया मत चलाया।

आनन्दविमलसूरि और क्रियोद्धार

५६. श्रीहेमविमलसूरि पट्टे सुविहितमुनिचूड़ामणि कुमत-तम के मथने को सूर्यसमान आनन्दविमल-सूरि हुआ। तिसका विक्रम सम्वत् १५४७ में जन्म, १५५२ में दीक्षा, १५७० में सूरिपद। तथा आनन्दविमलसूरि के साधु शिथिला-

चारी भी थे, तो भी तिनके वैराग्यरंग का भंग नहीं हुआ। और जब उनोंने देखा कि जिनप्रतिमा के निषेधने वाले बहुत बढे, और शुद्ध साधु तुच्छमात्र रह गए, अरु उत्सूत्र-प्ररूपणरूप जल में भव्यजन बह चले; तब मन में दयादृष्टि ला के और अपने गुरु की आज्ञा से कितनेक संविग्न साधुओं को साथ ले कर सम्वत् १५८२ में शिथिलाचार परिहाररूप क्रियोद्धार करा। देश में विचर के बहुत भव्यजनों का उद्धार करा, और अनेक इभ्यों के पुत्रों को धन कुटुंब का मोह त्याग करा के दीक्षा दीनी। और सोरठ के राजा पासों खत लिखवाया कि जो जीते सो मेरे देश में रहे अरु जो हारे सो निकाला जावे। तूणसिंह नामा श्रावक जिसको पादशाहने बैठने वास्ते पालकी दी हुई थी, और बादशाह-ने जिसको मलिक श्रीनगदल विरुद दिया था, ऐसे तूणसिंह श्रावकने गुरु को विनति करी कि साधुओं को सोरठ देश में विहार कराओ। तब गुरुजीने गणि जगर्षि को साधुओं के साथ सोरठदेश में विहार कराया। तथा जेसलमेरादि मारवाड़ देश में जल दुर्लभ मिलता है, इस वास्ते पूर्व में सोमप्रभसूरिने साधुओं को मने कर दिया था कि मारवाड़ में न जाना। सो विहार कुमतिव्याप्त न हो जावे, तिन जीवों की अनुकंपा करके और लाभ जान कर साधुओं को आज्ञा दीनी कि तुम मारवाड़ में जा कर कुमतिमत को खण्डन करो।

तब लघु वय में शील करके स्थूलिभद्र समान वैराग्य-निधि निःस्पृहावधि जावजीव जघन्य से जघन्य भी षष्ठ अर्थात् दो दिन का उपवास करना। अरु पारने के दिन आचाम्ल करना। ऐसे अभिग्रहधारी महोपाध्याय विद्यासागर गणिने मारवाड़ देश में विहार करा। तिनोंने जैसलमेरादिकों में खरतरा को और मेवात देश में वीजामतियों को और मोखी आदिक में लुंकामतियों को प्रबोध के श्रावक बनाए सो आजतक प्रसिद्ध है। तथा पार्श्वचन्द्र के व्युद्ग्राहे वीरमगाम में पार्श्वचन्द्र के साथ वाद करके पार्श्वचंद्र को निरुत्तर करा। तब बहुत जनोंने जैनधर्म अंगीकार करा। ऐसे ही मालवे में अरु उज्जैनी प्रमुख देशों में फिर के धर्म की प्रवृत्ति करी, यह विद्यासागर उपाध्यायजीने तपगच्छ की फिर वृद्धि करी, और क्रियोद्धार करा। पीछे आनन्दविमलसूरिजी चौदह वर्ष तक जघन्य से भी नियत तप वर्ज के बेले से कम तप नहीं करा। तथा जिनोंने चतुर्थ, षष्ठ तप करके वीसस्थानक की आराधना करी। यह सम्वत् १५९६ के वर्ष नव दिन का अनशन करके स्वर्ग गए।

५७. श्रीआनन्दविमलसूरि के पाट पर विजयदानसूरि हुए।

श्रीविजयदानसूरि

जिनोंने स्तंभतीर्थ, अहमदाबादपत्तन, महीशानकगाम, गंधार बंदरादि में महा-महोत्सवपूर्वक अनेक जिनबिंबों की प्रतिष्ठा करी। तथा जिनों के उपदेश से बादशाह महम्मद

का मान्य मंत्री गलराजा दूसरा नाम मलिकश्रीनग-दलने श्रीशत्रुंजय का वड़ा संघ निकाला। तथा जिनोंके उपदेश से गंधार नगर के श्रावक रामजीने तथा अह-मदावादी साह कुंअरजी प्रमुखनें श्रीशत्रुंजय चौमुख अष्टापदादि जिनमंदिर वनवाए; गिरनार ऊपर जीर्ण-प्रासादोद्धार करा। तथा जिनके सूर्य की तरे उदय होने से वादीरूपी तारे अदृश्य हो गये। विजयदानसूरि सर्व सिद्धांत का पारंगामी, अखंडित प्रतापवाला तथा अप्रमत्त-पने करके श्री गौतममुनिवत् था। तथा गुर्जर, मालवक, कच्छ, मरुस्थली, कुंकणादि देशों में अप्रतिवद्ध विहार किया। महातपस्वी, जावजीव एक घृतविगय विना सर्व विगय का त्यागी था। जिनोंने एकादशांग सूत्र अनेक वार शुद्ध करे, और जिनोंने वहुत जीवों को धर्मप्राप्त करा। तिनका संवत् १५५३ में जामला में जन्म, १५६२ में दीक्षा, १५८७ में सूरिपद, १६२२ में वटपल्ली में अनशन करके स्वर्ग को प्राप्त हुए।

५८. श्री विजयदानसूरि पट्टे श्री हीरविजयसूरि हुआ, जिन का संवत् १५८३ में मार्गशीर्षशुदि नवमी

श्रीहीरविजयसूरि

के दिन प्राह्लादनपुर का वासी ऊके जाती सा० कूंरा भार्या नाथी गृहे जन्म हुआ, १५९६ में कार्त्तिकवदि दूज के दिन पत्तन नगर में दीक्षा, १६०७ में नारद-पुरी में श्रीऋषभदेव के मंदिर में पंडित पद, १६०८ में माघ-

शुक्लपंचमी के दिन नारदपुरी में श्रीवरकाणक पार्श्वनाथसनाथे नेमिजिन प्रासाद में वाचक पद, १६१० में सिरोही नगरे सूरि-पद। तथा जिनका सौभाग्य, वैराग्य, निःस्पृहतादि गुणों को वचनगोचर करने को बृहस्पति भी चतुर नहीं था। तथा श्री स्तंभतीर्थ में जिनों के रहने से श्रद्धावन्तों ने एक क्रोड़ रूपक प्रभावनादि धर्मकृत्यों में खरच करा। तथा जिनों के चरण विन्यास के प्रतिपद में दो मोहर अरु एक रूपक मोचन करा, और जिनों के आगे श्रद्धालुओंने मोतियों से साथिये करे, तथा जिनोंने सिरोही नगर में श्रीकुंथुनाथ बिंबों की प्रतिष्ठा करी, तथा नारदपुर में अनेक सहस्रबिंबों की प्रतिष्ठा करी। तथा जिनों के विहारादि में युगप्रधान अतिशय देखने में आता था। तथा अहमदावाद में लुंके मत का पूज्य ऋषि मेघजी नामा था, तिसने अपने लुंके मत को दुर्गति का हेतु जान कर रज की तरे आचार्य पद छोड़ के पच्चीस यतियों के साथ सकल राजाधिराज बादशाह श्री अकबर राजा की आज्ञापूर्वक बादशाही बाजिंत्र बजते हुये महामहोत्सव से श्री हीरविजयसूरिजी के पास दीक्षा लीनी। ऐसा किसी आचार्य के समय में नहीं हुआ था। तथा जिनों के उपदेश से अकबर बादशाहने अपने सर्व राज्य में एक वर्ष में छ महिने तक जीवहिंसा बन्द करी, जजिया छुडाया। इस का विशेष स्वरूप देखना होवे, तो हीरसौभाग्यकाव्य में से देख लेना। और संक्षेप से यहां भी लिखते हैं—

एकदा कदाचित् प्रधान पुरुषों के मुख से अकबरशाहनें हीरविजयसूरि के निरुपम शम, दम, संवेग,

अकबर राजा से भेट

वैराग्यादि गुण सुन के बादशाह अकबरने अपने नामांकित फरमान भेज के बहुमान पुरस्सर गंधार बंदर से आगरे के पास फतेपुर नगर में दर्शन करने को बुलाया। तब गुरुजी अनेक भव्यजीवों को उपदेश देते हुये, क्रम से विहार करते हुये विक्रम संवत् १६३९ में ज्येष्ठवदि त्रयोदशी के दिन तहां आए। तिस समय में बादशाह के अबुलफजल नामक शिरोमणि प्रधान द्वारा उपाध्याय श्री विमलहर्षगणि प्रमुख अनेक मुनियों से परिवरे हुए बादशाह को मिले। तिस अवसर में बादशाहने बड़ी खातर से अपनी सभा में बिठाया, और परमेश्वर का स्वरूप, गुरु का स्वरूप अरु धर्म का स्वरूप पूछा, और परमेश्वर कैसे प्राप्त होवे? इत्यादि धर्मविचार पूछा। तब श्री गुरुने मधुर वाणी से कहा कि जिस में अठारह दूषण न होवें, सो परमेश्वर है। तथा पंचमहाव्रतादि का धारक गुरु है, और आत्मा का शुद्ध स्वभाव जो ज्ञान–दर्शन–चारित्ररूप है, सो धर्म है। तब अकबरशाहने ऐसा धर्मोपदेश सुन के आगरा से अजमेर तक प्रतिकोश कुंवा मीनार सहित बनाए, और जीवहिंसा छोड़ के दयावान् हो गया। तब अकबरशाह अतीव तुष्टमान हो के कहने लगा कि, हे प्रभु! आप पुत्र, कलत्र, धन,

स्वजन, देहादि में भी ममत्व रहित हो, इस वास्ते आप को सोना, चांदी देना तो ठीक नहीं। परन्तु मेरे मकान में जैनमत के पुराने पुस्तक बहुत हैं, सो आप लीजिये, और मेरे ऊपर अनुग्रह करिये। जब बादशाह का बहुत आग्रह देखा, तब गुरुजीने सर्व पुस्तक ले के आगरा नगर के ज्ञानभण्डार में स्थापन कर दिए। तब एक प्रहर तक गुरुजी धर्मगोष्ठि करके बादशाह की आज्ञा ले के बड़े आडम्बर से ऊपाश्रय में आए। उस वक्त लोकों में जैन-मत की खूब प्रभावना हुई।

तिस वर्ष आगरे नगर में चौमासा करके सोरीपुर नगर में नेमिजिन की यात्रा वास्ते गये। तहां श्री ऋषभदेव और नेमिनाथजी की बडी और बहुत पुरानी, इन दोनों प्रतिमा और तत्काल के बनाए नेमिनाथ के चरणों की प्रतिष्ठा करी। फिर आगरे में शा० मानसिंह कल्याणमल्ल के बनवाये हुए चिंतामणि पार्श्वनाथादि बिंबों की प्रतिष्ठा करी, सो आज तक आगरे में चिंतामणि पार्श्वनाथ प्रसिद्ध है। पीछे गुरुजी फिर फतेपुर नगर में गए और अकबर बादशाह से मिले तहां एक प्रहर धर्मगोष्ठी धर्मोपदेश करा। तब बादशाह कहने लगा कि, मैंने दर्शन के वास्ते उत्कंठित हो कर आप को दूर देश से बुलाया है, और आप हम से कुछ भी नहीं लेते हैं। इस वास्ते आप को जो रुचे सो मेरे से मांगना चाहिये; जिस से मेरे मन का मनोरथ सफल होवे। तब सम्यग् विचार

करके गुरुजीने कहा कि तेरे सर्वराज्य में पर्युषणों के आठ दिनों में कोई जानवर न मारा जाय, और बंदिजन छोडे जाएं, मैं यह मांगना चाहता हूं। तब बादशाहने गुरु को निर्लोभ, शांत, दांत जान करके कहा कि आठ दिन तुमारी तर्फ से और चार दिन मेरी तर्फ से सर्व मिल कर बारह दिन तक अर्थात् भाद्रवावदि दशमी से लेकर भाद्रवाशुदि छठ तक कोई जानवर न मारा जायगा। पीछे बादशाहने सोने के हर्फो से लिखवा कर छ फरमान गुरुजी को दिए, छ फरमान की व्यक्ति ये हैं:—

अकबर महाराजाके जीवहिंसा निषेधक फरमान

प्रथम गुर्जरदेश का, दूसरा मालवे देश का, तीसरा अजमेर देश का, चौथा दिल्ली फतेपुर के देश का, पांचमा लाहौर मुलतान मण्डल का, और छठा गुरु के पास रखने का। पूर्वोक्त पांचों देश का साधारण फरमान तो तिन तिन देशों में भेज के अमारि पटह बजवा दिया। तब तो बादशाह की आज्ञा से जो नहीं भी जानते थे, ऐसे सर्व आर्य अनार्य कुल मंडप में दयारूपी वेलडी विस्तार को प्राप्त हो गई। और बंदिजन भी बादशाहने गुरु के पास से उठ कर तत्काल छोड़ दिये। और एक कोश की झील अर्थात् तालाव में आप जा कर बादशाहने अपने हाथसे नाना जाति के नाना देशवालोंने जो जो जानवर बादशाह को भेट करे हुए थे, वे सर्व छोड़ दिये। बादशाह से

गुरुजी अनेक वार मिले और अनेक जिनमन्दिर अरु उपाश्रयों के उपद्रव दूर करे। और जब श्री हीरविजयसूरि अपर देश को जाने लगे, तब बादशाह से ऐसा फरमान लिखवा ले गए। तिस की नकल मैं इस पुस्तक में लिखता हूं।

जलालुद्दीन महम्मद अकबर बादशाह ग़ाज़ी का फरमान

अकबर मोहर की वंशावली जलालुद्दीन अकबर बादशाह हुमायुं बादशाह का बेटा बाबरशाह का बिन–बेटा उमरशेख मिरज़ा का बेटा सुलतान अबुसईद का बेटा सुलतान महम्मदशाह का बेटा मीर शाह का बेटा अमीर तैमुरसाहिब किरान का बेटा

सबे मालवा तथा अकबराबाद, लाहौर, मुलतान, अहमदाबाद, अजमेर, मीरत, गुजरात, बंगाल, तथा और ज़ो मेरे ताबे के मुलक हैं, हाल तथा आयंदा मुतसद्दी, सूबा, करोरी तथा जगीरदार इन सबों को मालूम रहे कि, हमारा पूरा इरादा यह है कि सर्व रैयत का मन राजी रखना। क्योंकि रैयत का जो मन है, सो परमेश्वर की एक बडी

अमानत है। और विशेष करके वृद्ध अवस्था में मेरा यही इरादा है कि, मेरा भला वांछनेवाली रैयत सुखी रहे। तिस वास्ते हरेक धर्म के लोगों में से जो अच्छे विचारवाले परमेश्वर की भक्ति करने में अपनी उमर पूरी करते हैं, तिनको दूर दूर देशों से मैंने अपने पास बुलवाया। और तिनकी परीक्षा करके अपनी सोबत में रखता हूं, और तिनकी बातें सुन के मैं बहुत खुश होता हूं। तिस वास्ते हमारे सुनने में आया है कि, श्री हीरविजयसूरि जैन श्वेतांबर मत का आचार्य गुजरात के बंदरों में परमेश्वर की भक्ति करता है। मैंने तिनको अपने पास बुलवाया, और तिनकी मुलाकात करके हम बहुत खुश हुए। कितनेक दिन पीछे जब तिनोंने अपने वतन जाने की रजा मांगी, तब अरज करी कि गरीबपरवर की मरजी से ऐसा हुकुम होना चाहिये कि, सिद्धाचलजी, गिरनारजी, तारंगाजी, केसरियानाथजी, तथा आबुजी का पहाड़, जो गुजरात में हैं, तथा राजगृह के पांच पहाड़ तथा समेतशिखर उरफे पार्श्वनाथजी जो बंगाल के मुलक में हैं, तथा पहाड़ के हेठली सर्व मंदिरों की कोठियों तथा सर्व भक्ति करने की जगों में, तथा तीर्थ की जगों में और जो जैन श्वेतांबर धर्म की जगें मेरे तावे के सर्व मुलकों में जिस ठिकाने होवें, उन पहाडों तथा मंदिरों के आस-पास कोई भी आदमी किसी जानवर को न मारे, यह अरज

करी। अब ये बहुत दूर से हमारे पास आये हैं, और इन की अरज वाजवी और सच्ची है। यद्यपि यह अरज मुसलमानी मजहब—मत से विरुद्ध मालूम होती है, तो भी परमेश्वर के पिछाननेवाले आदमियों का यह दस्तूर होता है कि, कोई किसी के धर्म में दखल न देवे, और तिनोंके रिवाज बहाल रक्खे। इस वास्ते यह अरज मेरी समझ में सच्ची मालूम हुई, क्योंकि सर्व पहाड़ तथा पूजा की जगा बहुत अरसे से जैन श्वेतांबरी धर्मवालों की है, तिस वास्ते इनकी अरज कबूल करी गई कि, सिद्धाचल का पहाड़ तथा गिरनार का पहाड़, तथा तारंगाजी का पहाड़, तथा केशरियाजी का पहाड़ तथा आबु का पहाड़ जो गुजरात के मुल्क में है, तथा राजगृह के पांच पहाड़ तथा समेतशिखर उरफे पार्श्वनाथ का पहाड़, जो बंगाल के मुलक में है, ये सर्व पूजा की जगें, तथा पहाड़ नीचे तीर्थ की जगें, जो मेरे राज्य में हैं, चाहे किसी ठिकाने जैन श्वेतांबरी धर्म की जगें होवें, सो श्री हीरविजय जैनश्वेतांबरी आचार्य को देने में आई हैं, और इनों में अच्छी तरे से परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिये।

और एक बात यह भी याद रखनी चाहिये कि, ये जैनश्वेतांबरी धर्म के पहाड़ तथा पूजा की जगें तथा तीर्थ की

जगें, जो मैंने श्री हीरविजयसूरि आचार्य को दीनी हैं, परंतु हकीकत में ये पूर्वोक्त सर्व जगें जैनश्वेतांवर धर्मवालों की ही हैं। और जहां तक सूर्य से दिन रौशन रहे, तथा जहां तक चन्द्रमा से रात रोशन रहे, तहां तक इस फरमान का हुकम जैनश्वेतांवरी धर्म के लोकों में सूर्य तथा चन्द्रमा की तरे प्रकाशित रहे। और कोई आदमी तिनको हरकत न करे, और किसी आदमीने तिन पहाड़ों के ऊपर तथा तिनके नीचे तथा तिनके आसपास पूजा की जगे में, तथा तीर्थ की जगे में जानवर नहीं मारना, और इस हुकम ऊपर अमल करना, इस हुकम से फिरना नहीं। तथा नवीन सनद मांगनी नही—लिखा तारीख ७ मी माह उरदी बहेस मुताविक माह रवीयुल-अव्वल सन् ३७ जुलसी—यह अकबर बादशाह के दिये फरमान की नकल है।

तथा थानसिंह की क़राई अपर साह दूजणमल्ल की कराई श्री फतेपुर में अनेक लाख रुपैये लगा के बड़े महोत्सव से श्री जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा करी। प्रथम चातुर्मास आगरे में करा, दूसरा फतेपुर में करा, तीसरा भिराम नाम नगर में करा, चौथा फिर आगरें में करा। फिर वहां वादशाह की गोष्ठि वास्ते श्री शांतिचन्द्र उपाध्याय को छोड़ गये, और आप गुरुजी मेहडते, नागपुर चौमासा करके सिरोही नगर में गये। तहां नवीन चतुर्मुख प्रासाद में

श्री आदिनाथ के विंब तथा श्री अजितनाथ के प्रासाद में श्री अजितनाथ के विंबों की प्रतिष्ठा करके अर्बुदाचल में यात्रा करने को गये। और पीछे शांतिचंद्र उपाध्यायने नवीन कृपारस कोश नामा ग्रन्थ बना के अकवर वादशाह को सुनाया, तिसके सुनने से वादशाहने दया की वहुत वृद्धि करी। तिसका स्वरूप यह है—वादशाह के जन्म के दिन से एक मास अरु पर्युषणा के वारां दिन, तथा सर्व रविवार, तथा सर्वसंक्रांति के दिन, नवरोज का मास, सर्व ईद के दिन, तथा सर्व मिहर वासरा, सर्व सोफीअना दिन इत्यादि सब मिलकर एक वर्ष में छ महीने तक जीवहिंसा वंद कराई। तिसके फरमान लिखवाए, सो फरमान अबतक हमारे लोगों के पास हैं। इस में कुछ शंका नहीं कि श्री हीरविजयसूरिजीने जैनमत की वृद्धि और उन्नति बहुत करी। मुसलमानों को भी जिनोंने दयावान् करा। तथा स्थंभतीर्थ में संवत् १६४६ में स्थंभतीर्थवासी शा० तेजपाल के बनवाये मंदिर की प्रतिष्ठा करी।

५९. श्री हीरविजयसूरि पट्टे श्री विजयसेनसूरि हुए, इन का १६०४ में जन्म, १६१३ में माता पिता
श्री विजयसेनसूरि सहित दीक्षा, १६२६ में पंडित पद, १६२८ में उपाध्याय पद पूर्वक आचार्य पद, १६५२ में भट्टारक पद, १६७१ में स्थंभतीर्थ में स्वर्गवास। जिनके

वेखहरख, अरु परमानंद, इन दो शिष्योंने अकबर बादशाह के बेटे जहांगीर को धर्म सुना के प्रतिबोधा, और जहांगीर बादशाह से फरमान कराया। तिसकी नकल यह है।

नूरुद्दीन महम्मद
जहांगीर बादशाह
गाजी का फरमान

जहांगीर की मोहर में वंशावली
नूरुद्दीनमहम्मद जहांगीर बादशाह
अकबर बादशाह
हुमायुँ बादशाह
बाबर बादशाह
मिरजा उमरशेख
सुलतान अबुसईद
सुलतान मिरजामहम्मदशाह मीराशाह
अमीरतैमुर साहिब किरान

मेरे सर्व राज के विशेष करके गुजरात के सूबे, मोटे हाकिम तथा किफायत करनेवाले आमील तथा जागीरदार तथा करोरी तथा सर्व खातों के कारकुनों को मालूम होवे कि, जो परमेश्वर के पिछाननेवाले लोक हैं, तिनका यह दस्तूर है कि, हर एक मत तथा कौम के लोक इतना ही नहीं बल्कि सर्व जीव सुखी रहें। और अब वेखहरख तथा परमानंद यतियोंने दुनियां की रक्षा करनेवालों के

दरबार में आकर तखत के पास खडे रहनेवालों से अरज करी कि, विजयसेनसूरि तथा विजयदेवसूरि और जो अच्छी बुद्धिवाले लोक हैं, तिनकी हर एक जगे तथा हर एक शहर में देहरा अर्थात् जिनमंदिर तथा धर्मशाला हैं। तिनमें ये लोक ईश्वर की भक्ति करते हैं और प्रार्थना करते हैं, और वेखहरख तथा परमानंद यति की परमेश्वर को राजी रखने की हकीकत हमने अच्छी तरें से जान लीनी है। तिस वास्ते दुनियां को तावे करनेवाला हुकम हुआ कि किसी आदमीने इन जैन लोगों के मन्दिर तथा धर्मशाला में उतरना नहीं, तथा कारण विना अड़चन नहीं करनी। और जेकर ये लोग फिर से नवा बनाना चाहें, तो तिनको किसी तरें की मनाई तथा हरकत नहीं करनी। और तिनके साधुओं के उपाश्रयों में किसीने भी उतरना नहीं। और जो ये लोक सोरठ के मुलक में शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा करने वास्ते जावें, तो कोई भी आदमी तिन यात्रालुओं से कुछ न मांगे, लालच न करे।

और पूर्वोक्त वेखहरख अरु परमानंद यति की अरज तथा खाहिश ऊपर हुकम बड़ा भारी हुआ कि दर अठवाडे में रविवार तथा गुरुवार तथा दर महीने में शुदि पडिवा का रोज, तथा ईद के दिन, तथा दर वर्ष में नवरोज, तथा माह-शहरयुरमा जो हमारा मुबारक दिन है, तिनमें एक एक

वर्ष के हिसाब प्रमाण मेरे सर्व राज्य में किसी जीव की हिंसा न होवे। तथा शिकार करना तथा पक्षियों का पकड़ना, मारना, तथा मछलियों का मारना, ये बंद किया जावे, तथा इस तरे के और भी काम इन पूर्वोक्त दिनों में न होने चाहियें। ये बात जरूर है कि, पूर्वोक्त हुकम प्रमाण हमेशां चलाने की कोशिश करके मेरे फरमान के हुकम से कोई फिरे नहीं, विरुद्ध चले नहीं।

लिखा ता० माह सहरयुर में सन् ३ जुलसी। यह फरमान खानजहान् के चौपानियां तथा सेवक अलीतकी के वर्त्तमान पत्र में दाखल हुआ। तरजुमा करनेवाला मुनशी सैयद अबदुल्लामीयां साहिब उरैजी।

६०. श्री विजयसेनसूरि पट्टे विजयदेवसूरि हुये, तिन का १६३४ में जन्म, १६४३ में दीक्षा, १६५५ में पंडित पद, १६५६ में उपाध्याय पद पूर्वक आचार्य पद, और १६८१ में स्वर्ग हुआ।

६१. श्री विजयदेवसूरि पट्टे विजयसिंहसूरि हुये, तिन का १६४४ में जन्म, १६५४ में दीक्षा, १६७३ में वाचक पद, १६८२ में सूरि पद, और १७०८ में स्वर्ग हुआ।

६२. श्री विजयसिंह तथा विजयदेवसूरि पट्टे विजयप्रभसूरि हुये, तिनका १६७५ में जन्म, १६८९ में दीक्षा, १७०१

में पंडित पद, १७१० में उपाध्याय पद, १७१२ में भट्टारक पद, १७४९ में स्वर्गगमन हुआ, इनों के समय में मुहबंधे ढूंढियों का पंथ निकला, तिसकी उत्पत्ति ऐसे हैः—

ढूंढक मत की उत्पत्ति

सुरत नगर में वोहरा वीरजी साहुकार दशाश्रीमाली बसता था। तिसकी फूला नामे बालविधवा एक बेटी थी। तिसने एक लवजी नामा लड़का गोदी लिया। तिस लवजी को लुंके के उपाश्रय में पढ़ने वास्ते भेजा। तहां यतियों की संगत से वैराग्य उत्पन्न हुआ, और लुंके के यति बजरंगजी का शिष्य हुआ। तब दो वर्ष पीछे अपने गुरु को कहने लगा कि, जैसा शास्त्रों में साधु का आचार है, वैसा तुम क्यों नहीं पालते हो? तब गुरुने कहा कि, पंचमकाल में शास्त्रोक्त सर्व क्रिया नहीं हो सकती है। तब लवजीने कहा कि तुम भ्रष्टाचारी मेरे गुरु नहीं, मैं तो आप ही फिर से संयम लूंगा। इस तरें का क्लेश करके ऋषि लवजीने लुंके मत की गुरु शिक्षा छोड़ के अपने साथ दो यति और लिए। तिस में एक का नाम भूणा, दूसरे का नाम सुखजी था। इन तीनों ही ने अपने को आप ही दीक्षित करा, और मुंह के ऊपर कपडे की पट्टी बांधी। तब इन का नवीन वेष देख के गामों में किसी श्रावकने इन के रहने को जगा न दीनी। तब यह उजडे हुये मकानों में जा रहे। गुजरात देश

में फूटे टूटे मकान को 'ढूंढ' कहते हैं, इस वास्ते लोगोंने इनका नाम ढूंढिये रक्खा। इन तीनों को नवे मत चलाने में बडे बडे क्लेश भोगने पडे, परन्तु इनके त्याग को देख के कितनेक लुंके मती इन को मानने भी लगे। क्योंकि यह भेड़ चाल जगत् में प्रसिद्ध है, और भोले लोक तो ऊपर की छूछां फूफां देख के रागी हो जाते हैं। और गुजरात के बहुत लोक ऐसे हठाग्रही हैं कि जो बात पकड़ लेवें, उस बात को बहुत मुश्किल से छोड़ते हैं; इसी वास्ते जैनमत में कई फिरके गुजरात देश से निकले हैं।

पीछे तिस लवजी का शिष्य अहमदाबाद के कालुपुरे का वासी ओसवाल सोमजी हुआ, तिसने सूर्य की आतापना बहुत करी। तिसके चेलों के नाम—१. हरिदासजी, २. प्रेमजी, ३. गिरधरलालजी, ४. कानजी प्रमुख और लुंके-मती कुंवरजी के चेले भी इनके शिष्य बने। तिनके नाम—१. श्रीपाल, २. अमीपाल, ३. धर्मसी, ४ हरजी, ५. जीवाजी, ६. समरथ, ७. तोलुजी, ८. मोहनजी, ९. सदा-नंदजी, १०. गोधाजी थे। एक गुजरात का वासी धर्म-दास छींपीने मुण्डमुण्डा के मुख ऊपर पट्टी बांध के अपने आप को ढूंढिया साधु मशहूर किया। तिन में हरिदास का चेला वृंदावन हुआ, और वृंदावन का चेला भुवानीदास

अनुयायी शिष्य परिवार

हुआ, और भुवानीदास का चेला लाहौर का वासी मलूक-चन्द हुआ, मलूकचन्द का महासिंघ, और महासिंघ का कुशलराय और कुशलराय का छजमल और छजमल का रामलाल, और रामलाल के शिष्य रामरत्न और अमरसिंह, ये दोनों मैंने देखे हैं। अब इन दोनों के चेले वसंतराय और रामबख्श वगैरे जीते हैं। ये पंजाब देश में आज कल फिरते हैं।

और जीवाजी का चेला लालचंद हुआ, लालचंद का अमरसिंह हुआ, सो मारवाड़ देश में आया। तिसके परि-वार में नानकजी, जिनों के चेले अब अजमेर अरु कृष्णगढ के जिल्ले में बहुत रहते हैं। और श्यामिदास जिनों के परि-वार के कन्हीराम, लेखराज, तखतमल प्रमुख अब मारवाड़ में रहते हैं। और जो कोटेबूंदी में तथा मालवे में लालचंद गणेशजी, गोविन्दरामजी हुये। तथा अमीचंद, हुकमचंद, उदयचंद, फतेचंद, ज्ञानजी, छगन, मगन, देवकरण अरु पन्ना-लाल प्रमुख फिरते हैं, ये भी हरिदास के ही चेले हैं। तथा अमरसिंह का चेला दीपचंद, दीपचंद का चेला धर्मदास, धर्मदास का जोगराज, जोगराज का हजारीमल्ल, हजारीमल्ल का लालजीराम, लालजीराम का गंगाराम, गंगाराम का जीवन-मल्ल, जो इस वक्त दिल्ली के आसपास के गामों में फिरते हैं। तथा अमरसिंह के परिवार में धनजी, मनजी, नाथुराम

अरु ताराचंदादि हुये हैं, जिनों के चेले रतीराम, नंदलाल, हुये। नंदलाल का चेला रूपचंद, रूपचंद का विहारी, जो कि पंजाब में कोट, जगरावांदि गामों में रहते है। तथा कानजी और धर्मदास छींपी के चेले में से दीपचंद, गुपालजी प्रमुख ये लींबडी, वढ़वान, मोरबी, गोंडल, जैतपुर, राजकोट, अमरेली, धांगधरा प्रमुख झाला-वाड़, काठियावाड़, मछुकांठा प्रमुख देशो के गामों में फिरते रहते हैं। और धर्मदास छींपी का चेला धनाजी, धनाजी का मूदरजी, मूदरजी का रघुनाथजी, जैमलजी, गुमा-नचंद, दुर्गादास, कन्हीराम, रत्नचंद, हमीरमल्ल, कचौडी-मल्ल प्रमुख जो अब मारवाड़ देश में रहते हैं, सो प्रसिद्ध हैं।

और रघुनाथजी का चेला भीखमजी संवत् १८१८ में हुआ जिसने तेराहपंथ निकाला। तिसके चेले भार-मल, हेमजी, रायचंद, जीतमल्ल। जीतमल की गद्दी ऊपर अब मेघजी हैं। ये पट्टीबंध जितने साधु हैं। इनका पन्थ संवत् १७०९ के साल से चला है। और इनका मत जब से निकला है, तब से लेकर आजपर्यंत इन के मत में कोई विद्वान् नहीं हुआ है। क्योंकि ये लोक कहते हैं कि व्याकरण, कोश, काव्य, छंद, अलंकार पढने से तथा तर्कशास्त्र पढ़ने से बुद्धि मारी जाती है। इस बे इलमी के ही सबब से

ये लोक परस्पर बड़ा द्वेष रखते हैं, कई मनमानी कल्पित बातें बना लेते हैं; एक दूसरे के पग नहीं जमने देते, मन में जानते हैं कि मेरे गृहस्थ चेलों को वहका लेवेगा, इत्यादि। मेरे लिखने में किसी को शंका होवे तो मारवाड़ में जाकर प्रत्यक्ष देख लेवे। इन का आचार, व्यवहार, वेष, श्रद्धा, प्ररूपणा प्रमुख जो है, सो जैनमत के शास्त्रानुसार नहीं है। और दूसरे मतोंवाले भी जो वहुत जैनमत को बूरा जानते हैं, वो इन ढूंढियों ही के आहार व्यवहार देखने से जानते हैं। परन्तु यह लोक तो सर्व जैनमत से विपरीत चलनेवाले है।

६३. श्री विजयप्रभसूरि पट्टे श्री विजयरत्नसूरि हुए।

६४. श्रीविजयरत्नसूरि पाटे श्री विजयक्षमासूरि हुए।

६५. श्री विजयक्षमासूरि पाटे श्री विजयदयासूरि हुए।

६६. श्री विजयदयासूरि पाटे श्री विजयधर्मसूरि हुए।

६७. श्री विजयधर्मसूरि पाटे श्री जिनेंद्रसूरि हुए।

६८. श्री जिनेंद्रसूरि पाटे श्रीदेवेन्द्रसूरि हुए।

६९. श्री देवेंद्रसूरि पाटे श्री विजयधरणेंद्रसूरि जो कि इस वर्त्तमानकाल में विचरते हैं।

तथा इकसठमे पाटे जो श्री विजयसिंहसूरि थे तिनके शिष्य श्री सत्यविजयगणि हुए

श्रीयशोविजयजी उपाध्याय

और महोपाध्याय षट्शास्त्रवेत्ता, न्याय-विशारद-विरुदधारक, महावैयाकरण, तार्किक-शिरोमणि, बुद्धि का समुद्र महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि, इन दोनोंने विजयसिंहसूरि की आज्ञा लेके गच्छ में क्रियाशिथिल साधुओं को देख के और ढूंढक मत के पाखण्ड अंधकार के दूर करने वास्ते क्रिया का उद्धार करा, और जिनोंने काशी के पंडितों से जयपताका का झंडा पाया, और गुजरात प्रमुख देशों से प्रतिमा–उत्थापक कुलिंगियों के मतरूप अंधकार को दूर करा, और जिनों के रचे हुए—अध्यात्मसार, स्याद्वादकल्पलता, शास्त्रवार्तासमुच्चय की वृत्ति, मल्लवादीसूरिकृत-नयचक्र-उद्धारादि अनेक बडे बडे एक सौ ग्रन्थ हैं।

श्रीसत्यविजय गणिजी क्रिया का उद्धार करके आनंदघनजी के साथ बहुत वर्ष लग वनवास में रहे,

श्रीसत्यविजय गणि

और बडी तपस्या योगाभ्यासादि करा। जब बहुत वृद्ध हो गए, जंघा में चलने का बल न रहा, तब अणहलपट्टन में जा रहे। तिनके उपदेश से तिनके दो शिष्य हुए—१. गणि कर्पूरविजयजी पंडित और २ पंडित कुशलविजयजी। तिन में गणि कर्पूरविजयजीने तो

अनेक अर्हंत बिंबों की प्रतिष्ठा करी, और अनेक ग्राम नगरों में धर्म की वृद्धि करी, बडे प्रभावक हुए। गणि कर्पूरविजयजी के दो शिष्य हुए—१. पण्डित वृद्धिविजय गणि और २. पण्डित क्षमाविजय गणि।

श्रीक्षमाविजय गणि की शिष्यपरम्परा

पण्डित क्षमाविजय गणि के शिष्य पण्डित जिनविजय गणि, तिनका शिष्य पण्डित उत्तमविजय गणि, तिनका शिष्य पण्डित पद्मविजय गणि, तिनका शिष्य पण्डित रूपविजय गणि, तिनका शिष्य पंडित कीर्तिविजय गणि, तिनका शिष्य पंडित कस्तूरविजय गणि, तिनका शिष्य मुनि मणिविजय गणि, तिनका शिष्य मुनि बुद्धिविजय गणि, तिनका शिष्य पंडित मुक्तिविजय गणि, तिनोंके हाथ का दीक्षित लघु गुरुभ्राता इस जैनतत्त्वादर्श ग्रन्थ के लिखनेवाला मुनि आत्माराम—आनंदविजय नामक है।

लेखककालीन मत

अब इस ग्रन्थ के लिखनेवाले के समय में इतने नवीन पंथ निकले हैं, सो लिखते हैं—गुजरात देश में स्वामीनारायण का पंथ, और बंगाल देश में ब्रह्मसमाजियों का पंथ। और पंजाब देश में लुधियाने से दश कोस के अन्तरे एक भयणी नामा गांम है, तिस में रहनेवाला जाति का तरखान सिक्ख, तिस

के उपदेश से कूका नामक पंथ, और कोईल में मौलवी अहमदशाह का नवीन फिरका, तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती का निकाला आर्यसमाज का पंथ, इत्यादि अनेक मत पुराने मतों को छोड़ के निकाले हैं। क्योंकि इनों ने अपनी बुद्धि समान प्राचीनों के करे पुस्तक तथा वेदार्थों को नहीं समझा। जेकर इसी तरे नवीन नवीन मत निकलते रहें तो कुछ एक दिन में ब्राह्मणादि मताधिकारियों की रोजी मारी जायगी, और धर्म अरु नियम किसी किसी का कायम रहेगा।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनंदविजय–आतमारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे द्वादशः परिच्छेदः संपूर्णः

शब्दकोष

कठिन, प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

अ

अंगलूहना पा० जिनप्रतिमा को पूंछने का वस्त्र

अंजली वांध कर हाथ जोड़ कर

अंब पं० आम

अगुवा-अगाडी करे आगे करे

अचित्त पा० जीवरहित

अटकाव रुकावट

अडिगपने निश्चलता से

अदह्यधर्मी जिसे अग्नि जला नहीं सकती

अनचिन्त्या जिस का पहिले विचार न किया हो

अनतिक्रमणीय उल्लङ्घन के अयोग्य

अनाचीर्ण त्यागने योग्य

अन्तेउर महल

अपरिकर्मित शृङ्गार आदि से रहित

अफ्यून अफीम

अवन्धि वन्धन रहित

अमारी ढंढेरा हिंसा न करने की घोषणा करना

अलसुपलसु जैसे तैसे

अशक्यपरिहार जिसे दूर नहीं कर सकते

आ

आइवाइ कहना सुनना (चकित हो०)

आगर वन

आगार छूट

आचीर्ण ग्रहण करने योग्य

आरात्रिक आरती

आलेखन रचना, वनाना

आलोचे-आलोवे पश्चात्ताप-प्रायश्चित करे

आवता आनेवाला, भावी

इ

इजारे ठेका, किराया

ई

ईंटपचावा आवा

ईषत् थोड़ा

उ

उघराणी गु० उगराही

उघाड़ा गु० खुला

उच्चार पा० विष्ठा

उतावल गु० जल्दी

उलांभा पं० उपालम्भ

ऊ

ऊंडा गु० गहरा

ऊंबियां गेहूं के भुने हुए सिट्टे

ए

एक वारगी एक ही वार

ओ

ओसामण गु० दाल का गर्म किया हुआ पानी।

क

कंखा पा० आकांक्षा

कंडे पं० कांटे

कमोवेश कमती वढ़ती, थोड़ा बहुत

कर्णिका कमल का मध्य भाग

कर हाथ

करार नियत किया हुआ समय

करावने कराने

कल्पना उचित-योग्य होना

काजा गु० कूडा कचरा

कार्मण मन्त्र, जादू

कूड़ी झूठी

कौल प्रतिज्ञा

ख

खरची भाता आदि

खाड़ा गु० गढ़ा

खेल खंखार थूक आदि

खोटी बूरी

ग

गंभारा पा० जिस कमरे में जिन-

प्रतिमा विराजमान रहती है।

गरज ज़रूरत

गर्हणा निन्दा

गारत नष्ट

गिलास गीलापन

गुमड़ा गु० फोड़ा

गुरां पं० गुरु

गोप रक्षक, त्राता

घ

घणे गु० बहुत से

च

चानणे प्रकाश में

चौला पा० चार व्रत

छ

छाना गु० छिपा

छेकड़ पं० आखीर

छेडे गु० आखीर में

ज

जने पं० जन, व्यक्ति

जमणा गु० दायां

जयणा—यतना पा० सावधानता

जल्द जल्दी, शीघ्र

जीवना पं० जीना

ट

टटरी खोपड़ी

टिकी हुई स्थिर

टोली समूह

ड

डाकन पं० डाकिन, चुडैल

डाभ दर्भ, घास विशेष

ढ

ढब आदत

ढोवे अर्पण करे

ढौकन भेट, अर्पण

त

तगादा मांग

तजना छोडना

ततीरी धार

तदभावे उसके अभाव में

तस्कर चोर

तावे आधीन

तितना उतना

तेला पा० तीन व्रत

द

दर रोज़ गु० प्रतिदिन

दाडिम अनार

दुरन्त दुःख से जिस का अंत होवे

दुरुत्तार कठिनता से जो तरा जावे

दीसे दीखे

देहरा, देहरासर मन्दिर

न

न्याति ज्ञाति

निदान कारण

निमित्तिया निमित्त का जानने-वाला, ज्योतिषी

निर्यामक खवैया, पार लंघानेवाले

निलाड मस्तक

निस्बत अपेक्षा

नैषेधिकीकरण पा० पूजा से पूर्व गृहकार्य आदि का त्यागना

प

पंचौला पांच व्रत

पहुंक भुने हुए चावल

पग पैर

पडवा प्रतिपदा

पराहुणा अतिथि, महेमान

परिठवे पा० त्यागे

परिवरे हुए धिरे हुए

पावडी खडाऊं

पासों पास से

पुड़ तह

पुद्गलानंदीपना विषयानंदी होना

पुरीषोत्सर्ग मल का त्याग

पौरुषी, पोरसी प्रहर का व्रत

प्रत्यनीक विरोधी

प्रतिक्रमण, पडिक्कमण रागादि के वश हो कर शुभ योग से गिर कर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करना, यह प्रतिक्रमण है। इस के लिये की जानेवाली क्रिया विशेष

भी प्रतिक्रमण है।

फ

फजीता अपमान
फटे नहीं अलग न हो
फरमान आज्ञा
फलाना, फलाने पं० अमुक

ब

बंगड़ीकार बंगडी बनानेवाला
बडेरा वृद्ध पुरुष
बधिया खस्सी
बलद् पं० बैल
बहाल कायम
बहुमोली बहुत मूल्यवाली
बिडालनेत्री बिल्ली की तरह आंखवाली
बीड दांतो के समुदाय
बे इलमी मूर्खता
बेला पा० दो व्रत

भ

भंडी निन्दा
भर्तार स्वामी, पति
भवाभिनंदी संसार को बढ़ानेवाला
भांग्या हुआ तोडा-फोडा हुआ
भांडे बर्तन
भाखना भाषण करना, कहना
भाजन पात्र, बर्तन
भिल्लपल्ली भीलों का गांव

म

मंजी पं० चारपाई
मढ़ा के चढ़ा कर
मण्डाण समारोह
मथनेवाली नष्ट करनेवाली
मद्यप मदिरा पीनेवाला शराबी
मनशा इच्छा
मनसूबा इरादा
माणस गु० मनुष्य, आदमी
मांदा गु० रोगी
मापे से परिमाण से
माहण ब्राह्मण
मुकरना पं० नकारना, अस्वीकार करना
मुखरता वाचालता, अधिक बोलना

मूजब अनुसार

र

रजा गु० छुट्टी

रसवती रसोई, भोजन सामग्री

राजी प्रसन्न

रीते रिक्त, खाली

रुड़हाते हो गिराते हो

रैयत प्रजा

रौला शोर

ल

लंघा कर बिता कर

लांच घूस, रिश्वत

लूहे पूंछे

लेखे हिसाब

ले लीजो गु० ले लेना

लौल्य लालच

व

वधना बढना

वहना बहना, चलना, धारण करना

वांकी टेढी

वाचना पढना

वाजबी उचित

वाम, वामा बायां

वासन वर्तन, पात्र

व्यामोह सन्देह

विचली पं० बीच को

विछड़ के बिछुड कर

विरति पा० संयम

विसरना भूलना

विसवा भाग विशेष

विसारना भुलाना

व्रीहि चावल

वेला समय

स

संक्रमण हो जाता है भ्रष्ट हो जाता है

संभ्रम संयुक्त उत्साह युक्त

संसार जलधि संसारसमुद्र

सचित्त जीव सहित

सबब कारण

समराना संवारना, साफ करना

समरो ठीक करो

सरता नहीं चलता नहीं

सरणा पा० शरण

सरसाई सरसता, नमी

साख साक्षी, गवाही

साढ़पोरसी डेढ प्रहर का प्रत्या-ख्यान

सार्थवाह सारथि, रथ चलानेवाला

सावद्य पापयुक्त

सिंघाण नाक का मल

सीदते नष्ट होते, पतित होते

सुखाली आसान, सुविधाजनक

सुरती बुद्धि

सेकना सेंकना, गरम करना

सेती से

सौकन सौतिन, पति की दूसरी स्त्री

ह

हरकत नुकशान, बाधा

हाथ के आवर्त से हाथ पर गिनने से

हाट दुकान

हाड हड्डी

हाले चाले हिले जुले

हिकमत चतुरता

हेठले निचले

हेय त्याज्य, छोडने योग्य

जैन पारिभाषिक शब्द

परिशिष्ट नं० २–घ

[पृ० ३३]

वेद के कल्पित अर्थ

वर्त्तमान आर्यसमाज के जन्मदाता स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने वेदमंत्रों के अर्थ करने में जो खैंचातानी की है, और मंत्रों के क्रम तथा पूर्वोत्तर संबन्ध की अवहेलना करते हुए उनके साथ जो अन्याय किया है, उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना बहुत कठिन है। एवं कहीं कहीं पर तो वेदमंत्रों के अर्थ का अनर्थ करते हुए आपने मनुष्यत्व का भी बड़ी निर्दयता के साथ घात किया है। उदाहरणार्थ इस समय सिर्फ दो मंत्र उद्धृत किये जाते हैं।

नियोग के सिद्धांत को वैदिक सिद्ध करने के लिये आपने ऋग्वेदादि–भाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश में कई एक वेदमन्त्रों का उल्लेख किया है, उनमें से इस समय केवल—

(१) इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥
[ऋ० मं० १०, सू० ८५, मं० ४५]

(२) अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।
[ऋ० मं० १०, सू० १०, मं० १०]

इन दो मंत्रों के अर्थ पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१—(इमां) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्र! पते! ऐश्वर्ययुक्त! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र और सौभाग्य युक्त कर। हे वीर्यप्रद! (दशास्यां पुत्रा-नाधेहि) पुरुष के प्रति वेद की आज्ञा है कि इस विवाहित या नियोजित स्त्री में दश संतान पर्यंत उत्पन्न कर, अधिक नहीं। (पतिमेकादशं कृधि) तथा हे स्त्री! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर। अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दश पर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं*।

इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष के साथ संतानों के अभाव में नियोग करे, तथा दूसरे के भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ कर ले, इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है।

[ऋ० भा० भू० पृ० २३२, सं० १९८५]

---

* हे (मिढ्व–इन्द्र) वीर्य सेचने में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष, तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्य युक्त कर। विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारवीं स्त्री को मान। हे स्त्री! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर, ग्यारवें पति को समझ।

[सत्या० सं० ४, पृ० ६९–७०, सं० १९९२]

२—जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (ईच्छस्व) इच्छा कर। क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी।

इन दोनों मंत्रों का स्वामीजीने जो अर्थ किया है, तथा उसी अर्थ के आधार पर ऊपर दी हुई जो स्वतंत्र व्याख्या की है, उससे संसार भर का शायद ही कोई तटस्थ विद्वान् सहमत हो सके। अस्तु, अब हम स्वयं इन मन्त्रों के वास्तविक—यथार्थ अर्थ के विषय में कुछ भी न कहते हुए आर्य समाज के ही एक प्रतिष्ठित विद्वान् के द्वारा किये गये उक्त दोनों मन्त्रों का अर्थ यहां पर उद्धृत कर देते हैं, जिस से कि पाठकों को सत्यासत्य के निर्णय करने में अधिक सुविधा हो।

(१) [इन्द्रमिढ्वः] हे परमैश्वर्य सम्पन्न परमैश्वर्यदाता परमात्मन्! हे अनन्त सम्पत्तियों को प्रजाओं में सींचनेवाले परमपिता जगदीश! [त्वं इमां सुपुत्रां सुभगां कृणु] तू इस वधू को सुपुत्रवती और सौभाग्यवती बना [अस्यां दश पुत्रान् आधेहि] इसके गर्भ में दश पुत्र स्थापित कर, [पतिमेकादशं कृधि] पति को ग्यारवें कर अर्थात् इस स्त्री के दश उत्कृष्ट सन्तान और ग्यारवां पति जैसे होय, वैसा उपाय कर।

[वैदिक इतिहासार्थनिर्णय पृ० ४१२]

(२) स्वामीजीने नं० २ के मन्त्र का सिर्फ चतुर्थ चरण ही लिख कर उसका मनमाना अर्थ करके वेदों को लांछित करने का दुःसाहस किया है। इस लिये सम्पूर्ण मन्त्र और उसका वैदिक इतिहासार्थनिर्णय में किया हुआ अर्थ नीचे दिया जाता है। तथाहि—

आघाता गच्छानुत्तरा युगानि–
यत्र यामयः कृण्वन्नयामि।
उपवर्बृहि वृषभाय बाहु–
मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ १० ॥

यम कहता है [ता + उत्तरा + युगानि + आ + गच्छान् + घ] वे उत्तर युग आवेंगे [यत्र यामयः अयामि कृण्वन्] जब बहनें भ्राता को अयामि अर्थात् पति बनावेंगी [सुभगे मत् अन्यं पतिं इच्छस्व] इस कारण ए यामि! तूं मुझ को त्याग, अन्य पति की इच्छा कर तब [वृषभाय बाहु उपवर्बृहि] उस स्वामी के लिये निज बाहु का उपबर्हण अर्थात् तकिया बना ॥ १० ॥ [पृ० ४०७]

नोट–वैदिक इतिहासार्थनिर्णय आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की आज्ञानुसार ईस्वी सन् १९०९ में गुरुकुल कांगडी से प्रकाशित हुआ है। इस के रचयित्ता आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित शिवशंकर शर्म्मा काव्यतीर्थ है।

यह उक्त दोनों मन्त्रों का अर्थ एक आर्यसमाजी विद्वान् का किया हुआ है। इस पर अधिक टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं विचार लें कि इन दोनों मन्त्रों में ग्यारह पुरुष तक के साथ व्यभिचार करने और सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर पुरुष अपनी स्त्री को अन्य पुरुष के साथ समागम करने का आदेश दे, यह कहां से आया ? बस इसी प्रकार की स्वामीजी की अन्य वेदमन्त्रों की व्याख्या है। अन्त में भाई बहन के संवाद को पति पत्नी के रूप में ग्रहण करनेवाले स्वामीजी के विषय में आचार्य श्री हेमचंद्र की उक्ति में हम इतना ही कहेंगे कि—

तुरंगशृंगाण्युपपादयद्भ्यो,
नमः परेभ्यो नवपंडितेभ्यः।

जैनतत्त्वादर्श में आए हुए ग्रंथ

अथर्व वेद
अध्यात्मकल्पद्रुम
अनुयोगद्वार
अनेकान्तजयपताका
आचारांग
आचारदिनकर
आचारप्रदीप
आवश्यक सूत्र
आवश्यक-निर्युक्ति-टीका
आप्तमीमांसा
आत्रेयतंत्र (महाभारत)
ईशावास्योपनिषद्
उत्तराध्ययन
उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति
उपदेशतरंगिणी
उपदेशमाला
उववाई
ऋग्वेद २९६

ओघनिर्युक्ति
कन्दली
कर्मग्रन्थ
कल्पसूत्र
कल्पवृत्ति
कल्पभाष्य
कल्याणमन्दिर
कामंदकीय नीतिशास्त्र
कामशास्त्र
किरणावली
गच्छप्रत्याख्यानभाष्य
गंधहस्तीभाष्य
चन्द्रप्रज्ञप्ति
चैत्यवन्दनभाष्य
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
जीतकल्पसूत्र
जीवानुशासन
जीवसमासप्रकरण

व्योममतीटीका
शंकरदिग्विजय
शत्रुञ्जयमाहात्म्य
शाबरभाष्य
शास्त्रवार्तासमुच्चय
शीलतरङ्गिणी
श्राद्धजीतकल्पसूत्र
श्राद्धदिनकृत्य
श्राद्धविधि
श्रावककौमुदी
श्रावकदिनकृत्य
श्रावकप्रज्ञप्ति
श्रावकविधि
षड्दर्शनसमुच्चय
षड्दर्शन की बड़ी टीका
षष्ठितन्त्र
षोडशक
संघयण
संघाचारवृत्ति
सम्यक्त्वप्रकरण

सम्यक्त्वपच्चीसी
समरादित्यचरित्र
समवायाङ्ग
सम्मतितर्क
सांख्यसप्तति
सामवेद
सिद्धपंचाशिका
सिद्धप्राभृत
सिद्धहेमव्याकरण
सूत्रकृताङ्ग सिद्धान्त
सूर्यप्रज्ञप्ति
सोमनीति
स्कंदपुराण
स्थानांग सूत्र
स्याद्वादकल्पलता
स्याद्वादमञ्जरी
स्याद्वादरत्नाकर
स्याद्वादरत्नाकरावतारिका
स्वप्नचिन्तामणि

आचार्यश्री के ग्रन्थों की सूची
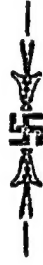
नं०	नाम पुस्तक	आरम्भसंवत् और स्थान		समाप्तिसंवत् और स्थान	
१	नवतत्त्व	१९२४	बिनौली	१९२५	बड़ौत
२	जैनतत्त्वादर्श	१९३७	गुजरांवाला	१९३८	होशियारपुर
३	अज्ञानतिमिरभास्कर	१९३९	अम्बाला	१९४२	खंभात
४	सम्यक्त्वशल्योद्धार	१९४१	अहमदाबाद	१९४१	अहमदाबाद
५	जैनमतवृक्ष	१९४२	सूरत	१९४२	सूरत
६	चतुर्थस्तुतिनिर्णय भाग प्रथम	१९४४	राधनपुर	१९४४	राधनपुर
७	प्रश्नोत्तरावली	१९४५	पालनपुर	१९४५	पालनपुर
८	चतुर्थस्तुतिनिर्णय भाग दूसरा	१९४८	पट्टी	१९४८	पट्टी
९	चिकागोप्रश्नोत्तर	१९४९	अमृतसर	१९४९	अमृतसर
१०	तत्त्वनिर्णयप्रासाद	१९५१	जीरा	१९५३	गुजरांवाला
११	ईसाईमतसमीक्षा				
१२	जैनधर्म का स्वरूप				

पूजायें तथा भजन *

१३	आत्मबावनी	१९२७	बिनौली	१९२७	बिनौली
१४	स्तवनावली	१९३०	अम्बाला	१९३०	अम्बाला
१५	सत्तरभेदी पूजा	१९२९	अम्बाला	१९३९	अम्बाला
१६	वीशस्थानक पूजा	१९४०	बीकानेर	१९४०	बीकानेर
१७	अष्टप्रकारी पूजा	१९४३	पालीताना	१९४३	पालीताना
१८	नवपद पूजा	१९४८	पट्टी	१९४८	पट्टी
१९	स्नात्र पूजा	१९५०	जंडियालागुरु	१९५०	जंडियालागुरु

* पूजायें व भजन "पूजासंग्रह" "आत्मस्तवनावली" आदि के नाम से छप चुकी हैं।